

पंजाब-विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-ग्रन्थ

सत-काव्य का दार्शनिक विश्लेषण

(मुख्यतः गुरु नानक-काव्य के सन्दर्भ में)

डॉ० मनमोहन सहगल

भारत-लेखक भवन, चन्हीगढ़-२

○ प्रकाशक	भारतेन्दु-भवन, सीक्टर १५ ए, बंबीगढ़-२
○ मुद्रक	आगरा फाइन आर्ट प्रेस राजा-की-मण्डी बावरा-२
○ प्रथम संस्करण	१९६३
○ सुम्प	१२५

Sant Kavya Ka Darshnik Viskleshan
 (A Philosophical Study of Sant Poetry)

By

Dr Manmohan Sahgal, M. A. Ph. D

Price 12 50

समर्पण

प्रातः-स्मरणोप पुण्य पिता भी की पुण्य-स्मृति में—

प्राक्कथन

भारत की महान वैदिक संस्कृति तथा समय-समय पर एक निकम्बत वाले निम्न-निम्न भक्ति आन्दोलनों के प्रतापानुसृत्य युग-काल की परिस्थितियों के सधि में डलकर, समय की पुकार पर आधारित नव-निर्माण की एक स्वतन्त्र-परम्परा मध्य काल में संत-भारा के नाम से प्रसिद्ध हुई। विदेशी और स्वदेशी (शाहजान-समान) अत्याचारों से पीड़ित सामान्य जन-समाज की उगमगाती मेंमा को पतवार मिल गई। हिन्दू और मुसलमानों में सामन्त-स्व स्थापित करने तथा तत्कालीन विपक्ष-समाज को जनैकेन्द्रवाद के गोरख-बन्धे से निकाल कर सत्यनाम' पर अक्षय्यित होने की प्रेरणा देने के लिये संतभारा के प्रमल आरम्भ हुए। संसार से बराप्य से (वि संसार त्यागते महीं से केवल मोह-नामा के बन्धनों की उपेक्षा करते से) परम-सत्य क अनुसार में अपनी सर्वोच्च शक्तिर्षी अर्पण करने वाले उन्नत-मता व्यक्ति जो सच्चे ज्ञान की श्योति के प्रकाश में परब्रह्म की वास्तविकता की कामकारी प्राप्त करते से संत कहलाते से। संसृति उनके लिए उत्प होते हुए भी सिप्या थी क्योंकि से उत जाकर (पाया) को पहचानते से जो जाहूगर के तमासे की भाँति मूठ में भी सच का रूप दिखा कर हमें बाहूबाही को मजबूर कर देता है। जन-साधारण को श्रमार्ग पर सवाने और तप्य ज्ञान देने के लिये संतजन सिद्धित और मौखिक रूप में उपदेश देते से कथा-कीर्तन भी करते थ और प्राय भोगों में आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को अपना में कटिबद्ध रहते से। उनके सिद्धित उपदेश तत्कालीन 'हिन्दी' में आज भी अमूम्य साहित्य के रूप में विद्यमान हैं।

इस संत-परम्परा में पंजाब के भक्ति-आंदोलन का विद्यष्ट स्थान है। आंदोलन के प्रवर्तक मुख नाटक सेव से। उन्होंने परग्रही शरी के उत्तरार्ध में मनुष्य की मानुषिक-वृत्तियों को न केवल शसूत ही किया प्रसूत उन्हें विकास का सुमपतर प्रदान करने के लिये अपनी स्वतन्त्र-विचारधारा पर एक सुम्बन्धित और परिभाषित परम्परा की नीव रखी। यह परम्परा एक के पश्चात् दूसरा इस महाम संतों तक बढपर रही और अन्ततः समय की बदलर बाढ़ों और अह्राय भागों के कारण अपनी

राग-रागिनियों का नाम शब्दों की क्रम संख्या पद का नम्बर और ग्रन्थ-साहित्य के उपर्युक्त संस्करण की पृष्-संख्या मात्र द दी गई है। वहाँ तुमना या प्रनाय रूप म गुरु अंगण गुरु अमरवास गुरु रामवास गुरु अर्जुनपव या गुरु तेग बहादुर का कोई पद उद्धरित किया गया है वहाँ उनके लिए क्रमशः महत्ता २ ३ ४ ५ तथा ६ का अतिरिक्त संकेत भी दिया गया है। क्योंकि इनकी बाणियाँ नी उसी प्रथम म सम्मिलित हैं अतः पुस्तक का नाम वहाँ भी नहीं लिखा गया। केवल गुरु गोविन्द सिंह सम्बन्धी ग्रन्थ तथा अन्य वे ग्रन्थ बिनकी धृष्टता की अपेक्षा यथास्थान संशक को रही है ग्रन्थकार एव पृष्-संख्या सहित उद्धरित किए गए हैं। अभिप्राय यह है कि पाठ टिप्पणी म ग्रन्थ का नाम न होना 'गुरु ग्रन्थ साहित्य तथा महत्ता संख्या' का न होना 'गुरु नामक बाणी' का संकेत है। पदों के साथ जो अंकड़े सिद्धे गये हैं वे पद और शब्द संख्या के संकेत हैं। यदि वे अंकड़े दो हैं, तो उनमें पहला पद संख्या तथा दूसरा शब्द-संख्या है, और तीन होने की स्थिति में पहल दो पद-संख्याओं का ही संकेत करते हैं।

रचना में कुछ शब्दों का बालिक रस बनाए रखने के लिए, उनके द्विगुणे पुरु-काव्य के अनुसार ही प्रस्तुत किए गए हैं—यथा

प्रयुक्त शब्द	दुष्ट शब्द
हठमै	अहं (भाव)
तमोगुण	तम्बुण या तमस्
रजोगुण	रज्जुण या रजस्
सतोगुण	सत्तुण
सिमरण	स्मरण
कण्ठार	कठारि
सत्पुरुष	सत्पुरुष
पुरमुख	पुरुमुख
सतिपुरु या सत्पुरु	सत्पुरु

प्रबन्ध की तैयारी में जिन विद्वानों सन्तों महारथियों और भुक्तिम फ़कीरों की इतियों तथा बाणियों से मुझे सहायता मिली मैं उनका अतीव आभारी हूँ, और तत्काल उनही व्येष्टता स्वीकार करता हूँ। पंजाब में प्रस्तुत-विषय के निष्णात पण्डित स्वनाम-अभ्य डॉ॰ भाई साहिब जोषसिंह जी (सूतपूर्व उप-कुसपति पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला) जिनके योग्य-निरीक्षण में यह प्रबन्ध पूरा हुआ मेरी अज्ञा के विशेष-प्राप्त है। अपने अतीव-अभ्यस्त जीवन में भी कई बार अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों की उपेक्षा कर के अमूल्य समय मुझ सेते रहे। उनके मुझाओं तथा पण-प्रबन्धन के प्रति

बाबी को अमाव-मूर्ति के लिए छोड़कर स्वयं विहीन हो गई। ब्रह्मामुग्ध करने वाले ये संत प्रकाश के पुत्र होते थे। अज्ञान का बन्धकार दूर करने की क्षमता रखने के कारण वे गुरु (अन्धकार को दूर करने वाला) कहलाते थे। प्रस्तुत परम्परा आरम्भ से ही अपनी विचार-बीधि को मानुष पर पनपाने वाले प्राणियों को 'गुरु के शिष्य' कहती थी जो कि अष्टांग में सिद्ध और वसुधैव कुटुम्बकम् के समय 'महात्मा' नाम से प्रसिद्ध हुए।

उपरि-संकेतित वसुधैव कुटुम्बकम् की जीवन और उपदेश इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सिद्ध धर्म गृहस्थियों को सदाचारपूव्क और सात्त्विक-जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देने की एक परम्परा थी जिसे केवल गृहस्थियों का धर्म (Religion of House Holders) कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। योपी बेरागी उदासी तथा तपस्वी तो ब्रह्म की वास्तविकता का अनुभव करने और जीवन-मरण के चक्कर से मुक्ति पाने के लिए आरम्भ जंघनों पहनाओ तीर्थों और निर्बनों में घबके जाते थे। तपस्या में अपने शरीर को गमा-सड़ाकर स्वास्थ्य के मूख्य पर वे ईश्वर को शरीरना चाहते थे। लेकिन सिद्ध गुरु गृहस्थियों के लिए ब्रह्मण्य का सुगम-मार्ग प्रवर्धित करने से बिसमें वैराग्य नहीं थडा की अवेक्षा थी। थडा और गुरु ज्ञान-अमोति पर आधारित यह धर्म 'विशिष्ट-मानववाद' का प्रतीक बन गया।

गुरुओं ने अपने शिष्यगण से मार्ग-प्रवर्धन के लिए समय-समय पर आध्यात्मिक साहित्य की रचना की। यह साहित्य हिन्दी में अक्षिकामीन निधुन साहित्य का एक अंग बना। इसमें मानव के लिए मानवीयकरण के आचार थडा और प्रेम भक्ति धर्म मन-भाया नाम और हुकूम, शीवात्मा-परमात्मा सदाचार व सात्त्विक-जीवन गुरु-ज्ञान गुरु-महता शिष्य और उसके कर्तव्य प्रभृति रहस्यों का विस्लेषण करने का उपक्रम किया गया है। सिद्ध-गुरुओं की विचारधारा जिस पर वसुधैव कुटुम्बकम् के समय सिद्ध धर्म की विभिन्न लीन रची गई थी प्रस्तुत साहित्य में बाबू में स्वयं-कर्मों की भाँति बिखरी पड़ी है। इस कृति संत-आत्म्य का शार्तेतिक विवलेषण' (गुरु मानक संदर्भ में) में मुख्यतः प्रथम गुरु की गुरु मानक देव की रचनाओं बाधियों और पशों के आचार पर गीने उक्त स्वयं-कर्मों को बाबू से पृथक् कर चिन्तन की कुठ्यपी में तथा तप्य के मानदण्ड पर उसके अरे-ओटे होने की पहचान प्रस्तुत की है। इसलिये गुरु मानक विचार-सरणी के सार भाग्यों गुरु की सहायता से हठर्म का नाश' नाम रहस्य की भागकारी 'नाम-आप द्वारा नामी में बिधीनता' की पुनरावृत्ति मुझे अनेक स्थानों पर स्थिति-अनुसार भिन्न भिन्न रूपों में करणी पड़ी है।

रचना में मुख्यतः उद्धरण गुरु मानक-बाबी से ही जो कि प्रामाणिक-रूप में गुरु ग्रन्थ साहित्य (प्र विरोधनि गुरुद्वारा प्रवर्धक कमेटी अमृतसर, अक्ट १९२१ संस्करण हिन्दी भाषि) में संगृहीत है लिए गए हैं। अतः पाठ टिप्पणियों में उनके आच 'महसा १ या 'गुरु ग्रन्थ साहित्य' लिखना अनिवार्य नहीं समझा गया। परन्तु

रग-रगनिर्घो का नाम ब्रह्मों की क्रम संख्या पद का नम्बर और ग्रन्थ-साहित्य के उपर्युक्त संस्कारण की पृष्ठ-संख्या मात्र वे दी गई है। वहाँ तुमना या प्रमाण रूप में गुरु बंगद गुरु अमरदास गुरु रामदास गुरु अर्जुनदेव या गुरु तंग बहादुर का कोई पद उद्धरित किया गया है। वहाँ उनके लिए क्रमस गहना २ ३ ४ ५, तथा २ का अतिरिक्त संकेत भी दिया गया है। क्योंकि इनकी बागियाँ भी उसी ग्रंथ में सम्मिलित हैं अतः पुस्तक का नाम वहाँ भी नहीं लिखा गया। केवल गुरु गोविन्द विद् ग्रन्थम्भी ग्रन्थ तथा ग्रन्थ वे ग्रन्थ जिनकी सहायता की अपेक्षा यथास्थान सेवक की रही है। ग्रन्थकार एवं पृष्ठ-संख्या शक्ति उद्धरित किए गए हैं। अभिप्राय यह है कि पाप टिप्पणी में ग्रन्थ का नाम न होना 'गुरु ग्रन्थ साहित्य तथा महत्सा संख्या' का न होना 'गुरु मानक बागी' का संकेत है। पदों के साथ जो आँकड़े लिखे गए हैं वे पद और ग्रन्थ संख्या के संकेत हैं। यदि वे आँकड़े दो हैं तो उनमें पहला पद संख्या तथा दूसरा ग्रन्थ-संख्या है, और तीन होने की स्थिति में पहले दो पद-संख्याओं का ही संकेत करते हैं।

रचना में कुछ शब्दों का धार्मिक रस बनाए रखने के लिए, उनके हिज्जे गुरु-काव्य के अनुसार ही प्रस्तुत किए गए हैं—यथा

प्रयुक्त शब्द	गुरु शब्द
हउमै	बह (भाव)
तमोगुण	तमुगुण या तमस्
रबोगुण	रबुगुण या रबस्
सतोगुण	सतुगुण
द्विमरण	स्मरण
कष्टार	कष्टार
सतपुष्प	सतुष्प
गुरुमुख	गुरुमुख
सतिगुरु या सतगुरु	सरगुरु

ग्रन्थ की तैयारी में जिन विद्वानों शक्तों महात्माओं और मुस्लिम शक्तिरों की कृपियों तथा बागियों से मुझे सहायता मिली, मैं उनका अतीव धाभारी हूँ और नमनस्तक उनकी सेवता स्वीकार करता हूँ। पंजाब में प्रस्तुत-विषय के निष्ठात पण्डित स्वभाव-ग्रन्थ डॉ॰ भाई साहिब शोषसिंह जी (भूतपुत्र उप-कुलपति पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाणा), जिनके योग्य-निरीक्षण में यह ग्रन्थ पुनः हुआ मेरी कृपा के विशेष-भाष है। अपने अतीव-म्यस्त जीवन में भी कई बार अधिक महत्त्वपुन कार्यों की अपेक्षा कर वे अनूय्य धर्म मुझ देते रहे। उनके सुतात्रों तथा पय प्रवचन के प्रति

में आजीवन श्रुती रूढ़ीगा। प्राध्यापक बी० वी० प्रभु, (अध्यक्ष वर्तन विभाग सामन्तराज कलित्त मावनपर) को जो भारतीय-वर्तनों-सम्बन्धी शर्चा के लिये प्रायः मुझे समझ देते रहे मैं अन्याय वेता हूँ। उन सबके आभार भी मैं स्वीकार करता हूँ जो परोक्ष जगता प्रत्यक्ष रूप से प्रबन्ध की तैयारी की अवधि में मेरे सहायक बन रहे।

पंजाब विश्वविद्यालय अण्डीगढ़ ने इस रचना पर पी-एच० डी० की उपाधि देकर मुझे सम्मानित किया इसके लिए मैं आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी अध्यक्ष हिन्दी विभाग विश्वविद्यालय-अधिकारियों एवं उन विद्वान परीक्षकों का जिन्होंने प्रबन्ध की योग्यता की जाँच कर मुझे प्रोत्साहित किया अतीव आभारी हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध को पुस्तकाकार में पाठकों तक पहुँचाने का श्रेय 'भारतेशु भवन अण्डीगढ़' के प्रबन्धकों को है मठ वे भी अन्याय के पात्र हैं।

हिन्दी विभाग
कुच्छेत्र विश्वविद्यालय,
कुच्छेत्र।

मनमोहन सहगल

कहाँ क्या है ?

१ विषय प्रवेश

१-२०

वर्तन—१ दार्शनिक-सत्य क्षयिप्राय—५ भारत में भक्ति-परम्परा
—७, उपनिषदों में भक्ति—८ पदार्थज्ञान में भक्ति—९, सूत्र-युग में भक्ति
—१० तन्त्रों में भक्ति—१०, पुराणों में भक्ति—१० भक्त-गीता
में भक्ति—११ सविज्ञान-युग तथा नारद-युग—११ दार्शनिक-चिन्तन
का कारण—१५ लक्ष्मण-विराट का बहिर्भाव—१५ रामानुजाचार्य का
विशिष्टाद्वैतवाद—१६ कस्तुरि-विराट का बहिर्भाव—१७ बीज-तान्त्रिक
—१८, माय-व्यय—१९ महाराष्ट्र में भक्ति—१९ सुद्धी-भक्ति—२१
कबीर और निर्गुण-सम्प्रदाय की नींव—२१ पंजाब में भक्ति-आन्दोलन का
उदय—२८ पंजाब का संत सम्प्रदाय—३१ पंजाबी-संतों की अन्य
सामान्य विशेषताएँ—४०, सबकी दार्शनिक पृष्ठभूमि में साम्य—४८ ।

२ गुरु और गुरुमुख

२१-८४

गुरु—५१ आश्रयकृता—५५ गुरु कौन ?—५६ गुरु का महत्त्व
प्रसू-मिलन—६० मोक्ष-प्राप्ति—६५ गुरु ज्ञान-उद्योति प्रकाश है—६५
बन्ध-सागर से पार लयाता है—६६ नाम का बाण—६६ गुरु हरि-नाम
का रस-पान कराता है—६७, गुरु मुख और आनन्द का कारण है—६७
गुरु मनुष्य में सद्गुणों को पैदा करता है—६९ सतिगुरु की पहचान—
७० गुरु-भक्ति—७१ अवनत का त्याग—७५, भक्ति का अधिकारी
कौन ?—७६ गुरु-भक्ति या सेवा से क्या प्राप्त होता है ?—७६ आत्म
विरतयेव और गुरु—७७ गुरुमुख कौन ?—७८ गुरुमुख की पहचान—
८३ ।

३ अज्ञान-गुरुत्व (सह्य)

८५-१४५

अज्ञान-गुरुत्व—८७ सृष्टि-संभलन—८८ ज्ञान और अज्ञान—
८९ अज्ञान-गुरुत्व का स्वरूप—९६ (क) अमादि-अवन्त—९७ (ख)
अवगुरुत्व विमुक्त-रूप—९८, (ग) सर्व-स्वापन्न एवं सब-वर्तिमान—

१०० (ब) सभ्यता-सर्वप्रदाता—१०१ (ङ) सर्वकर्ता—१०२ (घ) कृपालु और क्षमाशील—१०४ (छ) महानता—१०५ (ज) मान-सत्यम्—१०७ (झ) मान-शिवम्—१०८ (ट) मान-सत्यम्—१११ (ठ) अदर्शन—१११ (ड) उसका चतुर्विक स्तुति-गान—११२ अकाल-गुरु का स्थान—११३ विश्व में ब्रह्म का प्रतिनिधि गुरु—११८ (क) जीव ब्रह्म में मध्यस्थ—११९ (ख) गुरु और ब्रह्म में अन्वेष—१२१ ब्रह्म का जीव से सम्बन्ध—१२२ रश्मिता-रचना सम्बन्ध—१२३ शरीर में चेतन अंश परमात्मा—१२३ दोनों में तत्त्व भेद कोई नहीं—१२४ पति-पति सम्बन्ध—१२५ जीव और ब्रह्म की पृथक्ता—१२७ कर्म-सिद्धान्त—१२८ मित्राण—१२८ (क) विकारों का अन्त—१२९ (ख) गुरु की सहायता—१३० (ब) नाम-स्मरण—१३१ (घ) सेवा भक्ति और मन्त्रा—१३२ (ङ) शीघ्र-वासनाओं और मनमुक्ता कर्मों का त्याग—१३२ उपसर्ग—ईश्वर-कृपा से—१३२ (छ) जीवन-मुक्ति एवं जीवित मरणा—१३२ नीलता—१३४ ।

४ जीवात्मा

१३५-१४८

जीव क्या है ?—१३७ जीव का जीवन-अर्थ-आत्मोपसर्ग नीलता—१४१ तत्त्व-सिद्धि के साधन—१४३ (क) हृत्की का सम्मूहन—१४३ (ख) नाम-स्मरण—१४७ (ग) गुरु-प्रबोधन—१४३ (घ) ईश्वर-कृपा—१४७ ।

५ माया

१४९-१७३

माया अथवा काल—१५१ माया का स्वरूप—१५४ (क) ब्रह्म की त्रिभुजात्मक भक्ति—१५६ (ख) माया अज्ञानावरण के रूप में—१५१ (ग) मिथ्यादम्बर और मिथ्या-तथ्य—१५३ रूपको द्वारा माया का स्वरूप चित्रण—१५५ मन और माया—१५६ माया की वास्तविकता की पहचान और गुरु का सहयोग—१५९ माया से मुक्तकारा—१७१ (क) प्रभु-कृपा—१७१ (ख) गुरुद्वारा गहना—१७२ (घ) नाम धारण—१७३ ।

६- गुरु नामक का दार्शनिक-सत्य

१७५-२०५

धर्म और दर्शन—१७७ धर्म दर्शन समस्या का उद्भव—१८०, धर्म-दर्शन का कार्य-क्षेत्र—१८१ गुरुनामक का दार्शनिक-सत्य और उसकी सिद्धि—१८३ सत्य-सिद्धि के प्रकार साधन विज्ञान और प्रेम १८९ सत्य-सिद्धि के अर्थ साधन और उनकी सम्भावना—१९३ वैदिक-

ज्ञान्य और गुह्य नामक—११६ आध्यात्मिक-सिद्धि तथा शंकर-अद्वैतवाद—
२०२ ।

गुह्य नामक तथा सद्य-सिद्धि के अग्य दार्शनिक-साधन २०७-२५५

गुह्य नामक तथा योग—२०९ सहजावस्था प्राप्ति और स्वरूप—
२१८ नाम का महत्त्व—२२२ ज्ञानयोग—२२६ ज्ञान आनन्द का
कारण—२३० ज्ञानी की महत्त्वाकांक्षाएँ—२३२ भक्तियोग—२३३
भक्ति के साधन—२३४ भक्ति के भिन्न रूप तथा त्याग—२३६ भक्ति
की अवस्थाएँ—२३८ भक्त के लक्षण—२४० कर्मयोग—२४१ कर्मयोग
और कर्मकाण्ड—२४६ ज्ञान भक्ति और कर्म—२४७ गुह्य नामक का
विचार—२५२ अग्य साधन अन्तर्मुखी होता—२५३ श्रुति-मार्ग तथा
व्योक्ति-मार्ग—२५३ ।

८. उपसंहार २५७-२८१

गुह्य नामक एक समन्वयवादी विचारक—२५९ प्रस्तुत विचारधारा
जर्म अधवा दर्शन की अपेक्षा जीवन चर्या का सुदृंग—२६३ गुह्य नामक
और मानववाद—२६९ उपसंहार—२७२ ।

परिशिष्ट-१

गुह्य नामक साहित्य की जीवन-यात्रा १-२०

जन्म और माता-पिता—३ कुमारास्वधा और जीवन-काल—६
पात्राएँ—१० आधम-जीवन—१७ उत्तराधिकारी की नियुक्ति एवं
व्योक्ति-बोध समाना—१८ रचनाएँ और उपदेश—१९ ।

परिशिष्ट-२

सहायक पुस्तक सूची

↳



विषय-प्रवेश

तूँ आपे बाता, आपे भुगता, हज दुब बिनु भबर न आपा
 तूँ पारबह्य बबंतुमी तेरे किया गुन भाबि बजाणा ।
 (१ २ भासा)

दर्शन

किसी विषय अध्ययन का परिमाणा को सीमा में बँटना प्रायः अध्ययन-मापना हुआ है। न जाने उसका संक्षेपत्र या विश्लेषण करने समय उसका परिमाणा को सीमा-रेखाओं का सम्बन्ध वहाँ कहीं धीरे-धीरे बितनी बार करना पड़े और फिर मानव की जगत् एवं मृत्यु विचार-शक्ति के सामने विज्ञान की अक्षय्यपुष्प वैदिक नवसता किम अथ म सुधारण ही वह सीम्नदर्शन बात है। दर्शन सरीर सम्भीर विषय का स्वल्प ज्ञान कुछ ऐसी ही समस्यारों का अन्तःकरण है। सम्युक्त मानवता अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा विचारमारा के अन्तःकरण-युक्त की सीमा मिलियाँ में सिपटी बीबत की आन्तरिकता सात्र रही है। प्रत्यक्ष निम्न है। अन्तिमा युवा है और आताभय्य प्रादन्तिक है। ऐसे में 'अन्त और हाया की कर्णात्त अरिनाम हा रही है। जो अन्त अन्तिक हाय लगा, वहीं उसकी यथायथा बन गया। समस्य स फोगों हुए, ये अन्तिक आन्तरिकताएँ दर्शन का परिमाणा में बीबत के स्वल्प मनी रहीं लेकिन पूर का अधुना की परिधि में बीबतना दुःख ही नहीं अध्ययन प्रवाधित हुआ। अन्तिक-जीवन तथा विज्ञान-विरचना की अधुनी व्याख्या का परिमाण अपनी अमकमता पर बार-बार धूमनात्ता रहा और अन्तःकरण मानव-अन्तिक निधी अन्तर्गतता को ज्ञान के तिम परिमाणा-अन्त में मन्-युक्त-अन्तःकरण का सोध संवरण न कर सना। परिमाणा ऐसी बनी जिसमें जीबत और माध की सम्पूर्णता का स्वल्प या तथा प्रत्यक्ष एकांगी प्रयत्न समय वही न वही अवस्थित किया जा सकता था। ज्ञान को सम्पूर्ण जीवन तथा विज्ञान-प्रकृति की व्याख्या और सुम्पूर्णता का सम्पूर्णता कहा जाने लगा। अब तो आन्तरिकता का अन्तःकरण स्वल्प (Ontology) परासीतिक विचारमारा (Metaphysics) तक और प्रमाण सब दर्शन के अन्तःकरण समा मय। जगत् की विधिना हा वा सरेह का दृष्टिकोण व्यापहारिक भास्य हा वा ज्ञान-

ब्रह्म की कामना भाष्यार्थिक रहस्यों के गुप्त अमृतम हा या मृत्यु का समझने और जीतने की कृपा सबने 'ब्रह्म' में भाव छोड़ निकाला। ऐसी स्थिति भी आई कि लोग ब्रह्म के 'वर्धनत्व' (रिपना मर्णात् समझना या मनन करना—सत्य का) को मुमानर मात्र नित्य-जरीन समस्याओं से अन्न देना ही अपने वर्धन्य की इति-धी समझने लगे और प्रत्येक पमत्कृत-उक्ति या गूढार्थ प्रतीति-मुझ से कृत्रिम वर्धन बन गयी। तन्म-दर्शन का मह प्रयास (वर्धन) अपने अपेक्षित-श्रेत को भुमाने लगा परन्तु योद्ध ही सम्मल गया। जीवन की सर्वांगीणता तथा प्रकृति की अलक्ष्यता से सम्बन्धित प्रत्येक नव-संज्ञान एक समस्या वर्धन के विशाल उदर में पठ पूर्वगिस्तुओं से सह अस्तित्व स्थापित करने लगी। वर्धन गुण्यार्थ (जीव की प्राणों की और इनकी संज्ञा तक किसी गुप्त और रहस्यारम्य शक्ति की) के वर्धनार्थ संज्ञान अनुसंधान और प्रति संज्ञान करता रहा है और रहेगा वही इसकी सार्थकता है। अनेक महानुभावों ने वर्धन को बरदान दिये। विवेक-सम्पन्न विचारका आभिक गताओं महानु वैज्ञानिकों जो ब्रह्मों तर्कशास्त्रियों मनस्वियों महारमाओ प्रभृति ने प्रकृति और जीवन की अइ और जेतन समस्याओं के अनेक समाधान प्रस्तुत किए। इन समाधानों की पृष्ठभूमि संस्कृति बातावरण विचार-शक्ती एवं नीतिन अपादानों की भिन्नता के कारण स्वल्प भव सिधे हुए मिलती है तो भी बही तक ब्रह्म के आचारी का प्रकृति है के समस्या की एक-रूपता में सगमम सब अगह एक-स ही रहे है। ही भारतीय और पाश्चात्य बातावरण तथा दृष्टिकोण के अन्तर से उनके समाधान निस्सम्बद्ध भिन्न हो सकते है। अन्तु,

दार्शनिक-तत्त्व अभिप्राय

मनुष्य में केवल दो ही मुख्य भाव रहते हैं—स्वत्व और परत्व। इन्हीं से प्रेरित होकर उसके सम्मुख आज तक दो दार्शनिक समस्याएँ आई हैं। 'परत्व' के आधम यह किस्म क्या है? किस्म का आभार-तत्व क्या है? आदि जानना चाहता है। उसकी सन्धता की परानीतिक व्याख्या करना चाहता है और अपनी सम्पूर्ण शक्तियों बही केन्द्रित कर आमु भर कि 'रहस्यारम्य-मय की जाब करना रहे पाता है। ब्रह्म और स्वत्व' का सहारा से वह अपने लिय भी उलझा रहता है। 'वह स्वयं क्या है? उसके अन्तर में मन क्यों है? मन और शरीर का क्या सम्बन्ध है? आत्मा कौन है? उसका स्वरूप क्या है? आदि प्रकृति दुमरी ममस्या की अटिसताएँ हैं। श्री रॉस ने इन्हें मानव-स्वरूप सम्बन्धी मानवीय ममस्याएँ कहा है। के ही समस्याएँ किसी विशिष्ट विचारपार का आचार बनती है। इन्हीं में प्रेरित हो पश्चिम में आज तक मनस् पदार्थ और ईश्वर के अस्तित्व अस्तित्व का संघप चलता रहा है और पूव में जीव ब्रह्म और गृष्टि पर विमने काफी चारणाओं का प्रसव-ज्ञान भी यही स्वत्व और परत्व की टकराहट है।

पूव में भारतीय विचारधारा विशेषकर धर्मवैतनिक रही है। जाये जानि को कुछ परिस्थितियों बाह्य-आक्रमणों और भयंकर आन्तरिक अस्पृश्यता का सामना करना पडा है। ऐसी परिस्थितियों में जनता की इममगाती नया को विस्वस्त स्थिति प्रदान करने के लिए तत्कालीन भोक्त-नायकों ने समय और क्षेत्र को परपठ हुए वे नियम-सिद्धान्त स्थापित किये जिन्हें आज की गकीर्ण परिभाषा में धर्म कहा जाता है। वास्तव में यह धर्म उसके हुए हृदयों और हृत्वाग भावनाओं को पुनर्प्रोत्साहित करने के लिये तथा समाज की अस्पृश्यता का मुकाबल रूप से सामना करने हेतु कल्पना किया गया था। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ धार्मिक-नियमों में भी परिवर्तन माने गये और सामाजिक-समस्याओं का आधम के माध-धम जैन-धम बौध्-धर्म पुन धार्म-धर्म (हिन्दू-धर्म) मुस्लिम-धम सिक्ख-धर्म ईसाई-धम पारसी-धर्म आदि उचित प्रकारित और प्रसारित हुए। इन धर्मों से जनता की मानसिक शांति का रक्षण होया था। किसी विज्ञेय धर्म को स्वीकार करने या उसके नियमों के अनुसार जीवन-यापन करने में भी सामाजिक-स्तर और आर्थिक एवं राजनैतिक मामलों को सम्मुख रखा जाता था। नीच जाति के लोगों द्वारा बौध्-धर्म का अपनया जाना सामाजिक स्तर का नाम हिन्दुओं द्वारा मुस्लिम-धर्म अपनया जाना आर्थिक एवं राजनैतिक मामलों के प्रतीक है। स्पष्ट ही धम किसी को धीरज बचाने प्रोत्साहन या प्रेरणा देने और उबारने में अधिक कुछ मुख्य में रखने दे। जनता अपनी मानसिक शांति बनाय रखने तथा अपने अस्पृश्यता की मान्धा मुद्दुद्वार बनाने के लिये इन धर्मों की रखा चाहती थी। जीवन-यापन के ये नियम सिद्धान्त (धर्म) जनता का कवच थे और इन पर आकाठ पहुँचाने वाले से जनता मनुष्य व्यवहार करती थी। यही मुद्दों का मुख्य कारण था। रक्षा की इसी लीला-तानी में प्रतिशोधार्थ जायरज की भावकमकता हुई तो नेताओं ने 'धर्म' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया पराजित एवं निराश स्थिति में दृष्टे विम के तार ओड़ने का त्याग और तपस्या—'साध और संताप्य' के सिद्धान्त स्थापित किये गये बौध् धूमना के विरुद्ध धर्म क्षेत्र में स्वविस्मरण की अपेक्षा हुई तो समर्पण और भक्ति का ययोगान हुआ तथा राजनैतिक दुर्बस्था में मुसलमानों द्वारा अपने धर्म पर तलवार चलने देय अहूँ की रक्षार्थ 'एकोबहा द्वितियो नास्ति' तथा मृष्टि के मायावासी सिद्धान्त को जन्म दिया गया। मुसलमानों द्वारा निन्दी-भक्ति के बिनाश से अपने को बौना न देखने के अधिसापी हिन्दुओं ने 'अहूँ' को उच्चतम भक्ति ब्रह्म की कल्पना में सीन कर सने के सिद्धान्तों को उबार। सामाजिक निराशा में आमा की मुक्ति प्रदीप्त करने वाले इन सिद्धान्तों पर भीरे-भीरे आप्पात्मनता का रंय बढ़ता पया और परबतों विचारकों ने इनमें रहस्य की पुन बेकर नित्य-नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। येही व्याख्याएँ भारतीय-धर्मंग कहलाई।

अप्यकुग की परिस्थितियों में एक निरुत्पादन था। उस समय का आन्तरिक

समाज (वेद की भीतरी स्थिति) दो मुख्य भागों में बटा हुआ था—उच्च जातियाँ और निम्न जातियाँ। मुसलमानों के आगमन से उच्चजातियाँ घर्म-क्षेत्र में मुसलमानों में पराजित हुई और हतोत्साहित-भी जीवन-मर्ष्य करने लगीं। निम्न जातियाँ जो उपेक्षित समझी जाती थीं अपने सम्मुख एक सुख्यवस्थित समाज (मुस्लिम समाज) को निजका हार्दिक-स्वागत करता देख रही थीं। आश्चर्य स्वभाविक था। अतिशय यह कि भारत की आन्तरिक जातियों में अतुल्य एक बहिष्कृतता फसी हुई थी। विशेष कर उत्तर भारत में लूफान मत्त का सफलता की बड़ी आशा न थी। अद्यतन निष्पाय अतथा 'गज की पुकार पर नभे पति मानने वाले' भयवान् को टेरने-टेरते विश्वास को चुपी थी। अस्तित्व की किसी शक्तिशाली लोक-मायक की जो हिन्दुओं और मुसलमानों के संघर्ष का बहोरता-पूर्वक सामना करता हुआ दोनों के नियम-सिद्धान्तों में समन्वय प्रस्तुत कर उनका एक-रूप नेतृत्व कर सकता। उत्तर प्रदेश में कबीर रूप में ऐसी शक्ति का उदय हुआ। पंजाबी अतथा की बसा और भी शोचनीय थी। सीमा-प्राप्त होने के कारण सब प्रकार से उसका पलन हो रहा था। वहाँ भी कबीर जैसे लौह-गुरु की अपेक्षा थी। गुरुनामक के अवतरित होने से यह पूरी हुई। परिस्थिति नर्म देखकर जन-सर्व का साहजान मानक ने भक्ति आचरण में अर्द्ध स्थापना के माध्यम से किया। अतथा की विवशता को किसी रहस्यमयी शक्ति के संकेतों में धीरे-धीरे बंधाने के लिए ही सम्भवतः मानक ने 'हुकमु' की फिदासफी को जन्म दिया।^१ १५० सतिनाम करता पुरख निरमल निरवैर, अकालमूर्ति बनूनी नर्म गुरु प्रसादि के महामन्त्र में अतथा को अर्द्ध प्राप्त कर उसे व्यवस्थित मानसिक-शक्ति का अरक्षण दिया। प्रस्तुत विचार-धारा के परिचय में भी उपयुक्त जीव बड़ा और मृष्टि-निर्माण शरीरों के आचारों को पृष्ठभूमि बनाया गया। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों में पति गली के गुरु मारिक-स्वरूप की पुत्र बकर नामक ने अपनी आरणा के आधारों को और भी आकर्षक बना दिया तथा मिश्रणों में गार्हस्थ्य अनुकूलता का विशेष ध्यान रखा। मृष्टि-निर्माण में माया की कल्पना की और इस अज्ञान विनिराम्य को विदीर्ण करने की शक्ति गुरु में अवस्थित रखी गई। अतः माया का आचरण हटा कर संज्ञा को निरञ्जन में गम्भिर करने का मात्र माध्यम गुरु को स्वीकार कर लिया गया। मोक्ष प्राप्ति का साधन गुरु होने से उसकी प्रसन्नता और कृपा हेतु यज्ञपूर्ण गुरु भक्ति का महत्त्वशाली स्थान स्वभाविक ही था। अस्तु, जीव माया गुरु अकाल-पुरख (निरञ्जन) आदि गुरु काव्य की 'हुकमु' फिदासफी के आधार बने

१ किन्तु सतिनाम होना किन्तु कूड़े तुर्त पाणि। हुकमु रजाई अतथा मानक निरिज्ञा पाणि ॥ —अपुत्री

और इसमें ही ऊपर नाम-जाप तथा गुरु-भक्ति 'सोई' की स्थिति तक पहुँचने के उपाय कहे जायें ।

इस-रूप से होती हुई भक्ति गुरु-नामक तथा पहुँची थी यहाँ यह जान लेना भी अप्रासंगिक न होगा ।

भारत में भक्ति परम्परा

भारतीय संस्कृति धर्माधारित मानी जाती है । उसमें भक्ति का आन्दोलन किसी एक विशेष समय या अवधि में आरम्भ हुआ स्वीकार करना सम्भव वास्तविकता को नज़राने का कुप्रयास होगा । 'समय की मात्रा समाज के परिवर्तन का कारण होती है' जत हो सकता है कि भक्ति के स्वरूप मानना तथा ध्येय में ऊँची अन्तरात्मा हो और परम की यात्री हित्वासे जाती इममगायी परन्तु आये बढ़ती कहीं मुसक, कहीं वसित रूप प्रदर्शित करती पद्महरी सोमहरी और सत्रहरी जगाम्बी के स्वर्णकाल तक पहुँची हो । मार्ग में भद्रा भक्ति ज्ञान और कर्म योग तथा पापण्ड मनुष्य अनेक तरंगों का सामना करना पड़ा हो तो क्या अचम्भा ! परन्तु यह एक तथ्य है कि भक्ति के बीच वैदिक ऋचाओं और उपनिषदों में ही वर्तमान थे । 'वैदिक ऋचाओं देवताओं की उपासना में भक्ति और भद्रा के मार्गों से भरपूर हैं—आरभ्यक का उपासना-काण्ड तथा उपनिषद् विश्वास भी' उपासना के पथ 'भक्ति-मार्ग' की नींव कहे जा सकते हैं । "१

हिन्दू विचारधारा के सम्पन्न में धर्म का जो स्वरूप विचारों की जो परिपक्वता तथा विरक्त और भद्रा का जो अक्षय स्रोत बढ़ता मिमता है, उसका भी सबसे अधिक काम में ही हो गया था । वेदों में निस्सन्देह अनेकस्वरूप का दिग्दर्शन होता है प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व को देवी देवता के रूप में स्वीकार किया है उनके यज्ञोपास हेतु ऋचा-पाठ तथा प्रसन्नता के लिये यज्ञ-विधान रचा जाता रहा है तथापि प्रकृति के उन रूपों और विविध व्यवहार-मार्गों की पृष्ठभूमि में किसी अनुपम और रहस्यमयी भक्ति की सत्ता भी स्वीकार की गई है । इस स्वीकृति को धर्म विकास तक पहुँचाने का श्रेय निश्चिन्त उपनिषदों को दिया जायगा । आरभ्यक के उपासना-काण्ड का संकेत ऊपर दिया जा चुका है । आद्य-धर्म भी उसी रहस्यमयी

Shri Rama Krishna Centenary Memorial 'The Cultural Heritage of India Vol II p. 43. (Quoted from H. R. Chandhry's An Early History of the Vaishnav Sect.

"The Vedic Hymns are replete with sentiments of piety and reverence in the worship of the Gods The Upanishads lay the foundations of the Bhaktimarga, way of devotion and faith.

शक्ति का युक्तमान करने दीक्ष पड़त है। एसा विश्वास ब्राह्मणों की निजी विभूति है कि उस सक्रिय शक्ति पर अक्षय्य विश्वास रखने उचित नीति और रीति म यथादि रखने तथा भौतिक कठिनायों में भी सहायताार्थ सुदृढ़ हृदय से पुकारे जाने पर, वह मानवीय मनोकामनाओं की पूर्ति करती है। सर्वत्र रहस्य बनी रहने पर भी वह शक्ति प्रत्यक्ष सहायक होती है यही वह विशेषता है जिसकी व्याख्या में उसके सब उपनिषद् कृत्रिय शीलते हैं।

उपनिषदों में भक्ति

भक्ति ब्रह्मा ईश्वर में दत्त-वित्त निष्ठा का सिद्धान्त परवर्ती उपनिषदों में तद्विस्तार प्रस्तुत किया गया है।¹ 'भक्ति' का अर्थ सर्वप्रथम उपनिषदों में ही प्रयुक्त हुआ है।² मुण्डकोपनिषद् के कुछ उदाहरण प्रमाण रूप से जुटाए जा सकते हैं— 'परमात्मन् का ज्ञान देवाध्ययनं कुर्वति वा गम्भीरं किञ्चन छि प्राप्तं नही हो सकता केवल वह सौम्यात्मनामी महापुरुष जिस पर उमनी कृपा होती है और जिसका पक्ष में ही हुए वह जिसके सम्मुख अपने को अनागत करना है वही परमात्मन् को पहचान सकता है दुरा कोई नहीं।'³

सबके आत्मार्थ परब्रह्म परमेश्वर उपासनारूप बल से रहित मनुष्य द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते। समस्त मोर्षों की आत्मा छोड़कर एक मात्र परमात्मा की ही उत्कृष्ट अभिजापा रखते हुए निरन्तर विद्युत् भाव से अपने इष्टदेव का चिन्तन करना—यही उपासना रूपी बल का संशय करना है। ऐसे बल से उचित पूर्य को वे नहीं मिलत। "जो कुट्टिमान प्रमावर्हित होकर उत्कृष्ट अभिजापा से निरन्तर परमेश्वर की उपासना करता है उसकी आत्मा परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप में प्रविष्ट हो जाती है।

—III २ ४ मुण्डक । गीता प्रेस गोरखपुर ।

नायमात्मा प्रब्रह्मेन लग्नी

न वैश्या न बहुना धृतेन ।

वसेवैव ब्रह्मते तेन लभ्य—

स्तस्यैव आत्मा विब्रह्मते तनु स्वात् ॥

III २ ३ ।

1 The Doctrine of Bhakti or Single-Minded devotion to God is clearly evident in later Upanishads." The Cult of Bhakti by Jadunath Sinha.

2 "The word Bhakti occurs for the first time in the Upanishads — Same

३ मुण्डक III २ ३ ।

तयो ह्यै तत्परमं ब्रह्मवेदं ब्रह्मैव महति
नास्याब्रह्मविष्णुस महति । तरति शोच तरति
पाप्मानं गृहाप्रमिष्यो विमूढोऽमृतो महति ।

III ० ६ ।

इसी प्रकार 'जा उन परमब्रह्मि ब्रह्म को पहचानता है वह स्वयं ब्रह्म का माता है । उसका सम्पूर्ण ब्रह्म ब्रह्ममय होता वह गाढ़-पाप में मुक्त होता कामता पर अधिकार पाता और अमरण को प्राप्त करता है ।' तंजरीय और बृहदारण्यक में ब्रह्म को परम-आनन्द का स्वरूप तथा मानवीय-मोहन का सर्वाकार माना गया है । श्री गद्दे इनाम सरगार उपनिषदों को विचारों का एका विरहित रूप स्वीकार करण है जो अपन ही तक सीमित है^१ । निम्नन्वेह इन विचार-मरणी के बीच केलों में ही निमि श्रुत व परन्तु मर्यादानुभव के सम्बन्ध में दोनों दृष्टिकोणों (बनों और उपनिषदों) में अन्तर है । "यक हा दृष्टिकोण अन्तमुष्ठी है दूसरे का बहिर्मुखी । एक आत्मा की गहराई में पैठकर सत्यान्वेषण करता है दूसरा प्रकृति के व्यक्त रूपों के सहारे ।^२ स्पष्ट है कि केलों में पाए जाने वाले महिष्ठ क बीजरोपण का सिधन उपनिषदों में गुनाह रूप से हुआ । साथे बसकर पद्वक्तनों व श्री ईश्वरवाद का मूरि मूरि मुण गान किया परन्तु वे मुस्मत्त गान पुस्त्र ही रहे आगमना की आनस्थिनी नहीं बन । मृष्टि के निर्माण की तात्किक शर्ता उनका प्राण-विषय रहा । इनमें श्री मात्स्य दसन का कमवीम प्रकृति तथा निश्चिन्म ज्ञानपीय पुण्य की त्रियुगात्मक बीड़ा में विरह क्रियाओं का साबमोम सम्बन्ध आता है एकेश्वरवाद के सिध उपनिषदों के माक माय मोम्पजेश ऐयार करता रहा है । कहा गया है कि उपनिषदों में नात्किक और बीनात्किक विचारों का समन्वय हुआ और नात्क्य के पुराने विचार केशान्त क 'मोर्झ एव उपनिषदों के 'दृष्टावाद' के सहायक हुए ।" उपनिषदों मात्क्य के इतमन और त्रियुगात्मर प्रकृति के विचारों के पूर रूप का सुरक्षित रूपनी है और व यह भी बतमातो है कि किस प्रकार साम्पमत की भित्ति पर एकेश्वर वाद का निर्माण मन-गर्न शर्मनिर्णों द्वारा किया जा रहा था ।"^३

पटदर्शनों में भक्ति

पद्वक्तनों में योग-मात्र भक्ति के लक्ष में विभिन्न ध्यान रखता है । उसका

१ मुष्क III २ ६ ।

२ Mysticism in Bhagvad Gita p 27

३ Mahendranath Senkar in Hindu Mysticism quoted by Dr Braj Mohan Gupta in हिन्दी भाष्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ p 4

४ भारतीय ईश्वरवाद—पाण्ड्य रामाचतार शर्मा ।

परम सत्य है जीव के निजी स्वल्प की पहचान। वह रूहस्यवाचियों की मूर्ति इस स्वल्प का आचारमक न बनाकर बीचारमक वैज्ञानिक रूप में स्वीकार करता है।^१ सब तो यह है कि योग आरम्भियों के दृष्टिकोण का सहज विकसित रूप है।^२

वास्तव में आत्मा स्वयं ब्रह्मांड होने के कारण सबसे निष्कमक ज्योतिर्मयी अनुभूति है परन्तु मन के उभावरण में अपनी वास्तविकता को खो बैठती है। मन की वृत्तिमा ही उसका उभावरण है अतः इन्हीं वृत्तियों के निरोध का नाम योग है।^३ प्रस्तुत सध्य-सिद्धि हेतु योगी भक्ति को साधन बना सकता है। पाठजलि ने योग-साधना के अपनाने के लिये कई एक तरीके भिन्न हैं जिनमें ईश्वरोपासना भी एक है। ध्यान रहे वह ईश्वरोपासना को अपनाने में साध्य नहीं मानता केवल लक्ष्य-प्राप्ति अर्थात् मन-संयम का साधन मानता है।^४

सूत्र युग में भक्ति

सूत्र युग में लगभग साठवीं सताब्दी ईसवी पूर्व में मनु-संहिता की रचना हुई। मनु के मत में सृष्टि का निर्माण तामसिक प्रकृति में परमात्मन् द्वारा उत्पन्नित माने से हुआ। मनु भी आत्मज्ञान को ही ब्रह्मत्व में उत्तमत्व स्वीकार करते हैं और यज्ञादि द्वारा शरीर और मन की पुनीतता में ज्ञानोदय स्वीकार करते हैं। ईश्वरवाद की विचारधारा मनु के समय पर्याप्त पनप उठी। वेदों की नाई उमने भी भक्ति को ज्ञान और उपासना पर ही आधारित रखा।^५

तन्त्रों में भक्ति

उपनिषदों ने जिन आदकों का विश्लेषण वैज्ञानिक रूप में किया था अब उस तक पहुँचने के लिए सोपान की अपेक्षा हुई। पाठजलि योग द्वारा ब्रह्मत्व का मार्ग पहले ही बता चुके थे परन्तु तत्कालीन समाज इस कठिन और दुष्कर साधन को अपनाने में सततम अग्रसर रहा था। कुछक आत्म-संबन्धी धना मनवीत योगी ही इस क्षेत्र में अवतरित हुए मक अनुभावरण के लिए तो यह बोझ-सा बन गया। अतः समाज में किसी ऐसे तब मिद्वान्त का जस निकलना था जलना को अधिक आकर्षित

1 "Yoga in the seeking of Union by the intellect, a science; "Mysticism is the seeking of the same union by emotion. An Introduction to Yoga by Annie Besant p 25.

२ ब्रह्ममोहन ब्रुह—हिन्दी काव्य की रूहस्यात्मक प्रवृत्तिमा पृ ३।

३ योगविद्यतवृत्ति निरोध—पाठजलि योग सूत्र १ २।

४ Annie Besant An Introduction to Yoga, p 26

५ Kumudranjan Ray—Evolution of Gita, p. 70

कर सकता हो स्वानाधिक भी या और आनन्दक भी । सम्भवतः इन्हीं परिस्थितियों में बराभूत होकर मारल म धार्मिक निपेक्षायक मार्गों के उपरान्त ताम्रिक-भावनों की चाहकटा बढ़ गई । लक्ष्य दोनों का एक या परन्तु माग विरोधी—दार्तों मर्यानु मूर्ति के अन्वयक से परन्तु एक निवृत्ति मार्ग पर अमन कामा तो दूमरा प्रवृत्ति पर एक आत्मा और परमात्मा के बीच क पर्तों को विधीय करने म म स्या रचन बाना ता दूमरा उसी पर्तों को मिसन का माधन बनाने की कल्पना करने वाला ।

तान्त्रिक विचारमारा हिन्दुओं और बौद्धों दोनों में प्रचलित हुई । बौद्ध तो पहले से ही प्रवृत्ति-मान पर बढ़ रहे थे अतः बौद्ध तान्त्रिकों का उदय पूर्व-भाव में आन वाली मिराकट के कारण ही माना जाना चाहिए । हिन्दू तान्त्रिक एक कठिनाई को दूमरी कठिनाई म विमजिन करने के स्वप्न म रहे थे । वे अपने मिस सम्प्रदायों और विचार-पद्धतियों को लिए सर्वविक्रित एक ही सत्य मन्त्रिदानन्द की प्राप्ति या पूर्व मित्त में मित्त जाने के मिस माधय कूट रहे थे । सम्भवतः इन्हींलिए प्रमथनाय मुखोराम्याय ने तान्त्रिक-पद्धति के विषय में 'कम सापेक्षता और मोटी निरपेक्षता श्रेष्ठ प्रयाय किए हैं ।' हिन्दू तन्त्रों की पाँच श्रेणियाँ हैं—मत्र मातृक वैष्णव वागपत्य तथा सीर । इनमें भी शैव और मातृक की गणना मुख्य तन्त्रों में होती है । समय-नमय पर स्वार्थी विचारकों द्वारा किसी भी विचारकारा में जो विकलांगता तथा अनाशयक-अर्थों का मन्त्रिधय हो जाता है यदि उसकी मबहुलता करल दूण देला जाण तो तन्त्र भी उपनिषदों की रहस्यमयी अनुपम मत्ता की ओर मंकल करल बीक पड़न हैं । वह सत्ता तान्त्रिक-भाषा में मन्त्रिदानन्द कठिनाई मिसके वा पक्ष मित्त और शक्ति हैं । यहाँ मित्त की निरुद्धता सात्य के पुरण की तरह शक्ति के लिए प्ररक है । डा० ब्रजमोहन गुप्त द्वारा उद्धरित शरणों में ये दोनों रूप अविभेद और अवि भाग्य हैं । तन्त्र में मित्त का अरम मत्य माना गया है और शक्ति का उमकी मत्ता का मूस-उत्प । उनमें इन का माध नहीं करन् समन्यता है अविधता है ।^१ मन्त्राचार संमार की उत्पत्ति मूस प्रकृति या परामक्ति माया द्वारा माह और विन्दु (ऊर्ध्व-मन्त्र) की रचना क परवान् स्वमेव होगी बली जाती है । तन्त्रानुमार अति पबु है और संमार के पाण म बन्धा है । उमे मित्त बमता है और वह प्रवृत्ति मार्ग म ही सम्भव है । काही कामनाएँ बह उगातीहून हो अन्तर्मुखी हो पानी है तो मनुष्य के लिए ब्रह्मविम का मार्ग गुपता है ।

1 Tantra as a way of Realization. (Shri Ram Krishna Certenary memorial—The cultural Heritage of India.)

२ कम्पाय माधनाह—पं० गोपीनाथ कदिराज पृ० ६०१ ।

पुराणों में भक्ति

भक्ति मानव-मन की बहु सदभावना है जिसकी उत्पत्ति अज्ञा और प्रेम के समन्वय से होती है। जिसके प्रति हम यज्ञा रखते हैं उसका गुण-धरणा में हों आत्मिक मिश्रता है उसकी भावना में प्रसन्नता होती है उसके निन्दकों से दूषा और उसके प्रसंसकों से प्यार होता है। उसकी प्रत्येक क्रिया प्रत्येक व्यवहार—गुण हो या दोष हमारे लिये उसी में मुन्दा विश्वास होता है और फिर जब उसमें प्रेम का समावेश होता है तो चाहेक चातक हो बन जाता है। वह अपने प्रेम-यात्र के लिए ही मोठा-आगता है उसी के स्वप्न देखता है और उसके प्रेम के रंग में पीरे-पीरे इतना रंग जाता है कि स्वयं ही प्रेममय होकर अपने इष्ट का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार सत्भक्ति अपनात आत्मी मानवार्थमा प्रथम स्थिति में अपने इष्ट के लिए बिरह में ठड़पती है दूसरी स्थिति में प्रेम के नष्ट में सब जड़ भेदन में उसीका हास विकास देखती है और अन्ततः परम-स्थिति में 'कृष्ण कृष्ण बहु राधा कृष्ण मई' का सत्य सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष है कि भक्ति की प्रथम स्थिति 'बिरह-विषमता' आत्मत् की जिज्ञासा के कारण उसके पूर्व पाप विमोचन का आचार बनती है दूसरी में सत्क आत्मत् या त्याग करता है और तीसरी स्थिति में बहु भय प्राप्त होता है। यही भक्ति का परम-सत्य है।

इस प्रकार की भक्ति के बीज हम पीछे आर्यविक काल में बँदुर उपनिषद् काल में तथा बिक्रमोत्सुत प्रसङ्गत तर्कों में देख चुके हैं। भक्ति का प्रस्तुत होनाहार बिरहा पुराणों और गीता की सहायता से पश्चि-मुष्णित हो भारत के कोने-कोने में और-अधुना फैलाने लगा। यह सादक औरम या भारतीय संस्कृति में करवट बदली चिन्तन का रूप आरम्भ हुआ और १२वीं शती तक पहुँचने-पहुँचते कवित देड़ सन्तमत् का सरम और मधुर फल धारण कर ऊँच-नीच दूध-बाह्यन सबको आकर्षित करने लगा। पौराणिक भक्ति का मूल व्यवस्थापन यज्ञा है अर्थात् उसमें किसी परम पुरुष परमात्मा की कल्पना अनिवार्य है। बिष्णु तथा भायवत् पुराणों में इस परम ईश्वरत्व की कल्पना बिष्णु में की गई है। इस प्रकार सर्वप्रथम यही पूर्व-आत्मिक देवता बिष्णु को भगवान् का रूप दिया गया और उसकी प्राप्ति का एकमात्र माधन हरिभक्ति दर्शाया गया। भगवान् के निवास-स्थान बँदुष्ट की कल्पना करने हुए बीबी की बँदुष्ट-विमुक्ति की प्राप्ति की प्रेरणा दी गई। हरिभक्ति को सर्वोच्च धर्म माना और उससे सिए ब्रह्मण्ड यज्ञा तथा अन्ध-विचयान की कामता की। ऐसा करने में आत्मा-परमात्मा के मिलन (मुक्ति) की आ वारा यही बहु साक्य तथा साधुस्य बहमाई। मारनश्रेय बर्षोंकि मारायन के मरीर में अर्जुन की भांति तिमोरु अण्ड बह्राण्ड देख चुका या अन उसके पुराण में सब कुल मारायन के अन्तर्गत

हृदय की विचारबाधा पाई जाती है। उसके लिए अफ तो नगवान् में समाया हुआ है ही केवम बाण्डि की आवश्यकता है।

भगवद्गीता में भक्ति

धीमद्भगवद्गीता की रचना के समय वा प्रसार की साधनाएँ प्रधानतः प्रवसित को जिनमें एक 'ज्ञानयोग' और दूसरा 'कर्मयोग' था। इनमें से प्रथम का रूप मुख्यतः आत्मोपासना का था जिसके अनुसार मनुष्य का कठम्य अपने चित्त का सभी सांसारिक बन्धनों से हटाकर तथा उसे निरम सुख एवं ज्ञानमय आत्मा ही और उन्मुक्त कर पुनः आत्मज्ञान की उपसक्ति करता और दूसरे का रूप इसी प्रकार 'कर्मोपासना' का था जिसके अनुसार सब किसी को चाहिए कि अपने कर्म सम्बन्धी व्यापारों का निर्वाह उन्हें यज्ञ या कर्तव्य मानकर कर जिससे आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति हो। य दोनों मार्ग कर्म 'निष्कर्ममार्ग' एवं 'प्रकृतिकर्म' भी कहलाते थे और श्रीकृष्ण ने इस दोनों का मर्यादित कर इनका 'ज्ञान कर्मयोग समुच्चय' के रूप में समन्वय कर दिया।^१ ज्ञान और कर्मयोग के अतिरिक्त गीता में श्रीकृष्ण ने भोग और धर्म का समावेश भी किया। भक्ति-शत्रु में गीता को पूर्वकालिक धर्म-ग्रन्थों से पर्याप्त विकसित आशय प्राप्त हुआ था। भक्ति भी परिस्थितियों कर्म के साथ भक्ति की माँग कर रही थी। अनेक प्रकार के धर्म धर्मों में कौनो जनता एक ऐसा अवलम्ब चाहती थी था, उसके सन्देहमुक्त हृदयों में विश्वास का बीजारोपण कर सके उसकी उगमपाती धर्म-नीका की पतवार बन सके और जो जनता को धूम्यता के साथ उड़ता घातान् सुगुन बहा का स्वल्प निष्ठा सके। ऐसी भक्ति तात्कालिक स्थिति में मात्र भक्तिमोक्ष में ही निहित थी। अतः गीता में श्रीकृष्ण ने जनसमाज को ईश्वर बाद के पदों में व्यक्तित्व परमात्मा की देन देने के लिए कहा—

सम्यक् मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।

निवसिष्यति धर्म्येण मत् ऊर्ध्व न संशय ॥

गीता अ० १२ । श्लोक ८ ॥

अर्थात् 'ए मानव तू मुझमें अपने मन को रमा मुझमें ही अपनी बुद्धि का निवेश कर। तब तू निःसन्देह मुझमें ही समा आसपा।'

शाब्दिक-सूत्र तथा मारु-सूत्र

गीता की भगवद्भक्ति गीततर साहित्य शाब्दिक भक्ति सूत्र तथा मारु भक्ति सूत्रों में और भी विस्तृत उड़ी। शाब्दिक में भक्ति को ईश्वर के प्रति अटल अभिप्रेत सम्पूर्ण तथा अनन्त अनुरक्ति की भावना स्वीकार किया है। ईश्वर के प्रति

१. उत्तरी भारत की सगु परम्परा—आशय परशुराम जगुबेरी पृ० २३ ।

अतीव आदर, आत्मत्व की संवेदनाएँ, जुदाई में विरह पाड़ा अन्य सब वस्तुओं से विरक्त निरन्तर भगवद् यज्ञोगत उसी के प्रति जीवन-समर्पण उसकी सर्वव्यापक मत्ता के प्रति आत्मकृपा उसके सर्वोपरि होने का शान तथा उसके प्रति विरोध का अभाव मन्वी भक्ति के चिह्न हैं।^१ श्रीहृत्पञ्च ने गीता में ज्ञानवात् तथा भक्त को भगवत् भगवत् सगल अस्वा में रक्षणर ज्ञान और भक्ति को समस्तर कर दिया है। परन्तु शास्त्रिण्य न स्पष्ट भक्ति को ज्ञान प्रकृति का न मानकर मानसिक संवेद्य रूप में स्वीकार किया है। भक्ति के उदय में ज्ञान का अवसान होना भक्ति का एतानुभूति स्वीकार किया जाना बुजा-नरीखी निम्न वृत्तियों में भी ज्ञान का पाया जाना और पूर्वतः अतपद् अशिक्षित तथा अज्ञानी लोगों का भी केवल भक्ति द्वारा मुक्त हो जाना कुछ ऐसे प्रमाण हैं जो शास्त्रिण्य अपने कथन की पुष्टि में प्रस्तुत करते हैं। जीवन मरण का चक्र भी अज्ञानता के कारण नहीं चलता शास्त्रिण्य के मत में उसका कारण भी भक्ति का अभाव है। भक्ति-भावना के उदय होते ही जीव इस चक्र से मुक्ति पा सकता है।

नारद भक्ति सूत्र पूर्वोक्त सभी वास्तव से अनुभूत और भक्ति का अगम्य सार है। भक्ति की परिभाषा में नारद न परम प्रेम को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। 'परम' भाव यहाँ तीन मुख्य बातों को दर्शाता है (१) भक्ति अनिर्बाधत अविभाजित है यह ईश्वर के अनिरिक्त स्वयं से जाता थोड़ती है। (२) कर्म या चिन्तन इस कमी प्रभावित नहीं कर सकता। यह अपने में साध्य है सधन नहीं। (३) यह अस्तमूर्च्छी या निष्क्रिय नहीं—अपने आप बचन कर्म और मनोविचारों से इसका प्रकटीकरण होता रहता है।^२ नारद के मतानुसार भक्ति सर्वधर्म-सम्पन्न भक्ति है लक्ष्यों को मात्र सिद्धि और आदतों में चरमार्थ है। दुनिया की आसक्ति का त्याग करना ईश्वर नाम की उपासना करना तथा भक्ति की 'भावना' में ओतप्रोत रहना मुक्ति तथा ब्रह्मरूप का सहजजनम और सीधा मार्ग है। भक्ति कई प्रकार से अपनाई जा सकती है मुख्यतः इसके ६ रूप हैं कोई भी एक मध्य-सिद्धि का आचार बन सकता है—भजन पान स्मरण प्रणाम पूजन प्रार्थना वास्य सख्य आराम-समर्पण।

दार्शनिक चिन्तन का कारण

भक्ति की उपरिबद्ध तटयों के परभाव हैत में चतुर्विध बौद्धमत का तूटी होजने मत्ता। वाति भेद की अमाप्यता राज्य-धर्म के रूप में ग्रहण किया जाना और

1 Sandilya Sutra 44 Translated & Quoted by Jadunath Sinha in the Cult of Bhakti

2. Nand Lal Sinha Bhakti Sutras of Narad quoted by Jadunath Sinha in the Cult of Bhakti.

महामाबुद्ध द्वारा स्थापित मन्वरिषता का स्तर बहिष्म रहने के मद्दप्रयास बुद्ध-धर्म का विकास में अतीव सहायक हुए। पुन जन-साधारण का सीमाव्य न उसमें हठ्योय या न उसमें गान्त-काण्ड या कमलिल सीधे-साध भावो का अपनाए नीति पर आधा रित यह धर्म का। महारमा बुद्ध द्वारा प्रकाशित यतुसत्य मानव जीवनानुभवो का एक बंध ये इसलिय समस्त ज्ञान म कठिनाई नहीं हुई और दूमरी ओर गान्त अष्ट माग पर जीवन-सापन करना कम या ज्ञान काण्ड म कहीं महत्त था। कम फिर क्या था ब्राह्मणो की लक्ष्णर संस्क्रुत भाषा और यज्ञ-धर्मो म लंग भाए दगबासी इतिगति म लोकभाषा व इस अवेद की ओर बढ़े। हिन्दू-धर्म की नीबें हिल गइ शास्त्रज्ञो-विद्वानो की जीवन-तरी महदार म दगमगा गई। हा सकता था कि बुद्ध धर्म में ही सब लुप्त हो जाता परन्तु पुणो की अल्पता में विकारो का समावेग उनकी मूर्खु से त्री कुछ पतित कहा जाए ता क्या अत्युक्ति ! बुद्ध-धर्म में भी विकृति आई। बल्यमान सरीली उपजाभाएँ उदित हो गइ और वे अपनी ही भाषा पर काबिल पान बडे। जाते बसकर उन्हों की शिष्य-परम्परा में नाय-यथियो न उनकी पुण्ठाओं का बिरोध किया और अपन मव-सम्प्रदाय में हिन्दुत्व की ओर पुन मुन गए। परन्तु बौद्ध-धर्म की उम सामयिक-दुर्बलता स जनुओं न साम उठामा। हिन्दू मतापसम्बियों और धार्मिक नेताओं ने धर्म का चिन्तन व शत्रु में साजर उसकी शक्तिविक पुण्ठमूमि की पुष्टि करनी आरम्भ की तथा एक-पद्धति का अपना कर बौद्धो की दुर्बलताओं का विनाश पीटा और मोगों का यपनी आर पुनराकृषित करन में बहुत कुछ सफल हो गए। इतिहास इस हिन्दू-धर्म की पुनर्स्थापना कहकर पुकारता है।

शंकराचार्य का अद्व तत्वाव

शंकराचार्य विमता मयय मवत् ८४५ म सं० ८७७ है मर्धप्रथम मव-पद्धति प्रकता बहे जा सकते है। शंकर ने परम-तत्त्व को ब्रह्मन् का नाम दिया जोकि 'ज्ञान-स्वरूप' ब्रह्मता 'निगुण' और 'निबिद्यय' स्वरूप-ज्ञान' का प्रतीक है। जब ब्रह्म अपनी शक्ति माया या मूर्ताविद्या मे युक्त होता है ता नगुण मविद्यय या अपार ब्रह्म ब्रह्मवा ईश्वर कहलाता है। तब बह संसार का रचयता पोषक तथा संहारक बन बैठता है यह उसका ब्राह्मणार है। शंकर माया को माय भ्रम नहीं मानता। उसका अस्तित्व अनिर्बन्धीय और अलक्षणीय है। उसका मूल-अस्तित्व नहीं क्योंकि यह चिन्तयता ब्रह्म और केवल ब्रह्म की है बह अनस्तित्व मी नहीं क्योंकि यह ब्रह्म क ब्राह्मणार का कारण बनती है उसमें अस्तित्व तथा अनस्तित्व धर्मों की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि यह ब्रह्म भ्रमण्यक है। जब उम मिथ्या कहना

अधिक उचित है। श्री चन्द्रमर शर्मा के शब्दों में वह करमोह के सीधे के समान मूलतः अनुपस्थित भी तो नहीं वह अभ्यास है।^१

जीव जब तक अज्ञानावृत्त है वह ब्रह्म की इस पदार्थ-सृष्टि (माया) का वास्तविक समझता है अज्ञान का आवरण फटते ही माया का भ्रम भी दूर हो जाता है और मिथ्या-अनित्य संसार की 'गल्पता का भ्रम भी।

संकर सिद्धान्त में तीसरी वस्तु आत्मा है। संकर उसे ब्रह्म से पृथक् नहीं मानता वह स्वयं ब्रह्म है केवल अविद्या या अज्ञान के कारण भ्रम में पड़ी वह प्रायः जपन को परम-सत्य से पुरा समझती है।

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद

ब्रह्म आत्मन् और माया का जो स्वरूप संकर तर्क-बल से स्थापित कर पाया था वह विद्वानों आचार्यों और शास्त्रज्ञों के भिदे तो दुष्प्रामाण्य का परल्लुप्य जल-साधारण हेतु बल और बह भी थीका। ज्ञानस्वरूपी त्रिवुक्त ब्रह्म उनके मस्तिष्क की प्राणकृति के बाहर की वस्तुता थी^२। व्याख्याता महाश्री त्रिभुक्ती म रामानुजाचार्य ने इसे अनुभव किया और संकर के अद्वैत का नव-स्वरूप-विधान के सीधे में डाकड़र विशिष्टाद्वैत का रूप पहनाया। उनमें ईश्वर का सत्य चिह्नम और असीम कहा। उसरी उपाधियाँ और गुण भी भनल और जमीम है। 'तति नेति द्वारा असीम' की 'ससीमता' का निषेध किया गया है। स्वयं असीम का नहीं।^३ रामानुज ने जीव और पदार्थ की पृथक् मत्ता स्वीकार की है परन्तु फिर भी उनका अस्तित्व परम-तत्त्व ईश्वर के अन्तर्गत माना है। डा० रामानुजन् ने जीव और पदार्थ का परम-सत्य से इस प्रकार का सम्बन्ध बनाया है जैसे बर्म का वस्तु के साथ जैसे बस का पूर्ण के साथ या जैसे शरीर का आत्मा के साथ—जो उनमें प्रायः संश्रित करती है।^४ वे (जीव एवं पदार्थ) प्रकृत हैं ता ईश्वर प्रकारी वे निषम्ब है ईश्वर नियता वे नेप है ईश्वर जपी। वे वास्तविक और स्थायी हैं यद्यपि परिवर्तन और विनाश हेतु वे उस परम-तत्त्व ब्रह्म के अधीन हैं।^५ स्पष्ट ही

1 Indian Philosophy—Chandradhar Sharma Banaras University

२ हिन्दी काव्य की रूपात्मक प्रकृतियाँ—डा ब्रजमोहन गुप्त।

3 Indian Plulorophy Vol II p 681 by Dr Radhakrishnan.

Souls and matter are comprehended within the unity of the Lord's essence and are related to the Supreme as attributes to a substance as parts to a whole, or as body to the soul which animates it

4 Indian Philosophy by Radhakrishnan p 685

मानुज द्वारा की गई ईश्वर की व्याख्या में हम तीन मुख्य संकट पाते हैं (१) ईश्वर परम-अस्थ है। (२) वह ब्रह्म है और ब्रह्म सबिद्यप या गुण-परम मुक्त ही होना चाहिए। (३) ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि का नियता है तथा पदार्थ और आत्मान् उन्हीं के स्वर्गत हैं।^१ जो ईश्वर के अन्तर्गत ज्ञान हुए भी अपन में स्वतंत्र है। अपने कर्मों का वह पूरा-पूरा उत्तरदायी है यही कारण है कि बर्द्धन-भोग के लिए वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है। केवल मुक्ति ही एक ऐसा साधन है जिससे वह स्तुत आध्यात्मन के चक्र से बच सकता है। मुक्ति-प्राप्त जीव मूर्ख हो गया के लिए ईश्वर में विधाम करता है। वह ईश्वर कभी हो उसका सभी गुणों का ग्रहण करता है—अपवाद कबल इतना ही है कि उसमें उत्पत्ति मरणाद्योपशान्त तथा संहारा का प्रथम शक्ति सारीक ईश्वरीय गुण नहीं आ पाते। वह ईश्वर में मिलकर ही सृष्टि का आन्तरिक नियन्ता नहीं बन जाता। कहने का अभिप्राय यह कि मुक्ति के उपरान्त ही जीव ईश्वर से कुछ भिन्न रहता ही है।

रामानुज भक्ति का ही मुक्ति का मरस और इतना आधार स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार ईश्वर दयालु है जब कोई उसे दत्त-चित्त स्मरण करता है उसका चेरह में दुःखी हाता और मिलन के लिए तड़पता है उसकी आराधना करना और उपासना में व्यस्त रहता है तो स्वयं ईश्वर उसकी तड़प दत्त उम पर कृपा करते हैं और उस अपन में लीन करने को अपमर हात हैं। रामानुज भक्ति के दक्ष में भा 'आत्ममयप' भाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उन्होंने इन 'प्रपत्ति' कहकर बुझाया है।

वत्सभाषाय का शुद्धाद सवाद

पन्त्रहवा जनाग्नी के प्रथम दशाब्द में मुसलमानों के अत्याचारों में पीड़ित जनता प्राण नौ खोज में भयवर्णरज की अपेक्षा रखती थी। जकर तथा रामानुज के निर्दुष्य एवं सबिद्यप ब्रह्म जनता की हृदयी मर्यादा की पनधार बनन में असमर्थ थे। मार्गा को ऐम भयवान् की आशयकता थी जो गज की पुकार सुन कर नमि पाँव दीड़ पड़े जो इतना दम को उबारन के लिए गौरव तपारी बन जायें और जो मरणा के पुंज बन भास में बिदुर का बनूना भाव भी ग्रहण करें। जनता को आश्चर्यकता थी उस भगवान् की जो मरुत पर आई बिपति देख मुदर्शन में पड़ दीड़ भक्त के शत्रुओं का शत्रु और मरुत के मित्रों का बरदान बनकर रहे। समय की इन माँग का अध्ययन वत्सभाषाय ने किया और अदृष्ट तथा बिशिष्टाईन के समकक्ष जनकारी बन शुद्धादत की स्थापना की। अन्त्य में ईश्वर को मगुण माना जिसका साधन

4 Indian Philosophy by Chandradhar Sharma

स्वरूप वासुदेव श्रीकृष्ण में उपलब्ध है। वे परम दयालु हैं जनता की पुकार पर सहायताय दोगने तथा भक्त के मन में रहने वाले हैं। माया उनकी सत्त्व शक्ति से किन्हीं कित्ती भी रूप में उगरी कोई स्वतन्त्रता सत्ता नहीं है। उसका कार्य-धर्म तथा सन्निभता दोनों ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। ईश्वर सभुज है उसका अघ और असीम गुण हैं। मत् चित् और आनन्द' उसका प्रधान गुण है इतीतिव उ गच्छिद्यानन्द भी कहा जाता है।

भीष भी ब्रह्म है परन्तु उसमें आनन्द का मुक्त नहीं होगा। शीघ्रता व भविष्यता युक्त हो संसार में कुत्त-मुक्त रहने करता है। यदि भगवत्-रूपा व उ आनन्दीय मिल जाय, तो वह जगतातीत हो जाता है और प्रकृतत् मुक्तयुक्त हो स्व ब्रह्म बन जाता है। यही मुक्ति है।

बल्लभ का मत है कि ईश्वर जब अकाल रहते तब आनन्द तभी उसने अपने इच्छानुसार अपने ही म स जीवा और सृष्टि का निर्माण किया। स्वयं ही कर्मों जीव और सृष्टि ईश्वर या ब्रह्म का अक्षर है वे सत्य ही हांग। ब्रह्म म स जीवों व आविर्भाव अन्ति सं स्फूर्तता की मूर्ति होना रहता है।^१ इस सृष्टि का विकास परम कभी बीसा नहीं पड़ना। बल्लभाचार्य मुक्ति-प्राप्ति का एक मात्र साधन ईश्वर कृपा का मानल है जिसे वल्लभीय भाषा में 'पुष्टि' कहा जाता है। इसी स बल्ल के सुखाड तथाक को 'पुष्टि मार्ग' भी बोधत है। म्याल रहे पुष्टि की प्राप्ति भगवत्प्रकृति व ही होती है। पुष्टिमार्ग का उच्चतम मध्य मुक्ति मही प्रत्युत श्रीकृष्ण की अबाध और शर्वांगीण सत्ता है जिसमें जीव श्रीकृष्ण के वृत्तावन विहार म भा संने की याग्यता प्राप्त करता है।^२

दोड़ दार्शनिक

उची-दबी शक्ती के दार्शनिक म वेद-बहिर्ग आचार का ह्य पापित करन की प्रकृति बहुत ही प्र है। व लोग सत प्रकार व आचार मानत थे जिनका उत्तरात्त-धेयत्त म इय प्रकार है—वेवाचार, वेप्यवाचार, सवाचार, बदिणाचार, वामाचार, सिद्धावाचार और वीलाचार।^३ कौलाचार वाले किसी भी नियम का स्वीकार नहीं करते। वामाचारी तो नारी-भोग को ही मुक्ति का मार्ग मानत थे। पूर्व की बार जिन बख्तवानी दार्शनिकों का प्रभाव था वे वामाचारी दल के ही थे और सिद्ध बहूलाते थे। जनता उनसे पर्याप्त भयभीत रहती क्योंकि वे अति सिद्धियो व पापक व और

१ टा० कृष्णमहल मुक्त—हिन्दी काव्य में रहस्यमयक प्रकृतियाँ।

2. Indian Philosophy Dr Radhakrishnan p 760

३ गण्यमतीन धर्म शाधना—हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० १६ १७।

पनता का विश्वास था कि वे असौक्यक शक्ति-सम्पन्न होंगे थे। बिहार के गाँवों में धीरे-धीरे कमिश्नरिया नामक प्रसिद्ध विद्या-पीठ इनके खड़े थे। बस्तिमर शिमरी न नर इन स्वानों का उजाड़ा था वे साधु-विठर-विठर हो गए। बहुत से गाँव भाँटि बन्ध देनों का बसे गए।^१

दसवीं शताब्दी तक अतः न जाय हिन्दू धर्म पर्याप्त सुदुर्गता की पुनः प्राप्ति का बुका था। परन्तु बौद्ध धर्म में टान-टोटके की मूर्ति भी बढ़नी जा रही थी। भारत में मुसलमानों के आगमन से यमात्र में एष महत् नरति जा रही थी। हिन्दू जाति का एक और मुख्यस्थान और स्वतंत्र विचारधारा की पोषण प्राति का धामता करना पड़ रहा था। दोना में आत्मरक्षा की मावता उत्तरोत्तर बढ़नी ही गई और दोनों अलग यमात्र की निर नवीन किमा-बन्धियाँ करने लगे।

माय-बंध

माय-बंधी योगी भी बख्शान सिद्धों का ही एक शाखा है। जा कि उनमें दूर कर अपने साधन और साध्य का परिवर्तित करने में ही भय पानी रही है। जहाँ बख्शान वीमत्याचार और अस्वीमता में ही अपनी करामातों की महानता समझन थे वहाँ माय योगियों ने पारलक्षित द्वारा स्वर्णित योग का साधन और स्थिर प्राप्ति के चरम-मदय की साध्य रूप में अपनाया। मारलनाथ (११वीं शताब्दी) एष प्रथम स्वर्णित मिश्र हैं जिन्होंने अपने मत का कुछ नाम प्रचार किया और हठमान तथा मनोमारण की क्रियाओं की शिक्षा दी। "मोरल न अज्ञपा जाय द्वारा बंधन मन का स्थिर कर बहुरंध्र महारल का योगामृत उपलब्धि की विधि बताई है।—स्वाध क्रिया की धीरुनी के सहारे ही रण जमाकर उक्त कार्य सम्पन्न किया जाता है।"

—(मोरलबानी (साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) पृ० ११-१२ पर ६। आचार्य परमुराम बसुकी द्वारा उद्धृत)

माय बंध में जाति-प्राप्ति का कार्य बन्धन नहा था अतः निम्नजाति के लोगों ने इन सम्प्रदाय का शायुर्गा की अग्रा मन्ध्र आभय लिया। क्योंकि माय बंध एकरबरेवाद का सकर बना था इसलिये मुसलमानों के लिए भी उमम आकषण था। अतः इन बंध की अपनाने वाले हिन्दू-मुसलमान दोनों में—स्पष्ट है हिन्दू मुसलमानों का समान व्यवहार और एक मन्त्रि-मार्ग देने में माय-बंध ही सर्वप्रथम दृष्टा है। यहीं में निम्न बंध का उदय होता है।

महाराष्ट्र में भक्ति

मोरलनाथ ने महाराष्ट्र में भी प्रचार किया था। वहाँ के प्रसिद्ध संत जानरब

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृ० ६।

(ज्ञानेश्वर) ने भाग्य का गारुड की शिष्य परम्परा में स्वीकार किया है—आत्मेश्वर नाम मरुत्सुताय गारुडनाय गरीनाय निबुत्तिनाय ज्ञानेश्वर । ज्ञानेश्वर के उस कालीन महाकाण्ड में प्रसिद्ध महात्मा नामदेव हुए हैं । वे जानते थे छोपी में । कहते हैं कि जब परमुराम ने क्षत्रियों का नाश करने का बीड़ा उठाया उस समय अपने को बचाने के लिये इनके पूर्वजों ने अपनी जानि सिपानी भी अग्निकाश में भी भूत-क्षत्रिय में । बाद में जाति क्षिप्तान के कारण छोपी कहलाने लग । मुनते हैं कि एक बार ज्ञानेश्वर इनको साज सेकर तीर्थयात्रा को गए । वहाँ एक रात जब एक महात्मा जन मिसरर बैठे ता किसी के इस प्रस्ताव पर कि बताओ कौन पनका है मजबान महात्मा ने जाकि कुम्हार के अपने गिट्टी ठाकने बास ठपके से सब के सिर पर जाट लगानी शुरू की और जब नामदेव की भारी भाँ हो के सिहर उठे और कम्प होपित कर दिये गए ।^१ इस घटना के बाद नामदेव ने गुरु की आज्ञा की । (ध्यान रहे वहाँ से निगुण परम्परा की 'गुरु दिन गति नहीं होय' का श्रीमशेष हो जाता है ।) एक दिन मरिचर में उगहाने एक व्यक्ति को बिटुम की मूर्ति पर पर रहे सत देखा । मूर्ति का अपमान न सह सक शीघ्रता से उस व्यक्ति के पैरों का मसीन कर दुसरी ओर कर दिया । देखत है कि मूर्ति भी साथ ही धूम गई । फिर क्या का सोजी को गुरु भिम गया । नामदेव उनके चरणों में गिर पड़े और उससे वीसा सी । उस व्यक्ति का नाम था विशोबा खेचर । सत नामदेव ने नगबद्धमति के अनेक पदों की रचना मराठी और हिन्दी में की है । इनके कुछ पद 'गुरु प्रथ साहिब' में भी संगृहीत हैं । भारत की सक्ति परम्परा में इनका नाम सगुण और निगुण चाराओं के बोराहे पर आता है । सम्भवतः ये पहले सत हैं जिन्होंने हिन्दू मुस्लिम ऐक्य अपने ही जीवन में गुरु के महत्त्व तथा निगुणान्मुखी सगुण बाणी का सादानु अनुभव प्रयाग किया और जान बासी 'निगुण-भारा' का मार्ग जोस दिया । हिन्दू-मुसलमान पाना जातिधर्मों में अपनाए भव पाषण्णी की बटु आभोजना भी नामदेव से ही मारम्भ हा गई थी बाद में कबीर ने इसी का आह्वान किया ।^२

१ इस घटना का वर्णन बहुत से आचार्यों ने किया है तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आचार्य परमुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में और डा० दिनय मोहन शर्मा ने 'महाराष्ट्रीय संतों की हिन्दी का देन' में ।

२ हिन्दू अर्थात् गुरुद्वारा बाधा कहलाने निजानी सिपाना ।

हिन्दू पूर्व देहरा मुसलमानों मसीन नामे सार्व सविज्ञा वह वहरा न मनीत ॥

—आदिपञ्च राय कीड़ नामदेव की बाणी पृ० ८७३ ।

सूफी-भक्ति

सन्त नामधर स बहुत पहल भारतवर्ष में मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो चुके थे। मुस्लिम विजयों में जब पठानों ने भारत में अपना राज्य जमाना शुरू किया तो उनके साथ-साथ मुस्लिम धर्म भी भारत में फैलने लगा जिसका पर्चा पीछे की जा चुकी है। मदनभग १३वीं शताब्दी में मुसलमान मशायदों की कुछ टोपियाँ गमन बोगियों की भाँति चूमती फिरती भारत में आई। इनमें सुप्रसिद्ध गेजी निरिहया टाकी कहलानी है जिसने भारत में सबप्रथम अपने विचारों का प्रचार किया। इसका प्रचेता ब कुरानासत ब बिस्तरनम-नामी अबू इसहाक गामी फिस्ती। इन्हीं की शिष्य परम्पर में मुहनुदीन चिश्ती (सं ११११ स १२१३) भारत में आए और साहौर (पंजाब) में सातागज (यह अबुस हमन अबूहृम्बरी प्रसिद्ध सूफी फरीद की समाधी है) के चिश्ती स पहले आए ब परन्तु प्रचार का आन्तरिक धर्म मुहनुदीन स ही होता है) के पास ठहरा। वहाँ स संवत् १२०० में ब अब्दुल पसे पय खौर बहा मे अपने मन का प्रचार करने रहे। आज भी उनकी समाधी (दरगाह) अब्दुल में चिश्तियों का मक़द' नाम स प्रसिद्ध है और हर वर्ष सोय वहाँ विचारण के लिए आते हैं।

सर्वमान्य विषय है कि एक कभी धर्म स बाह्याङ्गक बड़ आए आन्तरिक अबन्धा कुराचारपुन और पालकमुक्त हा तो उसकी प्रतिश्रिया रूप में कोई न कोई विद्रोही पदा होता ही है। कैथोलिकों के विराध में प्रान्सेट्स का पैग हाता हिन्दुओं की गन्दगी के विरोध में सिक्खों का उग्र जिस प्रकार प्रतिश्रियाएँ हैं हमारे मन में ठीक वस ही मुसलमानों की लयाफत के विरोध में सूफियों का उदय हुआ है। 'अदरलमुहम्मद के पहाबमान (संवत् ६८८) के बाद लमीफा मोगों अबूबकर (मृ० स० ६११) उमर (मृ० स० ७०) उनमान (मृ० ७१२) और अली (मृ ७१७) तक कार्य सहायार पुन और नाति संगत बमता रखा। बाद के लमीफाओं स बेदन-गजनाति अपनाई और फलके आदि दन का पावण्ड रखा। एम ही बाताबरण की प्रतिश्रिया में सूफीमत का आरम्भ हुआ।^१ एतत् ही भारत में सूफियों का आयमन १३वीं शताब्दी में होने हुए भी अरब देशों में यह सम्प्रदाय शताब्दी शताब्दी स लल निरुसा था। मुस्लिम जन-श्रुति के अनुसार सबप्रथम सूफी फरीद बिमा शल अबू हाशिम को माना जाता है जिन्होंने मसोपानामिया में एक मर बनाया था और वहाँ स दस मल के विकास का मय उन्हें दिया जाता है। उक्त स आरग प्रबत लल अलक सूफी महात्मा हुए। मुस्लिम धर्म के ठेकारों न उन्हें

१ सूफी वाक्य संग्रह—परतुराम पशुबंदी तथा तर्जुमा कुरान शरीफ (सूफिया)—
मद हुमाय अबन्धी।

अनक गप्ट दिय । मसूर सरीखे महापुरुष पर काफिर का फनवा मगा सुनी (सन् १७६) पर चढ़ा दिया । वृसगुत् मिल्की का कठोर कारावास का दण्ड दिया और महान् मुस्लिम महात्मा मौलाना हम क बौद्ध धम्मस तबरेज की काम लिखवासी गई । भारत में आने पर मूफियों और मुस्लिम बिद्वानों में धर्म प्रचार के क्षेत्र में मतभेद रहा । मुस्लिम बिद्वानों ने उसबार के बय पर धर्म फैलाया तो मूफियों ने अपने पमखार के बस पर । सच पूछो तो दोनों काम शरीअत के विरुद्ध हुए ।^१

सूफी साधना का अन्तिम मध्य है इस्म (ईस्बर-मिसल) । भारतीय साधना इसी मध्य की लिये आबतब प्रगति करती आ रही है । इस मध्य को देखकर भारतियों को इनमें अधिक आत्मीयता दिखाई दी और भारतीय पद्धतियों पर मूफियों के सख-मिडि-यस का पर्याप्त प्रभाव पड़ा । सूफी साधना बका (गुरुत्व होता) को जीवनोंरेख्य मानती है । प्रस्तुत जीवनोंरेख्य तथा चरम-मध्य 'बस्' तक पहुँचने के लिये मनुष्य को मारफत की स्थिति में ऊपर चलना हुना है । जीवन में पवित्रता प्राप्त करने वाला व्यक्ति जब ईश्वरीय-ज्ञान का पिठन करने लगता है तो बही मारफत की अबस्था होती है । दूरी अबस्था 'इस्क' की है । ईश्वरीय ज्ञान का विस्तार जब आबेगमुक्त हो जाता है तो इस्क (प्रेम) का उदय होता है । 'स्क की स्थिति कभी-कभी उग्मावमयी हो जाती है । यह तीसरी स्थिति है जिसे 'अर' कहते हैं । इसमें साधक कभी समाधि में प्यो जाता है । चौथी स्थिति बही चरम-मध्य है जिसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य तड़पता रहता है । इस ही 'बस्' बोलते हैं । कुछ सूफी काव्यों में शरीअत तरीकत हकीकत और मारफत नाम के चार मोपान उपमख है । इन घोपानों पर पहुँचने के लिये मुरीब (लिप्य साधक) को मुबिब (गुरु) का महाग अवैसित है । मुब को पीर भी कहा गया है और यह पीर ही वास्तव में रसूम और अस्पाह तक पहुँचाने का उत्तरवासी होता है । परन्तु ध्यान रहे पीर केबस तभी सहायक हो सकता है यदि मुरीब अस्पाह अनम्य प्रम के बुम्बर की आर स्वयं सिखता रहे । वास्तव में 'प्रेम' सूफी-सिद्धान्तों और सूफी काव्य का प्राण है । महा इय बाल में है कि वे तीब खुदा के प्रम को मध्य करके सेपनी नहीं उठाते । साधारण सांसारिक प्रेमो-प्रमिका की कहानी कि^२ और तपोरामन उनके कपक का रहस्योद्घाट^३

इस्क-मिजाबी

मध्यकामीन

१। -
यही मा

०। की आर ध्यानाकपित करन

२- संत-कवियों पर पर्याप्त मात्रा

३- प्रेम-कथाओं को अधिक

४- मफन

बल्मु मूर्धिया द्वारा अपनाया जाने वाला प्रेम और गुरु का स्वरूप 'निगण-सन्त परम्परा' के आधारम्पनों में स्थान पाने का मौखिक भी प्रान्त कर गया ।

कबीर और निगुण-सम्प्रदाय की नींव

पंचाश में पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति के उदय उद्ग पहुँचान के लिए अनी हमें निर्गुण सम्प्रदाय के प्रवर्तक कबीर और उनकी नवीन-व्यक्ति पर विचार करना होगा । पीछे हम जयहू मगड गंकेत वे चुके हैं कि मकर का बेगमन भावपंथ का ह्ययोग और मूर्धियों का प्रेम मयी समीचीन रूप में निर्गुण-गण के निर्माण में प्रतिपात होने ला रहे थे । समय-समय पर पूब-विचारकों ने एमी प्रणामियों का धीगणेन कर दिया था जा अनन्त कबीर मरीन महापुरुष द्वारा समन्वित हाकर नियुक्त भक्ति की पारा बन गए । भक्ति के त्रिस स्वरूप को कबीर ने अपनाया बहु दक्षिण में उत्तर की ओर मगत बिकाम पा रहा था । रामानुजाचार्य ने त्रिम विगिण्टात की नींव रखी थी और प्रपतिवाद की भक्ति का सर्वधष्ट बनाया था बहा नियुक्त-गम्पण का आधार बनी । रामानुजाचार्य की ही सिष्य-परम्परा में पन्द्रहवीं शताब्दी में बामी में रामानन्द का उदय हुआ जिन्होंने बिष्णु के अवतार राम की पूजा पर जोर दिया और रामानन्दी सम्प्रदाय की नींव रखी । उन्हीं दिनों बन्मनाचार्य ने प्रममूर्ति मानन्दकन्द ह्युण की उपासना का रमशन जनता का दिया । (पीछे इसका वर्णन हो चुका है) भक्त्यास की टीका में रामानन्द का मृत्यु-समय मवत् १२०२ बताया गया है और कबीर के प्रम मृम्बधी विवाद का निबोध-दिन्दु मवत् १४२६ ठहरता है । इन कबीर और रामानन्द का मित्राण बडा स्वाभाविक है । कबीर-गणियों में प्रचलित यह पर—

भक्ति शशिङ्ग अयनी जाण रामानन्द ।

प्रपद किम्मा कबीर ने सप्टरीप मवसण्ड ॥

मिड करता है कि रामानुजी-परम्परा में कबीर ने बहुत कुछ पाया परन्तु वह सब रामानन्द के ही संमर्ग में पाया यह बिकाराग्यव विषय है । रामानन्द बिष्णु के अवतार राम के भक्त थे परन्तु कबीर अवतारवाद का स्वीकार ही नहीं करते । कबीर के द्वारा रामनाम का जाण या रामोपासना बही यह मिड मही करती छि वे मर्याणागुणोत्तम दत्तरकमुठ राम के भक्त हैं । एक पद के अनुसार, जो कि कबीर का निम्ना बताया जाता है राम चार प्रकार के गिन गए हैं—

एक राम बहारब का बडा

एक राम घटि-घटि में बीटा ।

एक राम का सकल पतारा

एक राम सबने म्यारा ॥

इसमें बसव-मुक्त राम को तो मृष्टि का सर्वोच्च माना ही नहीं गया। बहुत सम्भव है कि कबीर सबसे ग्यारह राम' के गत रहे होंगे। दूसरी बात जो कबीर और रामानन्द के लिप्यन्व-गुरुत्व सम्बन्ध में विवाद बन रही है वह है रामानन्द का कट्टर ब्राह्मण होना। मित्र इतिहास और काव्य प्रकाश यह देखने को मिलाता है कि रामानन्द बड़े स्वतन्त्र विचारों के पुत्र थे और उनके विषयों में बहुत से निम्न जाति में लोग व परन्तु इसका प्रमाण कोई उससम्बन्ध नहीं। और फिर कबीर तो मुसलमान घराने में पसने के कारण मुसलमान गिने जाते थे। रामानन्द में यदि नीची जाति के लोगों को बीदा दी भी होगी तो वे हिन्दू व मुसलमान नहीं। फिर भी कबीर के ये बरद 'कामी म हम परगल भय रामानन्द बनाए' विद्वानों के लिए एक विरगद बने हैं। कबीर बचपन में ही ईश्वर प्रेमी और भगदोपासक थे। व साधु संगत और मन्तोपदेश में बड़ा रस लते थे। इन्हीं से समय-समय पर कभी बेदान्तियों और कभी नाथ योगियों कभी सूफियों और कभी वज्रियों के सम्पर्क में आने के कारण उन्होंने बहुत कुछ सीखा था। बेदान्तियों में उस जीव और ब्रह्म के ऐक्य का विचार, नाथयोगियों से अन्तस्थापना सूफियों से प्रेम और मुक्त भक्ति और वैष्णवों में अहिंसा तथा प्रपत्ति के विचार मिले थे। उनसे निराकार ईश्वर के लिए भारतीय बेदांत का पस्ता पकड़ा और उसकी भक्ति के लिए सूफियों का प्रेम तत्त्व अपनाया।^१ हिन्दू-मुसलमानों की एकता का भाव भी उन्हें नाथ-वचिसा में मिला चुका था—जाति-पाति और ऊँच-नीच की जेसा सिद्धों की देल भी। इतनी सब विचार बीचिया से होना हुआ कबीर एक निमय पर पहुँचा था और बस पहुँचने के कारण 'पहुँचा हुआ' कहलाता था। इन्हीं 'पहुँच' के कारण वह सब प्रकार की मात्र-मज्जा खबकर लोगों का अगुद मार्ग पर जाने देल टोकता था जोसता था और सगमार्ग पर बसने के उपदेश देता था। यह काम पर्याप्त समय तक चलता रहा परन्तु बाद में लोग उस पर निगुरा (गुरु-बिहीन) होने का आरोप समाने लगे। विचित्र बात थी कबीर सरीने भाग्य-गुरु पर निगुरा होल का आरोप! अस्तु कबीर ने गुरु की खोज की। उस युग में कबीर को ऐसा कोई न दिसा जो उसका गुणपद ग्रहण करे। रामानन्द का समाज में पर्याप्त मान था। सोचा कि उन्हें ही गुरु-स्थान की दिक्कत का पूरक बनाया जाए, परन्तु रामानन्द जिन्ही मुसलमान को लिप्य बनाने को कभी तैयार न थे। कबीर-वचियों में प्रचलित एक जन-श्रुति^२ के अनुसार कबीर एक बार मुह अंधरे ही पंचनका के उस भाग पर जा बैठे वही रामानन्द स्थान

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—भाषावै रामचन्द्र मुक्त पृ० १४।

२ डा रामकुमार वर्मा ने भी अपनी पुस्तक 'कबीर का रहस्यवाद' में अपना कुछ परिपक्व बर्णन किया है।

को प्रतिदिन बाते थे। अंधेरे में कहीं उनके घर की नोकर कबीर के सगी और ब बचनमात् राम राम कह उठे। बस फिर क्या था कबीर ने घोषणा कर दी कि रामानन्द उसके गुन हैं। रामानन्द न जब पूछा गया कि उन्होंने कबीर को शीघ्रा कब दी तो उन्होंने इंकार किया। भेंट होने पर कबीर द्वारा नदी तट की बत्ता याद दिखाने पर भी रामानन्द न उन्हें शिष्य स्वीकार नहीं किया परन्तु कबीर उम दिन से अपने को रामानन्द का शिष्य ही महत् रहे। यही उपरोक्त उक्ति का कारण भी है या प्रमाण रूप में उन विद्वानों द्वारा जुटाई जाती है जो कबीर को रामानन्द का शिष्य स्वीकार करते हैं।

कुछ आचार्य शेरानकी का जना गुन मानते हैं वह भी कुछ अचना नहीं। कबीर की इन उक्ति—

बटि घटि है सबिनासी सुनहु तकी तुम लख ।

से तो कबीर ही शेरानकी को उपदेश देते बीच पड़ते हैं। हम डॉ० रामकुमार वर्मा के 'म कसन कबीर शेरानकी के मतों में रहे होंगे या उनका कुछ पारस्परिक व्यवहार होना' से अक्षरत सहमत हैं।^१

अब प्रश्न उठता है कि जब कबीर का अपना गुन कोई नहीं था, तो वह 'गुन बिन गनि नहीं होय' की धारणा से गुरु का ईश्वर से भी बड़ा मानन तथा सबका गुन की सोच करने और उसकी भक्ति में रमने का उपदेश दान का माहस क्योंकर कर सकते हैं? उत्तर स्पष्ट है—परिस्थितियाँ आदमी को बनाती हैं आदमी परिस्थितियों को नहीं। समाज की प्रतिकूल परिस्थितियों न कबीर को बहु देवत्व प्रतिदान में दिवा था जो जनता की चाहि चाहि की पुकार सुनकर भगवान् स्वय उनके ज्ञान-यात्र को लेने जाय है। परिस्थितियों ने कबीर जैसे महारमा द्वारा धर धर्मों के पाठकों की बटु आलाचना अपेक्षित कर दी थी। उसे ऐसा करने के लिए एक आत्मरिक्त-भक्ति आत्मरु-बन मिता था जो जम-साधारण में प्रत्येक को प्रति गमय नहीं मिल सकता। हिन्दू धर्म हो या मुसलमान सभी ईश्वर द्वारा दी जान वाली उपयुक्त भक्ति को स्वीकार करते हैं। गीता का श्लोक—

यदा यदा हि धर्मस्य तानिर्भवति माच्छ ।

समुत्पानसु धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ अध्याय ४ श्लोक ७ ॥

तथा कुरान के अनुसार 'गुनाइ और कुरु (पाप और नाभिक्ता) को मिटान और

१ कबीर का रहस्यकार पृ० १८६।

२ धीमन्मगवद्गीता—गीता प्रेम योगपुर।

मही मार्ग दिखाने के लिए ईश्वर हुआ न किमी महाम् ललित, ईश्वर दूत बसी पंगम्बर अबबा जननायक का अवतार हुना है? साहि हलके प्रमाण हैं। ईसाई धर्म भी इस बात को स्वीकार करता है कि अब ममार न जनता कल्पयुत हो पुकारती है ता खुदा अपने बटे को उसके भाग क लिए भयता है। कबीर को बही ईश्वर प्रबल ललित मिमी थी अतः गुरु के न होने हुए भी वह स्वयं भगवदानुकम्पा क कारण दूमरो का गुरु होने के योग्य था। उनक द्वारा जम-साधारण क लिए गुरु को महत्ता स्थापित करन। बास्त्वक म अनुभव-मिड संकन है। वह दूमरों को एमा मार्ग दिखाना चाहता है जिन पर चमता हुआ तर एव मनुष्य उम चरम-मदय तक पहुँच सके जिनका संकेत निर्गुण-बाग का प्रत्येक कवि करता सीमता है। गुम मार्ग-वर्षक है वह अज्ञानान्धकार म ठोकरें छाने की अपशा जीव को प्रकाश दिखाना और मन्मार्ग पर चमता है। जिसम जीव की वह यात्रा को सम्भवतः अतक जर्मों म भी पूरी न हा एक ही जीवन म र्जन्य उत हुए अनुभव कर सी जाती है। गुरु की नम महानता मे अहिं नहों मूवी जा सकनी और इसी कारण स कबीर उनके गुण गाता और उसकी मन्मयीयता को ईश्वर स भी बड़ा मानता है। कबीर न जान विदने जर्मों में कबीर बना? परन्तु बाहरी गुण ललित! तुमने इसी धर्म में मनुष्य को बड़ा बना लिया।

३ तर्जुमा कुटानवरीक (परिषय)—भी महमय कबीर।

४ महाम्मा कुड क कुड बतन क सम्बन्ध म बीड-विचारक इसी वृत्ति-बाग को अपनाए है। बीड-दशन के अनुगार मनुष्य जम-अमाल्लरो के मनुष्यों के कारण एक ममय ऐसी मुह्यकरना म पहुँच जाता है कि निर्बाध-गद का भागी बनता है। मने स्वयं भी आनन्द गौमस्थापन जोति अन्तर्राष्ट्रीय स्थापिताया बीड-मिडु है म यह प्रबल किया था कि अब बीड भारता का स्वीकार ही नहो करते तो एक बार मरने के पत्रबाग बोबारा ज म मने बासा कीन होना है? क्या वह बही है या बदल गया है? यदि बही है तो मरने पर वह उतनी देर कहाँ खूवा है जब तरु बोबारा जन्म नहो म मना? इसके उत्तर मे आनन्द जी ने सुझावा था कि मरने और पैदा होन बास म सम्बन्ध न है का है और ना 'नाई' का है। जैम दूध और बही म होता है। जैम दूध के मरने पर बही और बही न मरने पर छाछ और छाछ क मन्मय से माखन और उसकी मूष्यु पर बी की उत्पत्ति होती है ठीक वैसे ही मानव हर बार एक कदम उत्पत्ति करता है और अन्ततः निर्बाध पन की प्राप्ति करता है वैसे कुड ने किया। कबीर क सम्बन्ध में भी एही उत्पत्ती उपलब्ध है कि वे कई बार मानव जैम में आए और जोड़ा कुड बाई पूर्णकर सीट गए। परन्तु अब जबकि जनता अति पीड़ित हो गई है और

(धिये अगले पृष्ठ पर)

कबीर की स्थिति देखने हुए निरवध ही जमा प्रतीत होता है कि त्रिगुण चारा का बहाव भक्तिपाण प्राप्तयोग तथा कमयाग का विवेकी-मंगम है। कबीर के भक्तियोग पर सम्पूर्ण भारतीय भक्ति परम्परा का त्रिमम मुख्यतः पुराणों का विश्राम नारण भक्ति मूत्र के प्रकृत और एतः कः सम्बन्ध गीता की प्रथमयी यथा विमिष्टा इत की प्रवृत्ति और मूर्धियों का प्रम-उत्तर मुख्य है प्रभाव स्पष्ट दृष्टियत होता है। ज्ञानयोग में गीता का ज्ञान कुरप्राम की स्पष्टवादिता और संकर के मद्रतवाण का स्वल्प जयह प्रगह समरुता है। कमयाग में बाहरी भाषार-विषागों की मुक्ति के अनिच्छित पालंजनि की योगिक विम्यादा का वर्जन भी त्रिमम-विपर उपास्य है। इतना ही नहीं विद्यों व प्रभाव में मिली उपलब्धियों नाय-यव व प्रभाव म हूँ योग की विचारें तथा प्राति-प्राति और लंब-मीच के भाषा का त्याग और सर्वोपरि मुमसमानों का एकेस्वरवाद तथा बेल्लकों की अहिंसा-भावना मत्र भक्ति की इम त्रिगुण-सन्त-परम्परा के आभूषण है। पाइ में यह कहा जा सकता है कि कबीर द्वारा प्रवर्तित यह सन्त-परम्परा जो काव्य-क्षेत्र में त्रिगुण भक्ति-मार्ग बहामार्ग मुग की प्रतिक्रम परिस्थितियों के फल-स्वरूप उत्पन्न हुई थी। इस की सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था विषय हा चुकी थी। समाज में जातिभेद के कारण इस बपट द्वेष अब कटुता और हिंसा का माप्राभ्य था। नीची जातियों पर माभाषार हो रहे थे। मुमसमानों और हिन्दुओं में घृणा बड रही थी। धम के नाम पर रक्त बहाया जा रहा था। हिन्दुओं ने गीता के उपलक्षों और मुसलमानों म शरी अण की भाषात्र को मुमा दिया था। पंडित और मुस्ता दोनों बम-दण्ड विष् बिसाम में पड़े व और जन-माघारण गाजर-मूर्ती की तरह बण रहे व। तरह-तरह के पाषण्डों ने समाज क्षीन हा गया था चारों धार स्वाय का मूर्ती बायता था। राजनीति म दुष्टता और दुष्टिना अनीति और अय्यवस्था गर्भे रही थी। मुमसमान आवक आँसे मुदे अपनी हिन्दु जनता को मुस्ताधों के दुर्नीत फल पर भूष ठेरा क मापन ठाम बना चुत्तों ने बताया धूमि पर सपकाना मामूली बात समझते व। हिन्दुओं की बहु-नेत्रियों कुम्भान के पसल भाषार पर मुमसमानों की बासनापूर्ति का सामान समझी जा रही थी किसी का स्वाभिमान सुरक्षित न था। दबासय कथिल निये जाने मूर्तियाँ लोही-जानी अवरुधकों के तिर फाई ज्ञान और मन्त्रिदा की

(निम्न पृष्ठ का अर्थ) —

उमका उच्चार अन्वयार्थक है व कबीर बनकर भाग और निरीह जनता को मुक्ति-मार्ग समझि लये।

मत्र बरमन बहिष्ण इम मेया इमही जनीत रूप नहीं रेया
इमही भाग कबीर बहावा हनही जाना जाय समाना।

नीमें रखी जाती। अभिप्राय यह कि सब ओर शासमान हो रहा था। हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने-अपने स्वाध को रोने लगे। अत्याचारों में साधारण-जनता भाग चाहती थी। किसी का विरोध करना मृत्यु का आह्वान करता था। कोई ऐसा सेर दिस अपेक्षित था जो मरे-बाजार समुद्र-आचरण करम बान को टोक सके, रोक सके और यदि सम्भव हो तो मार्ग विस्तार सके। आवश्यकता थी ऐसे फलक की जिस संसार समाज जाति राजा प्रजा और फलकों की परबाह न हो—ऐसी भयंकर विपरीत स्थिति में केवल ऐसा ही उद्घाटन महामानव जनता की रक्षा कर सकता था वह सुधारक बल जननायक कहला सकता था। वह कार्य कबीर ने किया। निर्गुन-मारा सुधारक-आन्दोलन के रूप में अपनी पूरवर्ती भक्ति-परम्परा के उपरुक्त मय सुभाषारो को अपनाए सब धर्मों के आदर्शों को समेट हुआ अत्याचार तथा धार्मिक मलिनता के विरुद्ध युद्ध की दृष्टि भी बजाती उल्लोत्तर अग्रसर हुई। मूल रूपी हुआ न उद्वुपीन धर्मों का नीर धीरे-धीरे निवेशन कर दिया और एव मा मम्प्रणय की नींव रखी जो सब का साक्षात्कार और सत् का परम्पराती। यही वह मम्प्रणय है जिसने पञ्जाब में गुरु परम्परा का वरदान दिया।

पञ्जाब में भक्ति-आन्दोलन का उद्भव

कबीर के समय जिन ममस्पर्धी सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों का वर्णन पीछे किया गया है वे उत्तर प्रदेश तक ही सीमित न थी सम्पूर्ण उत्तर भारत उनका शिकार बना था। और फिर पञ्जाब भारत-मवल का सिंह-द्वार, जहाँ से मुस्लिम आतिया या आगमन हुआ था क्योंकि मुन्नी और मम्प्रणय रू सक्ता था? पुराना कथन है कि जो आति पञ्जाब को पराजित कर जान बड़ी वह देश में नहीं और हार नहीं मानेगी। भारत-रथा हेतु कुर्ग की भाँति पञ्जाब ने मुसलमानों में भी सोझा मिया था परन्तु दुर्भाग्यवत् परस्पर घूट और प्राकृतिक-क्षोभ के कारण पञ्जाबी-क्षेत्र मुसलमानों के प्रबाह को शक न सके। पुन यह स्वाभाविक बात है कि आनमलकारी को जहाँ अधिक कठोरता का सामना करना पड़ता है, अधिक हानि उठानी पड़ती है विजय के पञ्चायु रम क्षण में वह भयंकर प्रतिस्पर्धा लेम से टसता नहीं। यही दसा पञ्जाब की भी हुई। पञ्जाब मुसलमानों के द्वारा मम्प्रणय सर्वाधिक रलित प्रदेश बना। सामाजिक स्थिति बहाँ भी बही थी जो पन्द्रहवीं शताब्दी में क्षय उत्तर भारत की रही। धर्म के क्षेत्र में लाल-मिठा और मूर्च्छिनी के करामाती इन्द्र जनता को दोनों के प्रति सम्यक् बताना हुए थे। गारसनाथ के द्वारा योग की जो शास्त्र बारा बहार्न गई थी वह जन-साधारण पर पर्याप्त प्रभाव रखती थी परन्तु उच्चस्थेयी के आह्वान अभी तक क्षय जाग्रात्म्यपन में मूल्य थे। योग में नापी को स्थान न मिलने के कारण पञ्जाब में नापी का पठन हो रहा था। स्त्री जाति की

उपेक्षा जनता के आचार-यत्न का कारण बन रही थी। लोग गांधी की धार मातृ-
 ता होते परन्तु 'हृद्योप' का कठोर मार्ग सफलतापूर्वक अपना सकते न असमर्थ रहने
 ब। इसी स्वाभाविक प्रतिधियां हार्ति निराश हो मुसलमान धर्म अपना लता।
 सूफी दरवेश साहेब-वक्त (उल्कानीम नामक) का बसोबास कर उसकी प्रसन्नता के
 भाजन भी बनते और एकस्वर सत्ता का प्रचार कर हिन्दुओं की पुरातन प्रम-भावना
 के साथ 'इस्लाम-इस्वीकी का पाठ भी पढ़ाने। हिन्दु लोग मुगल से बनी आती इन
 बचावों को सुन सूक्ष्मता से हिन्दुत्व को परिमार्जित करने के लिए स्वयं उनसे मन
 प्रभाव में डूब जाते। दूसरी धार पंजाब के मुस्लिम नवाबा और शासक न यस
 पूर्वक धर्म प्रचार आरम्भ कर रखा था। मुसलमानों के लिए भीष्म का सम्प्रति थी
 भोग बिलास का और का सम्मान। हिन्दु के लिए मृत्यु थी विषमता थी बट और
 विषमता थी और का अपमान। जनता जीवन के क्षान में मुसलमान बनना स्वीकार
 कर रही थी और 'गई मुसली बस्ता ही बस्ता पुकार की कृपागत चरितार्थ हो
 रही थी। हिन्दुओं में बिनको बिन्ही प्रकार राज्य कर्मचारी पद मिल गया था वे
 शासन की ओरों में अपन को हितैषी प्रभावित करने का अपने ही भावना का गमा
 बाटन में अधिक धीरवानुभव करते थे। ऐसी स्थिति निरस्त स्वयं गुरु नामक न
 मिला था कि बादमाह अत्याचारी का राज्य कर्मचारी कुला की तरह जनता का
 गन्द थी यह ध और निरीह तथा मारी की रक्षा करने वासा कोई न था। धर्म साथ
 हो चुका था और लोग निगमा के सागर में डूब रहे थे। नाटक में तो ईश्वर द्वारा
 इतने बड़े अत्याचार का सहन पर उस भी उसाहना दिया है।^१ अनेक देवी
 देवताओं की उपासना के कारण जो छोटे-छोटे सम्प्रदाय बन चुके थे वे प्रायः
 आपस में सड़ते-सड़ते रहते थे। प्रत्येक सम्प्रदाय को अपने देवता की शक्ति पर गव
 था। परन्तु मुसलमानों के जाने पर जब कोई देवी-देवता अपने उपासकों की सहा
 मता का क्या करता मन्दिरों में अपनी सहायता भी न कर सका ता जनता का
 साह्य क्षीण पड़ गया। उमक बिहड़ मुसलमानों के एनेस्वरवाण में उन्हें अधिन
 सार्वभौम परिमार्जित हुई, ब (हिन्दुधर्म) प्रतिगत से उबर गये। इससे पूब कि पंजाब
 में हिन्दु-धर्म सवमय मुसलमानों में बिनीन हो आता गुरु नामक सरीखे महापुरुष ने

१ गुरु ग्रंथ साहित्य राग आसा ३६ १२। पुरातन समयमा -
 और भी--

राज भीह मुद्रम कुने। बाद जनादन बँडे सुत।
 बाकर महण पाइन्हि पाउ। रतु पितु कृति हो बनि पाह।
 जिधे जीमा होसी सार। मकी बडी साइतवार।

१ २२ इनाक म० १। मसार की बा० १। पृ १२८८।

उठे सहाय्य दिया। लरीर कं किसी भाव पर बिपत्ता फोड़ा हो जान पर उस भाग का काट नहीं दिया जाता उसका उपचार किया जाता है उसका बिप निकाल दिया जाता है और उस अंग का पुनस्वैस्थ कर अपनाए रखा जाता है। मुठ मानव की भी यही चारणा थी। हिन्दूधर्म में अनक मसिनताएँ का भुकी का सोग भक्तानी और उगनीन क सनक पुरोहित स्वार्थी और सापगवाइ क बानो एक ही साज निरसक पाकण्डों और बहमों में डूबे थे।¹ ऐसी स्थिति का यदि समय पर सम्भासा न आता ता धम ही सुप्य हो गया होता। उसी स्याधि का दूर करले का बीड़ा पंजाब क भक्ति आन्दोलन में उठया। हिन्दू-धर्म का सुधार रथा और सजावन इस आन्दोलन क प्रबतक गुब जानक क द्वारा किया गया। प्रस्तुत आन्दोलन पम्बहवी स सनहवी लताथी तन मठठ भद्रपव रथा। समय से टकरा जान की शक्ति तिगुन-बारा की पंजाब-शाखा में ही उत्पन्न हुई। आन्दोलन क मथासका न धम रथा क लिए सनक की मांग को पूरा करले हुए अनक गिर कण्य दिए, अपना सर्वस्व बसिदान कर दिया परन्तु भुके नहीं। जाबसयकता पदन पर स्वयं भी इस बीच मुठ-शेष में उठरे भीर नम-नबुबो के सनक सुझा बिबे। इसमें सन्दह नहीं कि जिस धर्म की रथा के लिए यह सब कुस्र हुआ सनहवी लनी में उसी धर्म न मान्योलन की महता स्वीकार करले स इंकार किया। लबु की कपट-बर्पा और विभाजन-भीति काम कर गई। परन्तु आन्दोलन की पति बीली न पडी क्य जबर बदल गया। जिस प्रकार ईसाइयों में कथौतिक धर्म की बुबु तियो दुराचार और कुटिलताका के विरोध में उसी धर्म का एक निखर हुआ रूप प्रोटेस्ट धर्म पदा हो गया था टीक इसी प्रकार ब्राह्मणों और पुरोहितों क पाकण्ड ब्राह्मणारों सुनीति तथा अनकस्वरबाध क बिच्छ इस आन्दोलन न उसी धर्म का निखर रूप सिख-धम (हिन्दू प्रोटेस्ट) स्थापित कर दिया।

पंजाब का यह भक्ति आन्दोलन ज्ञान में अनुपम अनुम और अद्वितीय था। इसकी सरगता आत्म रथा की भावना में है। भारत में समय-समय पर अनक भक्ति आन्दोलन धम धर्म सम्प्रदाया का उदय हुआ और कुस्र समय के बाद बल-बुरबुर की भीति उनका अन्त भी थाया। विरोध का सामना सगमय कोई भी सम्प्रदाय इतन लीयं नै नहीं कर सता जितना भावक-संचालित पंजाब-भक्ति-आन्दोलन में किया। पंजाब सरीक एक छोटे स धम में फेंस कर श्री इसकी ज्योति इतनी जाबसय मयी हुई कि आज बिस्व-धर्मों में अपना बिसिष्ट स्वात बताये है। अन्य आन्दोलन

1 Duncan Greenless—The Gospel of Guru Granth Sahib Preface, p. XVIII.

से और मि' गए, वह आज भी नेताओं की अनुपस्थिति में अपने पूरे प्रवृत्तियों की शक्ति के सहारे जीवित है और जीवित रहेगा।

सन्त का सन्त-सम्प्रदाय

सन्त शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मिश्र विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए धनक मत प्राप्त हैं। इस शब्द के ऐतिहासिक प्रयोग सन्तों की मिश्र विधायकता का संकेत देते हैं। निश्चित परिभाषा किसी ने नहीं दी। भाष्यन् पुराण के प्रथम स्कन्ध में आगे शब्द 'प्रायेण तीर्थाभिगमयते' स्वर्गहि तीर्थानि पुनस्ति सन्त' सन्त का पुनीतात्मा मान प्रस्तुत करत है। जबकि महाभारत आचार सप्तधा धर्म सन्तस्वाचार सप्तधा द्वारा कपल संशयार का ही सन्त का सत्य मानता है। तुलसी ने अन्दा सन्त असज्जन बरबा' में सन्त का असज्जन का विपरीतार्थक (सज्जन) ही मान लिया है। भविष्यत यह कि वाच्य में निवृत्त धारा तथा १२वीं शताब्दी में सन्त-परम्परा के उदय से बहुत पहले ही सन्त शब्द का प्रयोग हो चुका था और उसका सकल गण 'सज्जन' की ओर ही रहता आया था। अन्तःकरण ही परिवर्तना सदाचार सज्जनता आदि गुण विकरत किसी भी उन्नतमना का सन्त की बोटि तक पहुँचा सक्त था। परन्तु मध्यरास में सन्त' शब्द मनुष्यी मात्र के लिए ही नहीं प्रस्तुत एक गुह और विविध रहस्यात्मक शक्ति के अन्तःपालक के लिए प्रयुक्त होत गया। धीरे-धीरे 'सन्त' और 'सज्ज' एक हो गए।

(क) साईं मरीचे सन्त हैं राम मीत न मेक।^१

(ख) सन्त औ राम को एक ही जानिये दूसरा भेद न तनिक जानें।^२

(ग) जो प्राणी तिसिदिन भब क्य राम तिह जानु।

हरिजन हरि मन्तर नहीं जानक सन्धी मामु।^३

कुछ विद्वानों का मत है कि 'साल्म' शब्द ही सन्त का पूर्वज है। उनके द्वारा जुगते जाने वाले बाल प्रमाण हमें महाराष्ट्र में पहुँचाते हैं। कहते हैं कि महाराष्ट्र के बारकरी सम्प्रदाय के मन्त्र और सगुण विट्ठल के उपासक पहले-पहले अपनी बाल बप्पणी प्रकृतियों के कारण सन्त कहलाए। बाद में उत्तर भारत के निर्मुनी महात्माओं में महाराष्ट्रीय महात्माओं के पुत्रों की शक्ति देख कर, उनके लिए 'सन्त

१ अम्माम ११ इतक ८।

२ मरीचक जी की बाणी पृ० ८७।

३ पल्लु की बाणी, पृ० ८।

४ सलाक पु' उप महापुर—प्रबसाहिब पृ० १४२७।

ऐसे हूँ किसी के लिए बरदान बन गई। सहारा चाहिए था उन्हें सहारा मिला। सूफी फकीर प्रचारार्थ इस्क-मिजाबी से आगमन हो इस्क-हकीकी की ओर चलते थे सांसारिक प्रेम को आध्यात्मिक रूप देते थे। सर्वोपरि यह कि वे कर्म-परिवर्तन के लिए किसी को विवश नहीं करते थे। फिर क्या था पंजाब की पीड़ित जनता अपने पापों पर प्रेम का अनुत्प्रेषण लगाने सूफियों की ओर झुकी। प्रेम की सादस्विनी में स्नान कर उन्होंने पुनः अपने-अपने इच्छुओं को प्रेम-अर्घ्य चढ़ाता आरम्भ किया। सिर पर सटकी मुस्लिम-अम्पाबार की तमबार के होते हुए भी हमसे जनता के मन में 'शामिल' के अंकुर फूटने लगे। पंजाबी संतों ने जनता के मुकाब का अनुभव करते हुए तथा हिन्दू-मुसलमान एकता के प्रति अनिवार्य समझत हुए 'सूफी प्रेम का आह्वान किया। परन्तु संत-मठ द्वारा अपनाया जात पर वह 'इस्क-मिजाबी नहीं अस्तमुंशी 'इस्क-हकीकी' ही बन रहा। उनके मत में ईश्वर प्रेम ही मोक्ष-प्रेम है परन्तु इसकी प्राप्ति सेवा और ममपण से ही सम्भव है। 'जो भोग ईश्वर से प्रेम करत है वे सबसे प्रेम रखते हैं। बिना शरव-साब के ईश्वर प्रेम की कल्पना नहीं की जा सकती।' अतः सूफियों के प्रेम-तत्व के साथ-साथ पंजाबी-संतों ने अज्ञान का पुत्र गिना उसे पूर्णतः भारतीय बना लिया।

पंजाब के संत भीमब्रह्मचर्यादि का कर्म-योग को परिमार्जित रूप से अपनाए हुए हैं। जीवन की विपरीत और कष्ट परिस्थितियों से संचय करते हुए इन महारमाओं में प्रवाह बरसे थे—न वे स्वयं भाये थे न जीवन की वास्तविकता से भागन का किसी को उपदेश देते थे। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कुदराज की युद्ध-भूमि में कर्मयोगी बनने का उपदेश दिया था पंजाबी संतजन जन्म से कर्मयोगी थे। भक्त गृहस्थों की ही तरह उन्होंने अपने परिवारों का प्रति किसी भी कष्ट की उपेक्षा नहीं की थी। संयासी बन संबन्धों में बचक नहीं लाए थे अपने परिवार के बीच रहे अपने ही अन्तर से परम-तत्व को प्राप्त किया था। इतना ही नहीं जब परिस्थितियाँ के करबट बढसने पर उनके कर्तव्य-पालन की 'परीक्षा' हुई तो वे स्वयं जलन बाँध युद्ध-क्षेत्र में उतर आए थे। 'युग-जागी के साथ चलना बहुत सरल है छदार द्वारा अपनाई जाने पर अपनी विचारधारा द्वारा कर्म करना भी सुगम है परन्तु सब वे हैं जो जग-विरोध में भी अपनी स्वच्छन्द विचारधारा अपनाते और दूसरों को अपने पीछे चलने को बाधित कर देते हैं।' पंजाबी संत ऐसे ही कर्मयोगी थे जिन्होंने

1 Principal Tej Singh in *Guru Nanak's Religion in his own words* (Rama Krishna Centenary Cultural Heritage of India Vol. II p 230)

(जो रहीं सोह जायने गिन भाबे सब फौय)

2. Emerson's *Essays*.

एक ओर मुसलमानों द्वारा किए जाने वाले साम्प्रदायिक भ्रष्टाचारों और दुसरी ओर हिन्दुओं द्वारा कड़े किए गए अबरोहों के बीचोंबीच अपना मार्ग बनाया था। किसी म्भार्थ के लिए उन्होंने कोई मार्ग नहीं अपनाया। धर्म की रक्षा हेतु ओर भ्रष्टाचार के विराम में यदि उसका उठाई भी गई, तो वह अपने लिए नहीं दुखी निरीह बनता के लिए। सत्य ही के निष्काम-कर्मयोगी के जिन्होंने सात्विकता और परमात्मकता के मार्ग पर अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया था परन्तु उक्त उक्त न की। न सत्य के पुत्रों के सत्य के मार्ग से विचलित करने वाला साह हो या यदा (राजा या रंक) उनका जन्म का ओर के कर्मबीर परिस्थितियों के अनुकूल अपने जन्म से बदला चुकाना शुरू जानते थे। मुक्त हरियोदित्त तथा गुरु गोविन्द इनके स्वयम्भ प्रमाण हैं। धारों ओर से निरोधियों द्वारा बिदे होने पर भी गुरु अमरदास तथा गुरु अर्जुनदेव की एकमिष्ट साधना ओर सत्य-यज्ञ पर अग्रपथ होने के लिए नैसर्ग-ही भक्तता ध्यान में अद्वितीय एक अपूर्व थी। पुत्र पत्राधी मन्दा न जिन मिथ्यानों का प्रकार किया था न एक ऐसे धर्म की ओर संकेत करते थे जिसे कर्म नारी-नपुंसक-नम कहा जाय तो कोई अशुक्ति न होगी। वह बुद्ध-धर्म या याज-यज्ञ की तरह किन्हीं जिन जिन व्यक्तियों के लिए न था—उसम कबल भिक्षु या योगी ही परम-यज्ञ प्राणि के अधिकारी न थे। उन्होंने तो जीवन का एक आदर्श-यज्ञ सुमाया था, जिसमें प्रत्येक सम्पन्नमायी—गृहस्त्री हो या बंरागी—के लिए मुक्ति का आबोधन था। बाह्य कर्म-याज्ञाज्य जप माला छापा तिलक या यज्ञ-हवन उपवास तीर्थादि में उन्हें निस्सम्बेह कोई सहायुभूति न थी। न जीवन में कृत्रिमता न चाहत थे। सरभुओं मनुष्यों को अपनाकर सद्ब्यवहार के क्षेत्र में विचरण करना अन्तर्मुखी हो पुन-व्रत का सम्पन्न और प्राप्ति उनका आध्यात्मिक लक्ष्य था। इसमें उपर्युक्त कर्मकाण्ड और आश्चर्य की आश्चर्यकता का प्रसन्न ही नहीं उठता। उनके लिए पाषाण सुपन्नित मामिषी धर भर बेर की लकड़ी और वा बार रटे-रत्ताग इतोक यज्ञ की विभूति नहीं थी। वे इन मनुष्य की आश्चर्य-यदली प्रकृति मानते थे। उनके मठानुष्ठान आत्मिक हवन और यज्ञ मानव की हृदय-बरी पर ही किया जा सकता है जिसमें ममत्व का जलाया जाय और मिथ्या भ्रमानों की आहुति जाती जाय। वा फिर आत्मा की पुष्टि हेतु हवन के हवन-कृष्ट पर अग्नि की बलि न दुष्कमप्यता अथवा अक्षमप्यता का होम किया जाय। यही सच्चा यज्ञ होगा—धर्म सब इन्ध। यदि मन्थलोक में स्थान जाने की कामना हो तो मठार में कर्मबीर रहना अनिवार्य है। लम्बे-लम्ब लकों से सम्पन्न निवास की उपलब्धि नहीं मुक्ति के लिए धर्माचार का अन्त्या अपेक्षित है।^१ इन प्रकार की शिक्षा देन मात्र सिद्ध-मुक्त अध्यात्म और

1 Principal Tej Singh in Guru Nanak's Religion in his own words.

समाज को समपाद बनाने में अनुपमनीय और भारत की सांस्कृतिक रेखाओं द्वारा पयार्थता का विश्रान्त करने में सचमुच अनुपमेय है। डॉ० अग्रवाल ने लिखा है कि 'संसार से भागने वाला संत नहीं। जिसे अपने अध्यात्म को कसौटी पर कसने के लिये जीवन-संघर्ष से भागना पड़े उसके लिए भारतीय आदर्श में बहुत ऊँचा पद नहीं है।^१ भारतीय आदर्श किसी भी सफल मनुष्य से सक्रिय-गति की अपेक्षा रखता है और इन संतों की सक्रियता का प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि वे साधारण जीवन बिठाते हुए अपनी साधना द्वारा गुण की महत् कृपा प्राप्त कर स्वयं ही सत्य में लीन हो गए।

इसी शताब्दी में संकर में ब्रह्मिण में अद्वैतवाद के जिस रूप की स्थापना की थी वह भी पन्द्रहवीं शती तक महात्मा और उत्तर प्रदेश से होता हुआ पंजाब में पहुँच चुका था। पंजाबी संतों में भी अपने 'अकाल-मुरख' तिसु न प्रह्ला तथा जीव को संकर के ब्रह्म और आत्मन् की परिभाषाओं के माध्यम से दखा है। दोनों के मिश्रण में माया को बाधक भी माना है और यह भी स्वीकार किया है कि माया ही आन्तरिक ज्योति को बिलुप्त कर सत्य को असत्य रूप में व्यक्त करती है। संकर माया के इस आचरण को क्षिप्त करने में सत्य-ज्ञान की खोज का संकट देते हैं। यही संत संकर से सहमत हैं परन्तु माया के प्रभाव में रहने वाले जीव को वह ज्ञान प्राप्त क्योंकर हो? इस पर संकर स्पष्ट हा या न हो पंजाबी संत अद्वैत ब्रह्म सामन प्रस्तुत करते हैं जो सत्य-सिद्धि में प्रेरक सहामक निर्दोषक सब कुछ है वह है गुण। गुण-गुण (अपकार को दूर करने वाला) है माया-तिमिर-नाशन। गुण द्वारा ज्ञान प्राप्ति की कारण पंजाबी-संतों का नाश-वाकियों से मिसी हो या महात्मा-संतों से अपने अनुभव की विभूति हो या अत्य-संकेतित पत्र प्रवर्तन का प्रस्तुत साधन महत् है अनिर्वाह है। संकर का ब्रह्म सिद्ध-गुरुजा ने असल अपार, अगम अनाचर भावि रूपों में बस ही अपना लिया है।^२ वह अपने में सम्पूर्ण अविनाशी और स्तोत्राति है।^३ उसके गुण अकर्मणीय हैं। स्वयं ईश्वर, ब्रह्मा देवी-शक्ति तथा ब्रह्माण्ड शरीर शरीर-सन्तोषी सभी उनके गुण पाते हैं। तीनों में उषी की महिमा बिरतनी है पर

१ डॉ० रामदेवतरण अग्रवाल— संत' (साहित्य सन्देश)।

असल अपार अयम अगाधर ना तिसु कामु न करमा।

जाति अजाति अबोनी समठ ना तिसु भाठ न भरमा ॥

आदि संज्ञ राग मोरठि मु १ श्लोक ६ १ पृ २६७।

२ आदि पुरत करतार करण कारण मभ बाप नवा

अविनाशी अविनाश जाये मापि उतपति—सबैय भी मुपचार (आदि ब्रज)

मु २ पृ ११८२।

में बा बाहर सब स्तलों में बह बड़ा ही रचा है। उसकी महिमा हमनी अनन्त है कि सभी यज्ञोपासनाय स सीमित नहीं हो सकती।^१ चंद्रक 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' का भाव मुक्त-परम्परा ने भी स्वीकार किया है। भाव शब्द या अज्ञान-पुरुष की मत्ता को ही सत्य स्वीकार किया गया है। मुक्त गोविन्द ने स्पष्ट सिद्धा है कि उस परम भाव की मत्ता में सत्य। उसका सत्य स्वरूप मत्त में विद्यमान है। उगोनिवापन है।^२ अर्थात् वह एक ही रूप है। परन्तु अनेक में प्रकट होता है। बहूत है कि जब मियाँ बिट्टा ग्राहिक मियाँसफोरे ने कुछ नामक को मुहम्मद के नाम का सम्मानित करने हेतु प्रार्थना किया तो नामक ने कहा कि 'मात्रों मुहम्मद' उस मालिके-मुक्त के द्वार पर मित्रता किया करते हैं। उनको क्या गार्गे प्यारे की माय करो। वह दाता जोपता बीर के-अन्त है। उसके मूल जवान में बहना अचम्बक है।^३ अज्ञानी माया मिथ्या को भी पंजाबी संतों में मिथ्या जानू की धारा पानी का बुबुबु या पत्रि का मानना कह कर पुकारा है।^४ जिस प्रकार शक्ति का मपना मुजाबस्था में ही सत्य होता है। जगत् पर वह कुछ नहीं। ठीक वन ही मयार की लम्बता मत्त तक ही है। जब तक मुक्त शक्ति ज्ञान प्राप्ति नहीं होती। ज्ञान मिथ्या के साथ ही मयार का मिथ्याभाव स्वयंसेव व्यक्त हो जाता है। प्रकट है कि पंजाबी-मन्तों में धर्मोत्पाद से बहूत कुछ अपनया है। मयने बड़े महत्त्वपूर्ण भावना तो बीर और बहूत के मिथ्या की है। व इस मिथ्या की अहस्ता को संकरक वरत से न देवत हुए भी जयसे इनने प्रभावित होने हैं कि बीर को जहांगी स्वीकार कर सागर में बहूत के मन्मिथ्या का मन्मन्त बसमा बिबे बिना नहीं रहे पाते। वे मुक्त तो महत्त्व देव है। उसे बहूत का परिचायक मानत है। नाम-स्मरण को माया का आबरु-व्यक्त और ज्ञान-मयार की निष्कृता पाने का नाशन मानते हैं। परन्तु सत्य सकर और सत्तों का एक ही है। अतः दोनों के बिचारों में अन्तर होते हुए भी साम्य की भाषा परमैव है। इस मूट माया नहीं का मयना।

१. आदि पत्र मु० १। पद्य भाषा १। १ पृ० ३५३।

२. एक ही की सेव सम ही को मुहम्मद एक एक ही सत्य मत्त एक पात्र जानको अज्ञान उत्पन्न ५४।

३. नू जाने दाता भाये मुगता हूत तुव बिनु मयार न जाया।

नू पारबहूत बसन्तु व अन्तु बी तैरे किया मुक्त आदि बराया ॥

आदि पत्र मु० १। पद्य भाषा १। २। पृ० ३६०।

४. मुक्त महत्त जगु साजिया जित बापु परदार।

दिसकत बार न नामई जित कगद कुंदार। तथा

पैया मुपना रैनका रैनका संवार।

आदि पत्र पद्य विभाजन मु० २, ३१। १२ पृ० ८०८।

ऊपर उन परिस्थितियों का विश्रब्ध किया जा चुका है जिनके प्रभाव स्वरूप पंजाबी जनता मार्चों और क्रमपाठे योपियों की विचार-पद्धति की ओर आकर्षित हो रही थी। परन्तु वहाँ भी मानसिक श्रान्ति न पा सकने के कारण किर्कटस्थ विमूढ़ से पंजाबी किसी ऐसे व्यवस्था की अपेक्षा करते थे जो उन्हें सुखि व सकृता। सित्त पुत्रों ने जनता की यह आवश्यकता पूरी की। कबीर पहले से ही मार्चों के विरोध में बहुत कुछ कह चुके थे। सगुण शाका में तुलसी भी 'गोरव जमायो जोध मति भगयो भोग' का ह्वासा दे रहे थे। ऐसे में मानक नाम पंच की आडम्बर युक्त क्रियाओं का विरोध करते हुए पंजाबी जनता के लिए उद्धारक-रूप में प्रकट हुए। उन्होंने जनता को सवाचार निर्लिपि और भगवद् भजन का मार्ग प्रदान किया। उन्हें उन लोगों से भिड़ थी जो गोबड़ी शस डण्डा लिये शरीर पर नम रमाए कामों में मोटी-मोटी मुद्राएँ द्वासे सिग मुँडाय बगह-बगह सिगी (तूती) बभते फिरते थ।^१ मानक के मत्तानुसार योग (ईश्वर से मिलन) की प्राप्ति बाहर बसमान भूमि में ताड़ी मगा बैठने से नहीं होती^२ उसके लिए चाहिए मनहृष्टि और मायावी जगत से ऊपर उठने की शक्ति।^३ पंजाबी संतों द्वारा प्रवृत्त यह भावना जनता के लिए अमृत-समान सिद्ध हुई और लोगों ने योग का आध्यय छोड़ सन्त-मग का भक्ति मार्ग अपना लिया। यह सब तो हुआ परन्तु पंजाबी संत नाम-गंध का विरोध करते हुए भी उसकी धम्भाबसी जपनाए रखने का मोम संभरण नहीं कर सन—अन्तर इतना रहा कि वे ही शब्द जो योगी नाम बाहरी क्रियाओं और पास्तुर्वा के लिए प्रयोग करते थे पंजाबी संतों ने भीतरी क्रियाओं के लिये किए। आत्मरिक्त विनाम और लब्ध धनक द्वारा अन्तर्मुद्र होने का जो स्वरूप पंजाबी संतों ने प्रस्तुत किया था उसमें योगिक लम्भाबसी को स्थान दिया गया। किमुरी आत्मरिक्त-ध्वनि (वैदिक आकाश वाणी) का प्रतीक बनी होती और डण्डा संस्थाप और ध्यान का लबा सिगी

- १ जोमु न पिबा जोमु न डंडे बाहु न बसम पड़ाए ।
जोमु न मुवी भूँडि मुडाइए जोम न सिही बाईए ॥
बंजन माहि निरबन रहीए जोमु कुपन इब पाईए ।

आदि ग्रन्थ रागसूरी मु० १।८ १।

- २ १ ए हसति करि समसरि जाने जोमी कहीए मो० ।

आदि ग्रन्थ रागसूरी मु० १।८ २।

- जोमुन बाहरि मकी मसाबी जोगु न ताड़ी साईए ।
जोगु न गेति विमन्तरि मकिए जोमु न ताड़ी साईए ।
बंजन माहि निरबन रहीए जोमु कुपन इब पाईए ॥

आदि ग्रन्थ रागसूरी मु० १।८ ३ पृ० ७३०।

आत्मोद्योग का प्रतीक बने ।^१ पंजाबी मन्त्रों ने सोनी की परिभाषा ही ब्रह्म ठानी । उक्त सिद्ध परब्रह्म का पङ्कानना ज्योती शक्ति में दलचित्त रहता मामा-मोह का त्याग निर्वलमना जीवन बिनात भाबि सब्बे मायी के लसब बे ।^२ वे सब पृह्स्त्री थे । कुटुम्ब छोड़कर जंगलों-पहाड़ों में मारे-मार फिरता उन्हें स्वीकार न था । उनकी निष्ठा बरीर कपी घर में रहने हुए बुझ-बुझा तथा सहायता से परम-शरण में समा जाने मात्र का संकल करली थी । पंजाबी मन्त्रों की महानता और महत्त्व इसी में है कि उन्होंने अपने अनुपादिसा म न घर छुड़ाया न परिवार त्यजने को कहा न किसी कर्मकाण्ड में डाका—घौर फिर भी महामुक्ति का सहज मार्ग दिखाया बिनास निगामा और मुदभक्ति प्रशात की । ऐसे सोनी भी पदा किये जो बिन बजाए ही बहुभिल किपूरी की ध्वनि मृत सकल न जो लतत्व म मीत हो मा अर्थात् मुक्ति पा गए न ।^३

गुरुजी न अपने अक्षयी कबीर द्वारा बरी बनेक नीचे ज्यों की त्या रहने ही । जाति-धर्म के बन्धनों की उपेक्षा हिन्दू-मुसलमानों की साम्प्रदायिक कुरीतियों का लखन कर्मकाण्ड का विरोध जातीय अमस्कृत वारणाभा का मसोघन भाबि विषय पंजाबी मन्त्रों न भी अपनाए के अन्तर केवल इतना था कि इनमें कबीर मरीजा अवलक्षण और उनकी कटुता नहीं थी । न उक्तकामियों के बनकर न पड़कर अमता को भ्रम न मही शमना बाह्य थे । उन्हें जो कुछ कहना होता बिनअतापूर्वक कहते विरोध करना होना तो सम्यतापूर्वक करते और किसी लभ में तक जुदाना पडता तो शिष्टता की सीमाओं को बनाए रखते । अतिप्राम यह कि पंजाब के मन्त्रों ने जगत्क विवरणानुसार बहुतां से बहुत कुछ अपनाया परन्तु निबल्य बनाए रखा ।

- १ ऐसी किपूरी बजाइ जोमी बिनु किपूरी अलहुदु बाबै हरिमिउ रहै निबसाई ।
 मनु संतोखु पनु बरि जोमी जोमी अमृत नाम धुपति पाई ।
 बिबात का करि इण्डा जोनी सिरी मूर्ति बजाई ॥

बादि पन्थ रामकबी-अष्टपदी मु० ३ । १ १ तथा २ पृ० २०८ ।

- २ हुकुम ब्रह्म मो जोमी कहिए, एतन निउ बिल साग ।
 महना दुर् निरमनु होई जागु जुमति इन बाग ॥

बादि पन्थ रामकबी-अष्टपदी मु० ३ । १ ७ पृ० २०८ ।

- ३ गुरु जोगु न होई जोमी बि कुटुम्ब छोड़ि परमवनु करहि ।
 गुरु सरीर महि हरि-हरि नामु पुन परमावी अपना हरि प्रनु महुरि ॥

बादि पन्थ रामकबी-अष्टपदी मु० ३ । १ ८ पृ० १०१ ।

- ४ बिपु बजाई किपूरी बाबै जोमी या किपूरी बजाइ ।
 कहै नामक मुक्ति होबहि जागी नाबे छाहि समाइ ॥

रामकबी अष्टपदी मु० ३ । १ १२ पृ० १०१ ।

पंजाबी सन्तों की अन्य सामान्य विशेषताएँ

सिग्य गुरु सबके सब भसे परिवारों के मद्गृहस्थ थे। उनका मन भी गृहस्थियों के लिये बरदान था। वे घर-परिवार छोड़ अंगसो गातियों पहाड़ा जाति म ईश्वर की सोच क पदापाती नहीं थे। उनका ईश्वर उतम बुद्धा नहीं था केवल उसको देखन बास आन्तरिक-नश की अपेक्षा थी।^१ बहू नश गुरु की कृपा से बस सफ़ाया था त्रिमकी प्राप्ति का मात्र था सदाचारपूर्ण जीवन गुरुमति गुरु म अलख विश्वास और आत्म-समर्पण। इन साधनों की निधि के लिए घर-द्वार छोड़ना परिवार के प्रति अपने कर्तव्यों म सामना पाठशुद्धपूर्ण आइम्बर रचना या इका-मिखाजी के बढ़ाने भरना आवि की किञ्चित आवश्यकता न थी। बुरा के आदर्श जीवन जनता के सम्मुख था सन्तों परिवार में रहते हुए सन्तान और पत्नी की सन्तुष्टि के साथ-साथ उस परम-उत्स को प्राप्त किया था बिसरु सिग्य केरकासीन कृपि-मुनि बंगलों में शरीर-यज्ञना प्राप्त कर क्यों उपस्था करन थे। उनमे एक गही विश्वास था नर्म-काण्ड गही भक्ति भी ज्ञानोत्पादन गही आत्म-समर्पण था फिर मसा ईश्वर-कृपा स बंधना कैसी? भक्तिप्राय यह कि सन्त-मन के आदर्श बृहन्व के आदर्श थे जाति विपरीत परिस्थितियों म पड़े उद्भ्रान्त गृहस्थी के पक्ष प्रदर्शक और सामान्य संनारी की आध्यात्मिक लक्ष्य-सिद्धि के महत् मापन कहे जाएँ तो अलखुक्ति न होमी। सन्त मत ने न सो शरीर को संतुष्ट करते का पाठ पढ़ाया न क्वास रोकने की किया सिखाई, बही न मासा की आवश्यकता थी न वजू की न बज रहे गए न आहुतियाँ पड़ीं तथापि उनक सहज-उपासना के मार्ग म त्रिम सामान्य गृहस्थी सहज अपना और निबाह सफ़ा है, नाम आप द्वारा ईश्वरीय कृपा का आज्ञान हुआ और गृहस्थियों के लिए महान सहयोगी उपासना-नद्धति की नीब रखी गई। अत यदि पंजाबी सन्त मत का 'पारिवारिक धर्म' कहें तो अपि उचित होया।

ये महात्मा जसा कि कहा जा चुका है बिडी विश्लेषण सम्प्रदाय या मत-मतान्तर के पोषक न थे। 'असुखै बनुम्बकम्' की भावना रखने वाले थे महा मानव सब धर्मो-सम्प्रदायों के साथे थे उनके लिए देव-विदेव या साम्प्रदायिकता की सीमाएँ उपेक्षित थीं। हिन्दू-मुसलमान राजा-रंक सबको समहृष्टि स देखने वाले इन सन्तों को मात्र मानव-धर्म के प्रचारक कहा जा सकता है। गुरुमानक की अरब बर्तों की मात्रा मुसलमान भाइयों के साथ नमान म भाग लेना आवि घटनाएँ उनकी मानवता का मद्दनीय सूचकन हैं। अपना बलिदान देकर भी म्याब की

१ जैसा कि बुम्बसाह ने लिखा है। सौद तेचों बकन गही पर देखन वाली मपल गही—बुम्बसाह।

रक्षा करना अन्ध्यामी का विरोध तथा निरीह का यत्नयोग देना पंजाबी मन्त्रा की विज्ञान-सूक्ष्मता तथा आत्मा की अज्ञानता के जाग्रदृश्य प्रमाण है। जहाँपीर की ओर से कुमरो के साथ अन्ध्याय हाते पर गुरु अर्जुन देव द्वारा उये महामाय दिवा जाना और उगके पत्नस्वरूप अपन करीर पर अतक का सहमा तथापि उफ न करना और लामा मीगने की अपेक्षा न एपना पंजाबी मन्त्रा की न्यायप्रियता और मानव प्रेम का प्रतीक है। निम्नन्देह सममानुमार पंजाबी मन्त्रा ने क्षत्याचार का मापना करन क सिधे अहम भी धारण किया परन्तु वह बारबा भी मानवता की रक्षा पर ही आश्रित थी। विदेशिया द्वारा अन्ध्याभुम्ब हाते वामे कराम अन्ध्याकारा का अन्त तथा साम्यवादिधता की प्रचण्ड-वचन के श्रोत्रो म इवममानी मानवीय-नया को पतवार प्रयात करने हेतु मात्र मन्त्रा का ब—ध्वनत न्याय की साम्य बसी रह गई। वर्तमान युग म उन के द्वारा संधाकित सिद्ध-धर्म गुरु-भिक्षाओं को नुमा मानवता पथ से विचलित रहे या अविचलित परन्तु वह पंजाबी मन्त्रों की महानता की कसौटी नहीं। उनकी विरोधता तो इस बात म है कि उन्हुनि संसार में निरीह की महापिताय वन सेने वामे लामो क एक उन्नतावर्ती-वर्म का प्रवर्तन किया पा। सोम्य समय पर वह वर्ग न्याय, शौर्य और बलिदान के महत् स्वरूप म प्रकट भी हुआ परन्तु स्वार्थ क बीजा के अंकुरित होने ही मानवता वहाँ भी वम ठोड़ने लगी। वर्तमान युग मन्त्रों द्वारा रसी मानवता की उन मीचो को हिसा अकमोरकर, पंजाब को पतन के वर्त में डकेन ता यह उमकी कृतम्यता है महामना मन्त्रों का शौच नहीं। आश्चर्यकता है मानक क पुनरात्मन की।

विश्व-गुरुओं की विधा प्राति-प्राति और अँध-मीच के वेद-भावों से मन्त्रा मुक्त थी। आत्मात्मिकता के लक्ष में शास्त्रम और मूढ़ का क्या भव ? वहाँ तो विमले परमेश्वर (ब्रह्म) को पहचाना नहीं शास्त्रम हा गया। सम्भवत मही धारणा शास्त्रम समाज द्वारा पीड़ित जनता का मन्त्रमय की ओर आकृष्ट करने में साधक हुई थी। एक बड़ा काम इससे यह हुआ कि कश्चित समाज द्वारा अपेक्षित और तिरस्कृत निम्न कोटि की हिन्दू जनता जो सामूहिक रूप से मुख्यमाम वर्ग अग्रनाए था रही थी अपनी मौलिक स्थिति की ओर पनपी। मन्त्रों की इस मानविक भावधारा ने हिन्दू-वर्म को सत्रीय बनाए रना धर्मका बहुत सम्भव का वि नैसर्गिक-वामाच्छा का पोषक मानव एक ओर से बुना और तिरस्कार की पापता छाड़कर अन्य मुख्यस्थित समाज (मुसलमान-समाज) का सम्म बनने का हुम्माहन करता। प्रस्तुत मानविक अनुभूति की उत्पत्ति किसी भी समाज की सम्पत्तता बन्द करने में साधक हो सत्री

१ प्राति का परबु न करिअंडु कोई, बहनु बिने सो शास्त्रम होई।

(आदि धर्म्य राग भैरव म० ३ पृ० ११२८)

है। इस ओर गुरु अमरदास ने संकेत^१ भी किया था। भारतीय समाज को पहली बार, एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अब एक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी न था। माचार भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे और उनके द्वारा किसी नई जाति की रचना करनी जाती। इस प्रकार यद्यपि संकड़ों जानियाँ-उपजातियाँ बनती जा रही थी तथापि वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी प्रकार चलती जा रही थी। अब सामने एक सुगठित समाज (मुस्लिम-समाज) था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समाज आसना देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक बार कोई भी व्यक्ति उसके विषय धर्म मग को यदि स्वीकार करता तो इन्-नाम सब भेद-भाव को भूल जाता था^२। ऐसे में हिन्दू-धर्म की रक्षा और प्रस्तुत स्थिति के अतिक्रमण का एक ही मार्ग था वही सन्तो न अपनाया। धार्मिक विचारों से ऊँच-नीचे के भेद-भाव का इगने की आवश्यकता थी वह पूरा हुई। पंजाब में ही नहीं सब-भारत में मन्द-मग के विकास के मूल में जाति-भेद-उपभेद का बहुत बड़ा हाथ था। इसने उग्रमूलन के लिए सन्तों के पास परिभाषित तक थे। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य हो या शूद्र भगवान् न सभी की उत्पत्ति एक ही प्रकार में की है। सभी तो मास मग में रहें हैं। बीर्य और शुक का योग सब के लिये बराबर रहा है फिर भला जब भगवान् न उनकी व्युत्पत्ति में समानता अपनाई हमें क्या अपेक्षा है कि हम उनमें भेद डालें।^३ यह तो विश्व सृष्टि का निमित्त-कारण की बात है सन्ता न पदार्थ-कारण पर भी इसी कोश में दृष्टिपात किया है। उनके अनुसार जैसे कुम्हार गीसी मिट्टी (पदार्थ-कारण) से अनेक प्रकार के मिश्र मिश्र बतन बनाता है तो भी सब रंग क पुरा होने पर मिट्टी से कोई अन्तर नहीं जाना। उमी तरह मनुष्यों का जरीर भी सृजनकर्ता ने एक ही प्रकार के पौष तत्वों से रचें हैं फिर उनमें भेद क्यों देखा जाये?^४ मास्त्व में सन्तों की विचारधारा ईश्वरेच्छा की ओर संकेत करती थी। वे मानते थे कि किसी का जन्म ऊँचे या नीचे पराग में उसके पूर्व संचित कर्मों के कारण होता है। जिस तरह हम अपने घर में कम पत्र भोगने हुए किसी रोगी का निरन्तर नहीं करते वैसे ही हमें

१ जाति का परबु न कर मूल्य वैचार।

इस परबु न चासहि बहुत बिकार।। वही

२ सल्ल-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

३ चारे बरन जाली-सनु कोई, बड़ा-बिन्दु ते समु आपति होई।

(भावि ग्रन्थ राम भरद म० १ पृ ११२८)

४ माटी एक समान संसार बहू विधि भिन्न कई कुम्हार।

पँच तपु मिलि वही का अकारा बटि बनि को करै विचार।।

(भावि ग्रन्थ राम भरद म० ३ पृ ११२८)

कर्म-बन्ध ढँके-नीच घगनों में ज़म सेने काम समझाबी मनुष्यों के तिरस्कार का बार्द अधिकार नहीं। हो सक तो कर्म-बन्ध में पड़े उन निरपाम लोगों का मन्त्र गुह का माग बताया ताकि वे कम ज़ाम से मुक्ति पा सकें और मन्त्र के लिए ज़म-मरण से छूट जायें।^१ स्पष्ट ही यह भाव पंजाबी मन्त्रों से समान-गुहार और आध्यात्मिकता का सामंजस्य प्रतिगमित करना है।

गुरु-परम्परा में नामोपासना का अनीक महत्त्व दिया गया है। पारब्रह्म या अज्ञान वृत्त के नाम-जाप से ही मृत्ति की कल्पना की गई है। गुड़ एक पवित्र हृदय में लिया गया प्यार का नाम ब्रह्म नहान् विभूति है या स्वयं ब्रह्म का पुकारते हुए जीव की आर, आर्पित करती है। जीव इच्छुक है ब्रह्म पूरक—जब तक तुमरे क लिए पुकारना और नूनरा 'अपन नाम की भाव' श्रुत मङ्गलतायें सौंठ पन्ठा है ता शोनों का मिमन स्वाभाविक है यही मृत्ति है और यही ब्रह्मैक्य। परन्तु गुरु-प्रदत्त नामाम्नाम के बिना मनुष्य की स्थिति 'अज्ञान के पक्षी' जमी हानी है या कितना भी उड़े बिनाय नहीं पा सकता और अस्तित्व नहीं आ बैन्ता है। इसी प्रकार मानव भी संसार से चिन्ता भी ढँका उठने का प्रयास करे गुह शाय चनाए मन्त्रे नाम की उपासना के अभाव में ब्रह्म बन्ध के मध्य से नहीं पा सकता।^२ लोग मन और आत्मा की मुक्ति के लिए तीर्थ-यात्रा करत हैं वहाँ बाहरी कर्मात्मकों में फँस जल-ज्वालन कर करीर की मल तो बाह्ये या बाह्यत हों मन की मर्म क्योंकर छुटेगी? मन की मलिनता और आत्मा का जम सुझाना तो नाम-ज्वालन से ही सम्भव है। घर बडे नाम जाप हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत तीर्थों के पुष्य-संशय से अतक गुणा गम्भीर और महत्त्व जिया है 'मीम ब्रह्मम की उपभक्ति है।^३ 'मीमिण पंजाबी मन्त्रों ने मन्त्राग्नि-बीजा को बार-बार जलावनी दी है कि पिया मिमन (ब्रह्म में लीन हाना) चाहत हा ता मन्त्र नाम का ध्यान करो उगी के माग गाभा उधी में रहे रहो वही जगत-गत से प्राप्त-पाता है।^४ नाम अमृत के समान है जपन बाबा नाम-ममान अमर हा जाना है अर्पान् अमृत के गुणों को प्राप्त करना है। नाम ही एकमात्र ऐसी मक्ति

^१ कहतु नामक इहु जीव करम बहु होई ।

बिनु मतिगुरु भटे मुक्ति न होई ॥

(आदि ग्रन्थ राग भैरव म० १ पु० ११०८)

बिनु हरिनाम न मुहु होई, गुरु मन्त्रि घमाई माबु मो ।

(आदि ग्रन्थ राग बसन्त म० १ २ २ पु० ११११)

^२ नामक मन्त्रि महारतु हरिबपि अठमठ मीरप नाठा ।

(आदि ग्रन्थ बारहूपाहा तुलारी १२, म० १ पु० ११०१)

^४ प्राप्ती तथा नामु विमान्तु अपनी पनि कनी धरि आवहु ।

(राग मत्तार, म० १ १ १ पु० १०२४)

है जो जीव को ब्रह्म से मिसाली है ।^१ सस्तमठ तो नाम की सत्ता को स्वयं निरंजन रूप मानता है । मित्रा भी है 'कि स्वर्ण सरीस मानव शरीर में आत्मा मर्बेन पबिन है क्योंकि उसमें 'ब्रह्म-नाम' की सत्ता विद्यमान रहती है । इस सत्ते नाम के जपने में शरीर के सब दुःख-रोगों का अन्त हो जाता है और आत्मा देखीप्यमान हो उठती है ।^२ यही वह शक्ति है जिससे दुमनि का अन्त होता और निर्वाण-पद की प्राप्ति होती है—इसी की शक्ति में मानव निर्भय रह सकता है ।^३ सब तो यह है कि जपन में हरि-नाम के जप में ही जीवन की सफलता है जग्यथा हमारे द्वारा किए जाने वाले तीर्थ-स्नान मंगल-दान पबिन भोजन या संसार-कर्म में पड़ना सब व्यर्थ है जालकूट के समान है ।^४ संसार के अर्गम्य सद्गुण भी कण-मान नाम की महिमा का पार नहीं पा सकते । यह गुरु-प्रवचन मानव ईश्वरीय है इसमें परम-सत्य की प्राप्ति अत्यन्त प्रेम की अखण्ड-सत्ता और अकाम-पुरस्स की अपार कृपा का सामंजस्य रहता है । संत मठ में नाम को सर्व-विश्व-मुन्दर स्वीकार किया गया है । यह सत्य है संसार भी मिथ्या अनुसूतियों रोम-जाक हर्ष-आमन्त्र उत्साह-यत्न सब का एक अन्त है परन्तु नाम ब्रह्मण्ड है जो किसी युग धर्म या गुण की सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता । ब्रह्म अमर है और ब्रह्म की जपन समान अमरता का बरखान देता है । नाम शिवम् है विश्व में ब्रह्मण्ड का एकमात्र मार्ग मयस-ज्योति तक पहुँचने का एकमात्र साधन और महिमाय ईश्वर का योग्य मुख नाम ही तो है । नाम संसार-नाशक से पार समान वाली अनुपम शक्ति है । नाम का अद्वितीय शोभर्ष आँखों वलने की बस्तु नहीं अन्त-करण के अनुभव की शीज है । जिसमें प्रस्तुत अनुभव की सरमता का पान किया है ब्रह्म किसी भी मूल्य पर नाम की पूजकता सहन नहीं कर सकता । नाम में जिस शिर-मुन्दर का गुणगन किया है उसकी अपूर्व समान शोभा की संसार के नाच-रंग-तमाशों से तुलना ही क्या ? अधिप्राय यह कि

- १ पुरुमुक्त विजापहि सि संभूत पावहि सेई मुने होही
अहि निच नामु अपहु रे प्राणी मेस हसे हाही ।
(मकार, म १ १ १ पृ० १२५४)
- २ कचन काट्ठा निरमनु हंसु, जिमु महि नामु निरंजन अंसु ।
दुख रोग समि गन्ध मबाई, नाक सुन्धि साँ नई ॥
(मकार, म १ ७ ४ पृ० १२२९)
- ३ रेमन जोति सेहु हरिनामा—जा कँ धिमरनि पुरमति नासे पावहि पर निरवाना ।
रागकमी म० ६ पृ ६०१ ।
- ४ रामनाम विनु बिरसे जपि जलमा
बिल छोई बिल बोली बोने विनु नासे निहफनु मरि भ्रमचा ।
(बादि पन्थ राय भैरव म० १ ८ १ पृ० ११२०)

म नाम है उसकी महानता का बखान पंचामी सन्तों ने किया है उसे प्रतिष्ठा है उसके आप की अपेक्षा है वही ब्रह्मोत्तम की उपलब्धि है ।

उपर्युक्त नाम-महत्ता का यथोगान सुनकर स्वामादिक प्रश्न उठता है कि स्तुत नाम जिसे साधारणतः सभी नहीं समझते जिसकी अनुकम्पा से प्राप्त होता ? यह कौन है जो नाम-रहस्य समझाकर जीव के लिए ब्रह्म-पथ निर्धारित करता ? ब्रह्म-पथ-गमन की प्रेरणा माय की बाधाओं और कठिनाइयों के हरण में हायता तथा लक्ष्य-सिद्धि हेतु साधना की उपदेष्टाएँ किस से प्राप्त होती हैं ? यह कौन शक्ति है जो दूर सम्बन्ध (जीव और ब्रह्म की पृथक्ता) पुनर्सर्गापित करती है ? यह कौन है जो भेदों में पसन बामे धर (भूले हुए जीव) को उसकी वास्तविकता का अज्ञान करवाता है ? कौन है जो अज्ञान या माया के आवरण को हटाकर जीव को ब्रह्म बनाता है ? सबका एक ही उत्तर है—'गुरु' । पंचामी सन्तों ने महानतम ज्योति गुरु की आराधना को बहुत ऊँचा स्थान दिया है ।

गुरु वास्तव में स्वयं ईश्वर-रूप होता है । उसमें और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं । वह ईश्वर का ही मानवीय रूप होता है जो जीवों को बैठना और जागृति देने के लिए स्वयं ब्रह्म द्वारा नियुक्त किया जाता है । इकेन धीनयस ने लिखा है 'ईश्वर प्राप्ति का कोई सुगम और छोटा माग नहीं । उसकी (ईश्वर की) उपलब्धि उन्हीं द्वारा निमत साधकों से सम्भव है और वे हैं जिनमें पुरु सुखों के फलस्वरूप किसी गन्त की सगति करना । वास्तव में शक्ति एव ऐसी शून्यही वस्तु है जो किसी महारत्ना या सन्त के प्रथम मिसन में ही हृदय में अंकुरित होती है और धीरे-धीरे ज्ञाना-सम प्रपञ्च हो मन की मस्तिष्का का होम कर अन्तःकरण के स्वयं-मन्दिर की पावनता का कारण बनती है । त्रिसुद्ध-यन्त्रि हृदय में स्वयं ईश्वर अपने नाम-रूप में विद्यमान रहता है । मय तो यह है कि जहाँ गुरु है वहाँ ब्रह्म पहले ही वर्तमान हुआ—सन्त और ईश्वर का माग शून्य निकट-का है नि यह भी नहीं कहा जा सकता कि किस समय कौनसी शक्ति कायरत है वे दोनों जुदा हैं या मात्र एक ही ।" सिद्ध गुरुओं ने गुरु का परमात्मा के ही रूप में देखा था । वे मानते थे कि

1 "There is no short-cut to God no easy way He is found through His own appointed means the contact with a saintly devotee to be gained only as the reward of past good actions Devotion is infectious It arises in the heart even as the fire which when it becomes a flame which burns away the dross and purifies the golden nugget there. In the pure heart God Himself comes to dwell in the manifest form of His name It is true to say that where the Guru is there already is the Lord—so close is the
(वचन अगस्त पृष्ठ पर)

दुनिया में यदि किसी ने ईश्वर पाया तो बुद्धिमान के सहारे, बुद्धि रूपा हुई तो मुक्ति किसी अथ गुरु करता भरता परमेश्वर और सबस्व है।^१ गुरु प्रेम का स्रोत है, उसके शब्दों में परमात्म की प्राप्ति निहित है अथ उसकी सेवा से बहुसाक म गुरु और परसाक म भगवदापमधि होती है।^२ गुरु नामक म तो स्पष्ट स्वीकार किया है कि भाष्य बार विचारने पर भी वे इन विषय पर पहुँचे हैं कि संसार के अर्थमय कर्म और वेद शास्त्र मिसकर भी अज्ञान-विमिर का नाश नहीं कर सकते। गुरु बहु श्योनि-सूत्र है जो न केवल ज्ञान का प्रकाश ही फैलाता है प्रत्युत उसके शब्दों में मुक्ति भी मत्ता विद्यमान रहती है।^३ गुरु सत्य-सत्ताप का सरोवर है, उससे स्नान करने से बराबर संसृति का कोई तीव्र नहीं। उसका जस चिर-निमल हाता है या अनाचार और दुर्मति की मसिनता को पाल में समर्थ है। उसका नाम ही मनुष्य का पशु से बेवता बना देता है।^४ स्पष्ट ही पंजाबी शब्दों की बाणी में गुरु को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। कारण गुरु-गुरु में स्वाभिम्यक्त है। जो श्यक्तिमत्त माया फँद-जड़ित मनुष्य का उद्धार करेगा और उसे सतिनाम अज्ञानपुरख से मिला देता है वह गरम-गुरु ही नहीं सर्वस्व समर्पण है।

पंजाबी-शब्दा की सामान्य विशेषताओं में 'हुकम' के अनुसार काम करने की भावना पर्याप्त विकसित रूप में मिलती है। 'हुकम' शब्द का साधारण-अर्थ है

(विद्यमान गुरु का शेष)

union between the saint and God we cannot say which is acting at any moment they are as it were the same" Duncan Greenless in The Gospel of Guru Granth Sahib p. 91

१. जिन किया मा गुरु ने जनिया गुरु किरपा न मुगष मन मानिया ।

गुरु करता गुरु करल औं, गुरु परमेसर है भी होगु

कहु नामक प्रभु इहै जनाई जिन गुरु मुकति न पाइग मारु ॥

(आदि ग्रंथ राग बौंड म १ ७ ४ पृ ८६६)

२. बिनु गुरु प्रेम न पाइगि सबहि निर्भं गुरु हारु रहाउ ।

गुरु गवा मुख पाइगि हरि बन महजि सीमार ॥

(राग मिरी अष्टपदी म १ पृ० १८)

३. बिनु गुरु सबद न सुटिग देखहु विचार ।

अ मय करम कमावही बिनु गुरु अंजियार ॥

(राग मठनी अष्टपदी म १ १८१ पृ २२६)

४. गुरु समान वीरनु नहीं कोई गुरु संतोनु तामु गुरु होई

गुरु हरिमारु सदा जल जिरमसु भिसिया कुरमति मैसु हरै ।

सतिगुरु पाणि पूरा नाथनु पयु परेहहु बेध करै ॥

(आदि ग्रंथ राग प्रजापती म० १ ६ १ व २ पृ० १३२६)

'माया'। सन्त-जीवी में इस शब्द का परिभाषित कर 'ईश्वरीय-नियम या ईश्वरेच्छा' है। इन महात्मियों ने ईश्वरशब्द को सर्वोपरि स्वीकार किया था यही उनका आदेश उपदेश और प्रचार था। अपनी आर से जीव द्वारा सदाचारी जीवन व्यतीत करना सन्तुष्टों का विकास और मूल-कृता से नाम-रूप की जानकारी प्राप्त कर उसका सम्वास करना आवश्यक है प्रकट में फल की भांति नहीं की जा सकती। इसका सामर्थ्य परम-तत्त्व के बाँटे आया है। जीव का मिलने वाले दुःख रोग शोक और ह्य विषय मूल आदि सब उसी शक्ति की इच्छा पर निर्भर है। पंजाबी सन्तों ने मूल-उपसर्ग के लिए नाम अपना या दुःख मान पर ब्रह्म-तत्त्व से विमुक्त होना या उससे पूर्णापूर्ण तास्त्रिता का भाव बढ़ा देने का सर्व-विरोध किया है। नाम-बाप नाम-बाप के लिए है जो आन्तरिक व्याप्ति प्रदान करता है और अन्ततः मूर्ति-दान देता है। अतः मूल-प्रवर्तित नाम का आश्रय निम्ने ईश्वरशब्द विरोधार्थ कर अपवाद होना अनिवार्य है प्रकाम स्वयं फलित जाएगा और माया का आचरण बन आप विधीय हुआ। पंजाब के इन सन्तों ने परम-तत्त्व की परिभाषा इस प्रकार की है— १ जी सतिनाम करना पुरुष निरमल निरबल अकाम मूर्ति मजुनी सर्व सुख प्रसादि। अर्थात् बहु 'ओंकार' एक है (अत्रितीय है) उसका नाम मत्प है वह मूर्ति का रचयिता है उस जिनका भय या किसी म शक्तता नहीं वह तीनों काता का निरव्य स्वल्प है अस्म-नरण म परे है स्वाभिष्मन्त है और केवम सुद कृपा म उपमन्त्र होता है। इस परिभाषा में निश्च है कि पंजाबी महात्मा का अस्म-पुरुष सत्य-स्वरूप होने के साथ-साथ अष्टा होने के कारण हमसे सम्बन्ध भी है। आचार्य जगदीश के मतानुसार ध्यानपूर्वक देखने पर स्पष्ट होता है कि यहाँ 'करना' 'करना नामा' रहना' 'रहन नामा' अथवा 'होम नामा' और 'हाना' भी आपस में भिन्न नहीं हैं। सबके सब जाड़ करने हों या किया हा एक ही में सम्मिलित व आद्यप्रारंभ है और कोई भी अंक किमी भी रूप म उम एक मात्र सत्य म अस्तम म्हा। इत्यम हुकम देन नामा तथा जिन हुकम दिया जा रहा है व सब एक है।" पकर के अद्वैत के प्रभाव में समानास्तर असन नामा पंजाबी सन्तों का सर्वप्रथम नामी आर संकलन करता है।

अस्तुतः सन्तों ने उपर्युक्त महिमानय हुकम का महोपान किया है। मसार की प्रत्येक वस्तु किया और फल सब हुकम के बन्दे हैं उससे बाहर कुछ नहीं। इस विचार को अपनाते आचार्य हुकम पर आश्रित होता है ता स्वभाव ही उमक

- १) जिस सपिजाय होए, किब कुछ तुम् पासि हुकम रजाँ बनना नामक सिधिया मासि।
(आदि ग्रन्थ जपु १ पृ० १)
- २) आचार्य परशुराम जगदीश—उत्तरी भारत की अस्त-नरम्परा पृ० १४४।

बहुभाष का अन्त हा जाता है ।^१ गुरुजों ने 'तेरा भाषा मीठा सापे' के इस वाक्य को अपने जीवन में साक्षात्कार करके सिखाया है । जहाँगीर के द्वारा गुरु मनु म का गरुड-अग्रणा से भी अतिक्रमण कष्ट दिये जाने पर उसकी बाणी 'तेरा कौमा मीठा लागे नाम पवारण मानक मागे' का कथन कर रही थी । औरंगजेब ने जब गुरु तेगबहादुर का मृत्यु या बर्म-परिवर्तन में विकल्प दिया तो हुकम से बड़े बे पय-निश्चित नहीं हुए, सिर कटवा बना स्वीकार कर लिया । गुरु मोक्षिक के बर्णों की मृत्यु का समाचार, उन्हें एक क्षण के लिए भी परमात्मा म नहीं डाल सका । हुकम के सम्मुख पीस झुका व अपने कर्तव्य-मान पर अटल रहे । कारण स्पष्ट है मनुष्य के किये कुछ हाता नहीं जो कुछ अनाम-गुरुल को माता है वही होता है ।^२ तो फिर क्यों न अपनी जीवन-शरी को उसी के हवास कर, निश्चित हुमा जाए, तथा 'राजी-बर-रजों का आचार किये उसी 'एक' म समया जाए !

सबकी दार्शनिक पृष्ठभूमि में साम्य

उपरिर्बणित सक्ति-परम्परा तथा अन्त-मठ व उद्यम और विकास का विश्लेषणात्मक रूप समय-समय पर बस निकलने वाले सम्प्रदायों विचारधाराओं और नीतियों के अन्तिम-सद्यों म साम्यता सिद्धि का साक्षान् प्रमाण है । वेद शास्त्र पुराण पीठा—सबका सभ्य जीवन-अनुभव समोय वा । साधन सबके निजी के—बदा म मिलन की यह स्थिति तप म सास्त्री ने यौगिक क्रियाओं में पुराणा न सक्ति और पीठा म ज्ञान और कर्म म जोवन के सप्रमाण किए । वा माग (साधन) विश्व भाया वह उसी पर बस दिया भक्त बना या योगी तपस्वी हुमा या ज्ञानी सक्तिम-सहय ईश्वर प्राप्ति ही या विश्वमे अपने-जाने इस से निजी हीमाओं म बड़े अनुयायियों ने गन्तव्य स्थान को पाने के उपक्रम किए, या पाया । अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों की सहाजा म अनेक बार साधन बदलन भी पड़े शूकियों ने मन्त्र प्रम का तथा मन्त्रों के नाम-जाप और गुरु कृपा को ब्रह्मण के शिलर का

- १ हुकमे अंदरि सनु का बाहरि हुकम न काइ ।
मानर हुकमे ब बुरे त हरमे कइ न काइ ॥

(आदि ग्रन्थ अनु २ पृ० १)

- २ जो तिस भाई सा भीण मानक क्रिया मानुस ।

(राग आसा अष्टपदी म० १ ११ ७ पृ० ४१७)

तुमना कीप्रिय

साय करे इनाम ता क्या हाता है ?
होता है वही जो मन्त्र-स-गुरु हाता है ।

छोपान माना । परन्तु सदैव नहीं बदला साम्य बही रहा । श्री बंदिगुण की जनता ने चाहा बही महाकाव्य-काल की प्रजा ने माँगा जो मईत ने सिखाया वही सुक्तिर्मों ने पढ़ाया कबीर ने माया बही पंजाबी सन्तों ने भी अपमाया । प्रस्तुत उठता है साधनों विचारों और नीतियों में साम्यता न हाते हुए भी 'मिशन की इस कामना' के 'भोज-यज्ञ' में सभी बराबर की भावुति जानने को क्या इतने अचीर रहे ? उत्तर सहज और स्पष्ट है । आदिम युग से ही मानव ने अपने अनुभवों द्वारा बुद्धि-विकास के क्रम में यह समझ लिया था कि उसके विरू प्रकृति का सुसम्बद्ध रहने में जो 'शक्ति' कार्यरत है उसी का एक अंश वह भी है । उसे बुझा करके निबंन कर दिया गया है अन्यथा वह अपने पूर्णात-सा ही शक्तिशाली था । मानव ने यह भी अनुभव किया कि यदि किसी प्रकार जात्र भी वह उस बुझाई को मिशन में परिवर्तित कर सक तो पुनः वह महत् शक्ति उसके हाथ सग सकती है । स्वभावतः शक्ति के पुजारी और अपन को सबल बनाने की अभिमाया रखने वाले मनुष्य ने उमी समय स कथित शक्ति में मिल जान और स्वयं बही रूप भाग्य करके अतुल शक्ति का स्वामी बनने का निश्चय कर लिया । प्रस्तुत अभिमाया और निश्चय सब से परम्परागत रूप से जसा था रहा है जबकि परिस्थितियों के अनुसार अलग साधनों की खोजें होती ही रही है । विरुपकर बाइबली कतास्त्री के परभाव होन वाले महारवाओं न तो साम्राज्यार का स्वागकर निजी अनुभवों के आधय एक नूतन 'पहुँच' प्राप्त की थी सम्भवत यही कारण है कि उनके नामों के साम साम्ब्रीय पाण्डित्य के विषयज न जोड़कर, उन्हें 'पहुँच' हुए अन्त कहकर पुकारा गया है । यह 'पहुँच' उन्होंने अनन्य प्रेम अस्तुष्ट भक्ति तथा ईश्वरीय-कृपा के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा प्राप्त की थी यही वह योग था जिसका संकेत सर्वप्रथम बर्दों में और अनन्तर उपनिषदों आत्मों पुराणों गीता और सूत्रों ने दिया था । स्पष्ट ही पिछले १००० वर्षों से मानवता का सदैव ब्रह्मत्व सिद्धि ही रहा है । मध्यकालीन महारवाओं की एम्बपता के लिए तो 'शक्ति निष्ठैतम' न सुबिरपात आचार्य स्व० श्री चितिमोहन सेन ने सिखा है 'जि भारत वर्ष क मभी प्रेममार्गी मासकों में जाहे न संयास के बाइस-बाइस हों उसके भी पूर्ववर्तों अचीरान आदि सहजपंथ के साधक हों उगर भारत के सस्त हों या सिध आदि प्रदेशों क मूफी या मूठी भावापस साधक हों एक विद्यप प्रकार की एकक्यता है । यह एकक्यता है—प्रेम की छावना । इस प्रेम-सामना के मार्ग में तीन बातों का रहना परमावश्यक है । समता स्वाधीनता और प्रेमालिङ्गता । समता का तात्पर्य यह है कि प्रेम की साधना में प्रेमिक और प्रेमास्पद में कोई भेद-भाव उँच-नीच की बस्तुता नहीं रहती । स्वाधीनता के बिना काम नहीं चलता । कुस्म या और अबरदस्ती वही नहीं चल सकती । किसी बाहरी अवास्त की द्विधी की बाध्यता प्रेम नहीं मान सकता । प्रेमालिङ्गता का मतलब है प्रेम ही प्रेम का अन्तिम-अव्य

है। ' प्रेम का प्रस्तुत रूप पुरातन काल से क्रमशः तप यज्ञ योग कर्म ज्ञान और भक्ति से होता हुआ प्रपत्ति में पहुँचा जा। वही प्रपत्ति जिसमें दिया जाता है माँगा नहीं मध्य काल में 'प्रेम' बनी। लेकिन तप से प्रेम तक पहुँचने के सम्बन्ध युग म धर्म मार्गी यात्री एक ही गंतव्य को लिए बढ़ते रहे यह तथ्य है। और पंतव्य वा परम सत्य वा पराभौतिक-शक्ति का नाशकार, उन्ही में सीम होने की मनामिताया।

गुरु

गुरु-शब्द भारत की प्राचीन वाणी है परन्तु विश्व महारमाओं ने गुरु को पुरातन-जुगीन शास्त्रीय-शब्दों से भिन्न स्वरूप में अपनाया । उनके मतानुसार गुरु केवल अभ्यासक या मार्ग-प्रदर्शक ही नहीं होता बल्कि एकाम-गुरु के उस शक्ति का निमित्त है जिसकी कल्पना पौराणिक विश्वास-प्रणालि ने 'अक्षतार-आरम्भ' की परिभाषा में की है ।^१ वह देह-वाणी दिव्यता हुआ भी देह नहीं होता शब्द होता है । स्वर्ग अकाल

१ मयवर्षीता का—यथा मया हि बर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानवर्मस्य तदारमानं मृजाम्महम् ॥ ४ ७ ।

उमायक का—जब-जब होइ वरम कैं हानी ।

बाहुहि अमुर मयम वभिमानी ॥

× × ×

तब-तब प्रभु बरि विविध सरीरा ।

हृदि हृपानिभि सखन पीरा ॥

इसी स्वरूप को भाई कुरुदाम अपनी पहली बार में यों प्रस्तुत करते हैं—

मई ममानि बसत विष बार वरन मायम उपाए ।

वम नाम* मन्पासिमां जागी बाहुहि-पंथ वसाए ॥

× / ×

सुनी पुकार बाताए प्रभु, गुरु नामक जय माहि पठाया ।

वरन धोइ रहिराय कर, वरणासूत निकली पीसाया ॥

अबवा

देव पंथ गुरु इट है जिस सग भवजल पार उताए ।

सतिगुरु बास न बुझीये, अक्षर बरि न गुरु अबताए ॥

* तीर्थ आश्रम बन आरभ्य गिरी पक्षत सागर, नरस्वती भारती पुरी ।

० (हिनु पक्ष पाव पंथ आई पंथ मन्व पंथ पावस पंथ मोयान पंथ कंचरी पंथ बन पंथ ध्वज पंथ जोली पंथ रावत पंथ बास पंथ ।)

पुत्र्य अपने बीबों की रक्षा उसमें शब्द की स्थापना करता है और उसी शब्द का उद्देश्योद्घाटन वह परत जनता के सम्मुख कर उन्हें जागृत पट्टीकाता है। सिक्क मुग्धों में इन सत्य की व्याख्या उन सबको एक मानव-रूप स्वीकार करने में भी स्पष्ट है। शब्द परम-सत्य का प्रतीक है। बुद्धनामक में यह स्थापित किया गया था ' और वही सत्य शब्द एक के बाव दूसरे, वसों गुणों की आत्मा का प्रकाश बना। इसीलिये वे सब अपने को नात्म कहते और एक ही शब्द का रूप लिये मत्स्योद्घाटन करते रहे। अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत विचार-मात्र के अनुसार गुण का दार्शनिक रूप शब्द रूप है और वह स्वयं अकाल-गुण्य का लक्षण है।^१

भावश्यकता

संसार में साधारण से साधारण कार्य क सीखने के लिये भी हमें गुण की शरण लेनी पड़ती है। ऐसे व्यक्ति की खोज करनी पड़ती है जो पहले से उस क्षेत्र का ज्ञानकार हो। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में बुद्धनामक जागृत के लिये किसी परम-गुण्य की अपेक्षा अविना ही है। जिस तरह प्रकाश के बिना अन्धकार दूर नहीं होता ज्ञानी के बिना ज्ञानोत्पत्ति केवल कल्पना है मायक बिना मया का पार उत्तरना अपवाद तथा शिक्षा की अनुपस्थिति में शिक्षा कोरी प्रबंधना होगी वैसे ही गुण की प्रकाश के बिना माया का अन्धकार दूर नहीं हो सकता। गुण-ज्ञान के बीर रहस्य प्रकट ही बने यह आर्से पीबन-तरी मन्सागर के बिकट धपेड़ों में ही इयमगायेपी और शिक्षा का आहम्बर काता जलार भैम बरोबर, पर तो भी रहते अभिमान का नकेल-बिह्न होगा। कला भी है—

पुत्र बिनु किर्न न पाइओ सेती कहे कहाइ ।

आपि बिबाई बाइदी साची मगति बुझाइ ॥ (आसा म० १)

पद की आवश्यकता क माव ही यहाँ क्लृप्त प्रकट और उठ आते है। बुद्ध मिल जाण तो उससे क्या पूछने या सीखने ? कने मिसेवा ? किसे मिसेवा ? उत्तर स्पष्ट है। जिस जिज्ञासा बुद्धि की साति हेतु मनुष्य ने गुण की आवश्यकता अनुभव की थी उम्ही उममनों का हून पुत्र से प्राप्त किया जायगा। संसार बन्ध में बुद्ध-मुख के वोरक बनि से अर्जतुष्ट व्यक्ति प्रस्तुत पथ पर चलुष्टि न चाहेमा तो और क्या अपेक्षा रत मकता है ? आधुनिक वैज्ञानिक मस्तिष्क कर्क-क्षम म अक्षय्य होकर यथा अपनायेगा तो—

१ सतिगुण बिधि आपु रसिओनु करि परसदु आधि मुनाइजा ।

—(पद ६, बार वासा श्लोक १)

२ बाइबिस भी इस विचार से सहमत है—

The word was made flesh and dwelt among us full of grace and truth.

गुरु बरन साहि हन बिनबता, पूछन कहि बिड पाइमा ।
 कबपु काब जमि ऊपरै बिनसै, कहुहु साहि समसाइमा ॥
 देव करहु बइजा मोहि मारगि साबहु बित्त मै बंधन दूई ।
 बनम मरन दुख फेड़ करम गुख जोमा बनम ते सुई ॥

—(आदि ग्रंथ भासा कबीरजी ।)

गुरु-मिसल क्योंकर होगा ? सोच करने से । समय-समय पर अनेक महान् आत्माएँ विश्व में अवतरित होती रहती हैं । पृथ्वी पर आने पर भी उनका सम्बन्ध ईश्वर से अटूट रहता है । वे आत्माएँ प्रायः ईश्वर की प्रतिनिधि रूप में आती हैं । वे इस विश्व के मिथ्या रंघ-तमामे में भाग लेती हुई भी उससे अविच्छिन्न रहकर अपने प्रभु की याद में तस्मीन रहा करती हैं । सीधी-सी बात है जो स्वयं परमात्मा में लीन होना वही तो संसार नरक में बनने वाले जीवों को त्राण देकर अपने उंचीसी लीनता का मार्ग दिखा सकेगा । ऐसी व्यापक आत्माओं को सोच निकालने की आवश्यकता है । सच्चा बिज्ञानु इसके लिये जाकास-यातान ज्ञान ज्ञातवा है और परिणामस्वरूप उसकी वाहस-गुल साधना सकल होती है ? वह पा सेता है । ईँड़ खोज पड़ताम बिज्ञासा कौमुहल उस्तुकटा आदि की उग्र स्थिति गुरु की प्राप्ति की पहली और अन्तिम सीढ़ी है । कबीरजी के शब्दों में 'बिन बु डा तिल पाइया एहरे पानी पैठ' । खोज की सत्यता का यही प्रमाण है । जो ईँड़ेगा नहीं गहूराइयों में उतरेया नहीं मला उससे क्या आशा की जा सकती है ? वह तो किनारे पर सँडा जीवन की अनमोस बड़ियाँ मिट्टी में मिलाकर रह जायगा । 'मैं बाबरी डूबनि डरी एही किनारे बैठ' कबीर के दोहे की इस दूसरी कड़ी को वह चरितार्थ करता रहेगा । गुरु प्राप्ति के लिये मैं मेरी' का त्याग तथा अजिमान-रहित निष्कण्त खोज की आवश्यकता है । ईसा न न्यू टेस्तामेण्ट में पर्वत पर उपवेश देने हुए सुन्दर शब्दों में इस ओर संकेत किया है 'सच्चे बिस से माँगे मिलेया सच्चे माब से ईँडे पा बाबोवे' सत-मप पर आचरण करते हुए उसका द्वार खटखटाओ बबक्य जुनेगा ।¹

तीसरा प्रश्न है गुरु मिलेया किसे ? गुरु नानक राय आसा में एक ही पंक्ति में प्रश्न का निर्णय देते हुए कहते हैं "पूरख होई लिखिया ताँ सतिगुरु पार्व" । मोक्ष प्रदाता गुरु को वही प्राप्त कर सकता है जिसके प्रारम्भ उष कोटि के हों और जो संसार में तद्बुध-नाश की ज्ञानि' बनकर जीवन के परम लक्ष की पड़तास करणा हो । मामिक की परम-रूपा ही बिज्ञानु को गुरु से मिसाती है । सभी तो नानक ईश्वर से

1 Ask and it shall be given you seek and ye shall find knock and it shall be opened into you. (Sermon on the mount)

प्रार्थना करते हैं हे ईश्वर ऐसा गुरु मिसालों को महानाचारी अजर-अमर, धैर्यशील कोटि-तरंग-तारन हो^१ एक कही आवागमन के एक से मुक्ति है।^२

गुरु कौन ?

सतिपुरव विनि आनिआ सतिगुरु तित का नाव । (गुरुमयी)

गुरु अर्जुनदेव की इस स्पष्टतम परिभाषा से बाहर गुरु की कोई अन्य पहचान खोजना वास्तविकता को जानकर भी भ्रमाने का प्रयत्न होगा। आवश्यकता है यहाँ गुरु के अन्य गुण देखे जायें जिनसे 'सतिपुरव को जानने' वाली बात का समापान हो सके। इहसोक से ऊपर परामौलिक स्थिति भी महात्माओं की दृष्टि में अनुभव की वस्तु रही है। वे साध्याकार में विश्राम करते हैं। इसीसे उन्हें जो कुछ सिखा या उपदेश दिये वे सब उनके निजी अनुभवों की निधियों के रूप में। ऐसे अनुभवों का शारीरिक-चेतना से ऊपर उठकर 'ज्योति-पुत्र (Children of Light)' बन पर सात्मा में भीम हो जाते हैं। वे उसके मिसल का मार्ग पहचानन तथा उसकी शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। अन्वकार का आवरण हट जाता है वास्तविकता समक उठती है और वे ज्ञान एवं प्रकाश के पुत्र बन जाते हैं। वे दूरियों को मर्यादा पर मगाने ईश्वर मिलन का पथ-दर्शक और भीतिक बुद्ध विषाखो म पीड़ित मानवता को मुक्त शक्ति प्रदान करने का बीड़ा उठाते हैं। उनका सम्बन्ध किसी वन या जालि सम्प्रदाय या समाज सेल या समाज की सीमाओं से नहीं होता। वे इन परिधियाँ से ऊँचे सर्व शक्तिशालता पक्षप्रदर्शक-ज्योति समस्यबहारी महानात्मा तथा अक्षय शिखर का स्वल्प होने हैं। गुरु नामक महातुमार गुरु बलते हुए विश्व की प्रचण्ड आत्माओं से पीड़ित मानवता को हिम वन् शीतलता प्रवायक शक्ति तथा जिनकी की मायावी तिमिरान्वता को ज्योति-किरण व ज्ञानरोप से विबीर्ष करने वाला वह महाकृपामु अमर मानव है जिसका हृदय में चारण करने मास से विषाद और जिला के बाधन छत्र जाल हैं। हर्षोन्मास मुख-दिनकर की किरणें जगदीक प्रकाश देना देनी हैं।^३

सब कहते कि 'बह' सर्वव्यापक है 'बह' सच्चिदानन्द स्वयं मुझने एक भुजाने वाला है परन्तु मुझना किसे का 'बह' ? इसका कोई उत्तर न था। गुरु नामक-वाणी स्पष्ट ही मुझको गुरु-मुख-नाम म उम्की हृषा का परिणाम कह

१ आचारा बीबाद लटीरि । आदि पुपादि सइवि मन धीरि ।

पल पंज महि कोटि उधारे । हरि कृपा मरु मेनि विभारे ॥ धनामरी म १ ।

२ भावनु पावनु तव रई पाईए गुरु पूरा । आसा म० १ ।

३ गुरु बासा गुरु हिई बह, गुरु दीपक निह लोह ।

अमर पवारण नामका मनि मानि ऐ मुख होह ॥ मास म० १ पृ० १३७ ।

कर, अज्ञानान्धकार का अन्त कर विवेक-ज्योति द्वारा परमात्मा का माशाकार करवाने वाले मध्यस्थ की स्थिति में गुरु को प्रस्तुत करती है।^१ गुरु मानक की दृष्टि में उम मानिक-शुभ की प्राप्ति का आधार गुरु का उपदेश ही है।^२ अतः गुरु को ऐसी किसी संज्ञित शक्ति का पोषक होता मनिवाय है कि सत्त्व शक्त में मीचने वाले को वह 'हरि-ज्ञान' दे सक। सार यह है कि मनुक हुए प्राणी को परम-मत्त्व में लीन करन तथा मायाम्ब को विवेक-भेद प्रदान कर इस कास-काण् की शामा के बाहर अज्ञान पुण्य में मिसाले वाली शक्ति का गाम ही गुरु है।

भारतीय विचारधारा अन्त मरण के अक तथा पुनर्जन्म की यथापता में बिम्बाम रखती है। मित्त-गुरु भी प्रस्तुत मिज्ञान को यथावस्थ स्वीकार करते हैं। यह व्यापक नियम सब पर लागू है। केवल कुछेक मुक्तारमारें ही हमका अपवाद हो सकती हैं। उन्हें भी किसी सतिगुरु से ही मृत्ति-साधन की उपमत्ति हुई होगी। अतः गुरु मृत्ति-साधक शक्ति का आधार है। गुरु मानक के मतानुसार बह कबल उन्नी को मुक्त्याय 'मन्त्र' देता है जिम पर उसकी विज्ञप हुपा हाणी है। जो एव बार उम महीनिय अनुभव को पा लेता है वह हमरे का पय प्रवर्जन भी कर सकता है तथा स्वयं कमाई (नाम-स्मरण) कर निर्वाण-मरु का अधिकारी होता है।^३ सब तो यह है कि लीन-लोक में गुरु के अतिरिक्त और कोई मृत्ति-साधन प्राप्य नहीं। उसी की प्रेरणा और निर्वेजन से बीज प्रमु शक्ति पाता और राउ-दिन उसी में मन्त्र रहकर अपनी मानसिक और आध्यात्मिक भूख को जाम्न कर सकता है।^४ गुरु स्वयं वह लीन है जिसका चरणों में बँटन मान म पाप पुन जात है। वह सतोप का मन्धार है। गुरु चिर-निमल मन का

- १ मनु काये मापि बरजदा माये मरमाइमा
गुरु चिरया तं बूझीये मनु ब्रह्म ममाइमा । ६ २ मउकी म० १ पृ० २२६ ।
- २ गुरु परमादि ग्गन हरि सामे मिः अगिबानु डोइ उजिजारा ।
१ १६, भासा म० १ पृ० ३५२ ।
- ३ गुरु सबही महु पाइजा मनु मानक को अरदासि जिउ ।
सूरी सुषमी म० १ पृ० ७६२ ।
- ४ गुरु पहि मुचति बाहु द माम । जिम पाइजा मोई जिवि जाले ॥
जिम पाइजा तिन पूछहू भाः । मुन सब कमाई हे ॥ १०
माद म० १ पृ० १०२६ ।
- ५ गाथा माहु गुरु मुनदागा हरि मेसे मुन मबाण ।
करि चिरया हरि मगति उदाण अनदिन हरि मुन पाण ॥
मति भूमहि रे मन बेनि हरि ।
बिनु गुरु मुचति गाही भैमोई गुरुमुनि पाईये माम हरि ।

संसार करने वाला स्रोत है जिससे पुनर्जन्म की चक्र-चरणाएँ होती हैं। वास्तव में यदि सतिगुरु पूर्ण हो तो पशु मरीचे पतित और कुटिल मनुष्य को भी देवत्व तक पहुँचाने में समर्थ होता। उसके हृदय से सर्वत्र प्रसिद्ध होने वाली सत्यनाम की सुगन्धि विश्व प्रकृति को सुरभिष्ट करती खेपी। बस ऐसे महामानव के चरणों में ही सब भुक्तानों में अनिर्दिष्ट कल्याण की प्राप्ति स्वाभाविक ही है।^१ वह तो दोनो हाथों कृपा सुदान बाँटा है वह बाँटा है। उसके बाग-कल के द्वार कभी बन्द नहीं होते—बस उसे खोज कर मानने जर की वेर है।

अब महज में ही प्रश्न उठता है कि वह मुक्ति-दाता जीव-ब्रह्म में एकत्र स्वापित करने वाला एवं संसार के विषम विकारों की सपटा से जालार्थ पुकारने वालों का चिर-सहायक मुक्त कहीं का निवासी है? सारीरिक रूप में वह चाहे दुनियावार हीने वास्तव में वह इस विशाली अगत का जीव ही नहीं होता। वह तो दुनिया के नरक में तड़पती मानवता का कबच बनने की भीतिक रूप लेता है और शरीर से इस तप्त विश्व का प्राणी बना रह कर भी वह शब्द-रूप में पिण्ड से ऊपर ब्रह्म-लोक का वासी है। स्वयं पारब्रह्म अकास-रूप का प्रतिनिधि है वह। गुण मानक के प्रश्नों में—

ऊपरि पगलु गगन परि गोरस ताका भगनु मुक्त पुनि बासो ।

(३११ भाक)

स्पष्ट ही इस पिण्ड और ब्रह्माण्ड से ऊपर दसवें द्वार के नीचे सचलण्ड (सतलोक) जहाँ स्वयं गोरस (अकासपुण्ड्र) रहता है वहाँ का वासी है मुक्त।

ऐसी महान् तरल-तारल आत्मा जब सशरीर साक्षात्कृत हो गई तो हमारे पहले प्रश्न 'मुक्त कौन?' का उत्तर आपका हृदय देगा जोषी पातशाही मुक्त रामदास का कथन है कि—

जिसु मिसीये मन हीइ अनहु सो सतिमुक्त कहीये ।

मन की बुझिबा जिनसि बाहि हरि परमपरि लहीये ॥

सच्चे का तो बर्तन मात्र ही मन की ज्वालाओं का ज्ञान्त कर देता है। यही परीक्षण है। उसकी चरण गहा। वह समर्थ और ब्याप्त है। ब्या की निद्रा मीचो उससे लेकिन साच ही गुण मानव जतावनी देने हुए कहते हैं कि उनक कौतुक और

^१ गुण समानि तीरनु मही कोइ । सब सतोखु तानु मुक्त होइ ॥

मुक्त हरिबाउ सबा प्रभु निरमनु मिमिजा बुरमति मेल हरै ।

सतिगुरि पाहि पूरा मावणु पशु परेखहु देव करै ॥

रता सचि नामि तमहीमनु सो गुण परममु कहीये ।

जाकी बासु बनासाति सठरे तानु चरण निब रहीये ॥

बनकर देख कर विमुक्त नहीं ही जाना वह स्वयं विधाता है और तुम्हें विधाता म
मिमाने बाया है ।^१

किटना ऊँचा पद है गुरु का । क्यों न हा सुयो से पीरित मानवता जो संसार
में विषय-विचारों पंचिन्द्रियों भौम विचारों तथा धन-दारा-श्रीमै-ममता के बाल में बुटी
उरह उमामी पड़ी थी उस मनुष्य विज्ञाने ज्ञाना माया के विमिरावरण में स्वबिम्बित
मनुष्य को विवेक-ज्योति के बलु दन बासा विछड़े-कठे मात्रन (अमु) म मनुष्यता-
पत्नी का पुनर्गन्धन्यम करने बासा तथा कर्म-काण्ड में मन्के हुए व्यक्ति को प्रकाश
और अंधेरे का अंतर समझाने बासा गुरु क्या मासात ज्ञान में कुछ कम होगा ? गुरु
नामक तो उँके की चोट म कहन है कि जो भ्रान्तात्मा सांसारिक बन्धनों मायावी
विष-बर्तों नीतिक उपमण्डिप-अनुपमविष और मीजिक अन्धकार तथा असीकित निममता
के उरबों पर विचार कर, इगके मयाधान जुटा मके वही मन्धा गुरु होने के योग्य
है । मानक की सम्मति है कि जो विद्व के बुमनि-करी बन्धनों को पहचाने माया
के बन्धनों को कान मुके गुरु-विमुक्तता के कारण सोये विवेक को भी नाप-दीप म
पुनर्गन्धीप कर मके और भ्रान्तात्माकार का हृष्य करने में समय हो- कम बचना बाप
मिगावर उमी में समा जाओ वही मन्धा गुरु होया ।^२ गुरु अंगददेव जी का कथन है
कि बुनिया में माया न इनना गावा परा शप्त रखा है कि प्रकाश के बदे-बई पुत्र
सकड़ों इबारों अन्ध-सूय मी क्यों न उरित हो जायें गुरु-ज्ञान की रोगनी के बरौ
माया की कामिया पुसना अमम्भक है—

जे मउ बगरा अमबहि गुरुज अइहि हमार

एन जानन हीरिमी गुरु जिन छोट अंधार ।

(आमा की बार)

गुरु मुक्त-नात बनन हुए तथा जिज्ञासु की उन्मुक्तता के सांनि-सायाय गुरु
नानन्येव कहते हैं सन्धा गुरु तुम्हें मुहस्य ममाब एवं ममार मे पृथक होने का
उपदेश नहीं हैना । एना करन की जाबम्बकता भी है ? मानक-सरीर स्वयं सन्धि-
ब्रह्माण्डों तथा आवासी मन्धनों का ममुदाय है । उन्ही में से अर्बोण (वंचम लख

१ मरनि पर गुरदेव तुमापी । तु ममरय रहबागु भुपरी ॥

तेरे जोर न जाने कोई तु पूरु पूरुत विजाता है ।

(१ ११ माक न० १, पृ० १०३१)

२ किउ करि बाबा मरनि बाबा किउ करि लोइमा किउ करि मापा ।
किउ करि निरमनु किउ करि अंधिवाप इहु तनु बीचारे नु गुरु हमारा ॥
बुरमति बाबा मरनि बाबा । मनमुस लोइमा गुरुमुखि पापा ॥
मतिगुरु मिये मन्धेरा जाइ । मानक हउमै मति ममाइ ॥

में अकाल-गुरूप निवसित है। अपनी ज्ञानेन्द्रियों कमेन्द्रियों तर्क-शक्तियों एवं गहिल मित्वाओं में वंचा मनुष्य बहिर्मुखी हो गया है। वह बाहरी स्वर्णों में उस अकाल रहस्य को खूँझता फिरता है। जन्म-मरण में फँसा मस्तिष्क में घष्टी बजाने तथा चार-एक सांकेतिक स्तोत्र उच्चारित करने में अपने कलम्य की इतिथी मग्न रहता है। वह बाह्य वीच जमाता है अन्तर के जमते हुए वीच से प्रकाश प्राप्त करने का विचार ही उसका मस्तिष्क में नहीं जाता। अनेक राग रागिनियों से वह बर्ष-रस पीता है। अन्तस्तल में निरन्तर बजने वाली ध्वनि को सूना पडा है—बस यही अन्धन उसके और परम-तत्त्व के बीच का पर्वत बन हुए हैं। सतिगुरु भूमे-गठने ऐसे मनुष्य को विवेक-नेत्र प्रदान करते हुए बाह्य जगत से उसकी चेतना का प्रवाह उमट कर उसे अन्तमुखी बना देते हैं। गुरु की सिद्धि और सामर्थ्य ही 'हर में हर' विज्ञाने में है। यहाँ कुत कौन ? का अन्तिम और निर्णायक उत्तर मिल जाता है कि जो माराम् अनुभव करवा वे वह कुत ।^१ स्पष्ट ही यहाँ आध्यात्मिक-गराजाष्ठा की आवश्यकता है। किसी भी बलवारी गहीनहीन या तवाकथित सन्त या महन्त को गुरु कहना वास्तव में गुरु शब्द का अपमान है। सतिगुरु करनी देता है कबनी नहीं अम्याम और अनुभव देता है कोरी बातें नहीं। अतः सिद्ध है कि ऊपरी व्याख्या के मानदण्ड पर जो पूर्ण उत्तरे, वह गुरु ।

गुरु का महत्त्व प्रभु मिसन

भारतीय विचार-धारा बर्मानुमार जीवन-मरण अथवा आवागमन के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। आर्यों में कमबन् ८४ साय मोनियों का संकेत प्रस्तुत किया गया है और देव-बुधम मनुष्य-जन्म की प्राप्ति बहुत ऊँचे मत्कर्मों का प्रतीक कही गई है। मृष्टि के विक्रम कर्म में उत्तरोत्तर उन्नति का उपामक मागव धीर्षों में इमनिये बड़ा है कि उसके पाय सुख है हृदय और मस्तिष्क है मूय्पाकन करने और वास्तविकता का क्षेत्र निर्यामने की शक्ति है। इमी शक्ति क आचार पर वह अरन वीरन-सदब के बारे में सोचता है और गनम्य की लोत्र में वीरन रहस्यों की पड़ताम करता हुआ परमात्मा में भीन हो जान के पक्ष में निर्णय देता है। मनुष्य-जन्म की मावकता ही इक्षम है कि आवागमन के चक्र में छुटकारा पा सिया जाय अकाल-गुरूप की मोह में स्वात प्राप्त कर सांसारिक भोगों मुक्तों आकपनो-विकर्षणों से मुक्ति पाई जावे और माया के अन्धकार को विदीर्ष कर विवेक-वीरक से अपना वास्तविक माय लोत्र सिया जावे। सबमागर में गोले लाने की अपेक्षा प्रभु नाम का स्मरण कर अभी निक मुक्तों और आनन्द का प्राप्त किया जावे तथा धीरवित रहते हुए अपन गहिल

प्रारम्भों का हिसाब साफ कर नय सिरे से सश्विचारी समस्यबहारी एव परबल्याग कारी जीवन बिठाया जाय । ये ही वास्तव में मनुष्य-जीवन के सत्य है । इनकी ओर प्रवृत्त होना तथा प्राप्ति के सफल साधन जुटाना ही मानव का ईश्वरत्व की क्रांति तक पहुँचाता है । परन्तु परन्तु ?

परन्तु यह सब हो तो कैसे ? संसार में जन्म मृत ही मनुष्य मायावी मारक बन्धे में ऐसा फँस जाता है कि आध्यात्मिक-ज्ञान का दीपक अन्तस्तम की किन्हीं पहराइयों में प्रदीप्त रहन की अपेक्ष जेप्टाएँ करता हुआ भी अविबेक की भयंकर तिमिराच्छादित स्थिति में प्रकाश फँसान में असमर्थ रहता है । आवश्यकता है स्तह वाली बिहीन इस टिमटिमात दीपक को प्रज्वलित करने की ताकि उससे अन्धकार विच्छेदन की शक्ति पदा हा सके । दीप स दीप जसन का सिद्धांत बड़ा प्रसिद्ध है अतः यहाँ भी ज्ञान-दीप का उषी की सहायता में प्रकाशित किया जा सकता है जिसके अपन पान पहल स ही प्रकाल-गुरु स प्रदीप्त-दीपक विद्यमान हो । गुरु ही वह साधन है जो उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में मनुष्य की ओर को सम्भव बना सकता है । जिस प्रकार बिना अग्नि उत्पन्न किये दीप नहीं जलते ठाप नहीं मिसला बँस ही गुरु के बिना ज्ञान भी नहीं हाता भुक्ति और प्रभु-मिसन तो दूर की बातें हैं । स्पष्ट ही यदि मनुष्य अपन जीवन-साथों को पाना और जन्म-मरण के चक्र की बड़ियों को काट देना चाहता है तो पहले उस गुरुनी किन्ही मन्त्र गुरु की लोभ करनी चाहिये—

बिनु सतिगुरु किने न पाइओ बिनु सतिगुरु किने न पाइया ।
 सतिगुरु बिबि मापु रबिबोनु करि परमदु भासि मुचाइया ॥
 सतिगुरु मिलिये सदा मुक्यु है जिति बिबहु मोहु चुकाइया ।
 उतापु पठु बीबाइ है जिति सचे सिउ पित साइया ॥

बगजीबनु बाता पाइया । ६ ।

(स्तोत्र आसा म० १) पार आसा १ पृ० ४६६ ।

निश्चय ही गुरु यह शक्ति है जिसकी अनुपस्थिति में मनुष्य सब कुछ होता हुआ भी मूर्ख है । वह कल्पवृक्ष-मृग की तरह अपन ही भीतर से उठने वाली सुमन्त्रि को जंगली पह्राइयों तीर्थों और जमुष्ठानों में लोभता फिरता है—उसे कोई समझाये कि उसका गंतव्य उषी के भीतर है तो किठनी अलौकिक मान्त्रि मिलेयी उसे ? मनुष्य के अन्दर साध्या ब्रह्म विद्यमान है जमकी सुबन्त्रि जयन्त्रि माया या प्रकृति चारों निचामों में फँसी हुई है । मनुष्य बाह्य माया में जकित हा उषी में निर्मला की साज भी करन लगता है । परन्तु वहाँ कुछ हो ता मिस ? भीतर का दर्शन अस्तमुनी हुए बिना असम्भव है और मनुष्य बिना सतिगुरु के अन्त-धर्मों बन ता क्या कर ? “सो बूस को सतिगुरु पाए (गठड़ी अष्टपथी म० १ ।) वास्तव में प्रभु का निचाम स्थान मानव-जातीर जपी स्वय-मन्त्रि है जिसके धुम नी डारों में ऊपर हमरें से परे

में अकाल-मुस्य निवृत्त है। अपनी शान्तिशिवों क्मेन्निर्वो तर्क-शक्तिर्वो एवं महित् मिप्सावों में बंधा मनुष्य बहिर्मुखी हो गया है। वह बाहरी स्वकर्मों में उस अकाल रहस्य को ईदना फिरता है। कम-बाण्ड में फँसा मन्दिर में पत्नी बजान तथा चार-एक सांकेतिक स्तोत्र उच्चरित करने में अपने कलम्य की इतिथी समस रहा है। वह बाहर शीप जमाता है अन्दर ने जमते हुए शीप से प्रकाश प्राप्त करने का विचार ही उसके महित्य में नहीं आता। अनेक राग रागिणियों से वह कर्म-रस पीता है। अन्ततम में निरन्तर बजने वाली ध्वनि को भूमा पड़ा है—जम यही बन्धन उसके और परम-तत्त्व के बीच का परां बन हुए हैं। मतिगुरु भूमे-अटके ऐसे मनुष्य की विवेक-नेत्र प्रदान करत हुए बाह्य जगत् से उसकी चितना का प्रवाह उमट कर उसे अन्तर्मुखी बना देते हैं। गुरु की मित्रि और सामय्य ही 'पर में पर' विज्ञाने में है। यहाँ गुरु कौन ? का अन्तिम और निर्णयात्मक उत्तर मिल जाता है कि जो माधव्य अनुभव करता है वह गुरु है। स्पष्ट ही यहाँ आध्यात्मिक-गरावाण्डा की आवश्यकता है। किन्ती भी बेजबायी गद्दीनशीन या तथाकथित सन्त या महन्त को गुरु कहना वास्तव में गुरु शब्द का अपमान है। सतिगुरु करती देता है, कर्मनी नहीं जन्माम और अनुभव देता है कोरी बातें नहीं। अतः गिठ है कि ऊपरी व्याख्या के मानव्य पर जो पूर्व उतरे, वह गुरु।

गुरु का महत्त्व प्रभु मिलन

भारतीय विचार-चारु कर्मानुसार जीवन-मरण अथवा आवागमन के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। आस्तो म जमक्य ८४ साम मोनियों का गन्ध प्रस्तुत किया गया है और देव-भुक्तम मनुष्य-जम की प्राप्ति बहुत ऊँचे तत्त्वों का प्रतीक कही गई है। मृष्टि के विकास कर्म में उत्तरोत्तर उन्नति का उपायक मानव जीवों में समसिये बढ़ा है कि उसके पाम भूत है हृदय और मस्तिष्क है मूर्खान्त करने और वास्तविकता को शोध निकालने की शक्ति है। उनी शक्ति क आचार पर वह जल जीवन-मरण के बारे में सोचना है और पतम्य की मात्र में शीतल रहस्यों की पड़ताम करता हुआ परमात्मा म चीन हो जाने के पक्ष में तिजय देता है। मनुष्य-जम की साधकता ही इसमें है कि आवागमन ने एक नै कुटकारा पा लिया जाय अकाल-मुस्य की मोह में स्थान प्राप्त कर सांसारिक भोगा सुनो आकषणों-विषयवर्णों से मुक्ति पाई जाये और माया के बन्धन को विहीन कर विवेक-शीपक ने अपना वास्तविक साध जोर लिया जाये। सबसावर में दोने ज्ञान की अयोधा प्रभु नाम का स्मरण कर जलो किंक मुक्तों और आनन्द का प्राप्त किया जाय तथा जीवित रहते हुए अपन महित्

प्राणियों का हिसाब माफ़ कर नय सिरे न मनुविचारि समन्वयकारी एवं परबन्धान्तकारी जीवन बिनाया जाये । न ही बान्धव न मनुष्य जीवन के सत्य हैं । नही और प्रकृत होना तथा प्राणिक न कर्मण माधन बुनाना ही मानव का ईश्वरत्व की शक्ति तक पहुँचाता है । परन्तु परन्तु '

परन्तु यह सब हाँ ता कैसे ? समार में जन्म मय ही मनुष्य मायावी पारलक्ष्य में एसा जैम बाठा है कि आध्यात्मिक ज्ञान का दीपक अन्तर्मन की किम्ही पहचानों न प्रदीप्त रहन की अथक चरणों करता ज्ञाना भी अविचक की मयंकर विमिराच्छादित स्थिति न प्रकाश परमान न असमय रहता है । आचरणकता है म्मह बावी बिहीन इस टिमन्मान दीपक का प्रज्वलित करन की ताकि उमम अश्वकार विच्छेदन की शक्ति पदा हा मक । शय न शय जमन का मिदाम्न बड़ा प्रमित है कत यही मी ज्ञान-दाय का उमी की सहायता न प्रकाशित बिया या मकता है जिनक अपने पाम पहल स ही प्रकाश-मुक्त या प्रदीप्त-दीपक बिद्यमान श । गुरु ही बह मापन है जो उपबुद्ध समी शक्तों में मनुष्य की लोच का सम्भव बना मकता है । जिन प्रकार बिना अग्नि उत्पन्न किय बीप नहो असय ताप नही मिमता कम ही गुरु क बिना ज्ञान भी नही हाता मुक्ति और प्रभु-मितन ता दूर कर बातें है । स्पष्ट ही यदि मनुष्य अपने जीवन-सम्पत्तों का पाना और जग-मरण क अक की बड़ीया का काय देना चाहता है ता पहल उसे गुरुकी चिन्ती मन्त्र गुरु की आज करनी चाहिये—

बिन्दु सतिपुत्र किं न पाइओ बिन्दु सतिपुत्र किं न पाइया ।
 सतिपुत्र बिचि जापु रदिओनु करि परगटु भाखि मुगाइया ॥
 सतिपुत्र मिलिबे सदा मुफ्फु है जिति बिचहु माहु बुकाइया ॥
 जसामु एहु बीबाव है जिति सख सिठ चित माइया ॥

जगजीवन बुझा पाइया । ६ ।

(श्लोक भाषा न० १) बार भाषा ६, पृ० ६६६ ।

निश्चय ही गुरु कह शक्ति है जिसकी अनुपस्थिति में मनुष्य शब्द बुद्ध हाता हुआ भी मूर्ख है । वह कस्तूरी-मृग को छल जल ही मातर स उल्ल बाया मुदन्धि को जलसों पहारों तीसों और अनुपानों में लात्रता करता है—उस शक्ति समझाद कि उसका संतुष्य उमी के भीतर है ता चिन्ती अधौकिक गान्ति निवगा जस ? मनुष्य क अन्दर साक्षात् ब्रह्म बिद्यमान है, उसकी मुक्ति अथवा माया का प्रहृति चाये विद्याओं में जैमी हुई है । मनुष्य बाह्य माया न शक्ति हा जैमी में निर्माता का मात्र भी करल सगता है । परन्तु बर्ग बुद्ध हा ता मिन ? जीवन का रजन अन्तर्मुनी हुए बिना असम्भव है और मनुष्य बिना सतिपुत्र क अन्तर्दनों बने ता क्या कर ? 'सो बूझ ओ सतिपुत्र पाए' (मउरी अष्टावरी न० १) बान्धव में प्रभु का विद्याम स्पष्ट मानव गरीर की स्वय-मन्थिर है, जिसक सुय भी द्वारा में ऊपर हमरों से परे

बहु स्वयं विराजमान है। लेकिन गुरु-रूपी सोपान के बिना उस गड़ तक चढ़ पाता असम्भव प्राय है। गुरु हरि-मन्दिर के विहार तक पहुँचने की सीढ़ी है, वह सत्यासत्य का मानक है। सधार-सागर से पार भगाने का बस-पोत है और वह है महामठम तीर्थ जिसके बचन मात्र से अठ्ठठ तीर्थों का पुण्य प्राप्य है।^१ गुरु मानक ऐसे महा पुण्य पर जो प्रभु का नाम छिछाता और न्यस्त मिसाता है सात बार बसिहार जाते हैं।^२

सतिगुरु का हुकम मानने वाला उसक आदेशों पर भाषरण करने वाला ईश्वर का केवल साक्षात्कार ही नहीं करता उसी में लीन हो जाता है। गुरु शब्दों की सहायता से उसक जिये बाल का भय भी भास हा जाता है।^३ गुरु-मठ ईश्वर मिसन की विधि को पहचानता और भगवदग्घा का महत्व समझता है। वह गुरु के आदेशों और आज्ञाओं के मानने सब प्रकार के बिचारों को हेय मानता है।^४ उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि—

‘दिल के आइने में है तस्वीरे पार एक छरा मर्वन मुकामी देखनी।’

माया से रहित (निरजन) ब्रह्म वाहरी जीलों के लिए अहम्प्य शक्ति है। वह अमल है उसे लसा नहीं जा सकता केवल आभास पाया जाता है। हाँ यदि गुरु-रूप हा जाये तो अलब भी सत्ता जाता है। ब्रह्म का स्वरूप अहम्प्य होते हुए भी स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है।^५ गुरु का आशय पाकर जीव अह का त्याग करता

- १ प्रभु हरिमन्दिर सोइजा तिस महि मानक सात ।
मांठी हीरा निरमला कंचन कोट पीछान ।
बिनु पठई मड़ि किउ चढ़त गुरु हरिदिमान निहास ।
गुरु पठई बड़ी गुरु तुलहा हरि नाठ ।
गुरु छरि सागर बाहिबा गुरु तीरनु परिजात । राग विरी म० १ पृ० १७ ।
- २ हरि किया कथा बहानीबा गुरु मीठि मुजाहदा ।
बसिहारी गुरु आपन गुरु कठ बलि जाइया । १ २ तिसव म० १ पृ ७२५ ।
- ३ सतिगुरु मिसै त तिस कठ बाये । रहे रवाई हुगनु पछामे ।
हुकमु पछाधि सरी बरि बासु । काम बिकास छवदि मय नासु ।
७ २ बिसावस म० १ पृ० ८१२ ।
- ४ तिस गुरु मिसै सोई बिचि जाण । गुरमति होई त हुकमु पछान ।
× × ×
समसै ऊपरि गुरु सबदि बीचार । होर कबनी बरजन सगसी छार ।
२ ४ रामकपी पृ० १०६ ।
- ५ कुरदति बेजि रहे मनु मानिजा । गुरु सबदि समु बह्य पछानिजा ।
मानक आवतयमु सबाइया । गुरु सतिगुरु अणल सबाइया ।
११ ३ २२ मारु पृ० १०५३ ।

भ्रम भय तथा जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है और सौम्य की सहायता का ज्ञान प्राप्त कर त्रिभुवन में सर्वव्याप्य ईश्वरत्व की समीक्षा का काम उठाता है।^१ बसक प्रभु के मिलने के उपरान्त किन्ही दूसरी शक्ति की अपेक्षा नहीं रहती। जिसपर गुरु की कृपा होती है या जिसके प्रारम्भ में हरि-वचन बन्ना होता है उसे सतिगुरु मित्रता है और गुरु के मामूम से ही उन रैयीम ईश्वर का मिलन सम्भव है जिसका वाचक हमें उन्मान की ओर बसाता है।^२ निश्चय ही जिस गुरु की सहायता प्रभु ऐक्यात् अतिबाध्य है उसकी अनुपस्थिति या उसका बिरोध तथा गुरुमुखी भावना की अपेक्षा मनमुखी भावना जीवत सरिता में माया कीच की मयिमता का मिमन कर जीव को निमत मज्जन से बचित कर देती है। गुरु-विहीन प्राणी मय-पारावार ब विच्छिन्न बपहों न विविस पड़ नाम के पाल की ओर त्वरित गति से बढ़ता है। गुरु-सिद्ध काम-बन्ध में नहीं पड़ता वह तो ईश्वर प्रेम में मग्न अलौकिक आनन्द लाभ करता हुआ प्रभु स्मृति की मी में अपना स्व बुझा देता है। गुरु-ज्ञान के बिना जीवन का मुख्य इन्ती भी नहीं^३ क्योंकि गुरु से ही ता नाम (ईश्वरीय पथ पर अपसर होन का माप-यन) की उपलब्धि सम्भव है और वही हरि-मिलन का माप साधन है।^४ इसीलिए तो गुरु तानक ने स्पष्ट कहा "जानक गुरु बिन नहीं पति बति बिनु पार न पाई।"^५ (मास पृ० १३८) अथ ए जीव गुरु के दिना तुसे राम-नाम की सरसता तथा बह्य रूप का आस्वादन नहीं मिल सकता। गुरु संतो के बिना या उनके वचन-भाष से ही तुम्हें बडासठ तीर्थों की वाशा का रूप उपलब्ध होगा।^६ तात्पर्य यह है कि जब

१. जानु गइबा भनु मउ वइबा जनम मरम दुख जाहि ।
गुरुमत समख सखाइए उलय मति वराहि ।
नानक सोहं हमाजपु आपहु त्रिभुवन तिसं समाहि ।

रमाक १ मास म० १ पृ० १०८३ ।

२. मरे मास रैयील हम जानल न जास ।
गुरु असख सखाइबा बचन न हुआ भास ।
गुरि असख सखाइबा या तिस भाइबा या प्रमि निरपाभायी ।

१ ३. तुषारो पृ० १११२ ।

३. नाम गुरु मुखाद है बिन सबई बुझ न पाइ ।
गुरुसति परनाहु हार सखि रहे निर माइ ।
तिरै काल न संचरै जोति जोति समाई ।
गुरु मबदि माताहिए अंस न पाउबाद ।

तिरै काम न उपई तिरै गुरु का सबहु अपाक । ७ ४. सितो म० १ पृ० १३१ ।

४. बिनु सतिगुरु साठ न पाइये, बिनु नाथ किआ सुभाउ । सितो स० १ पृ० १८ ।

५. मल रे राम नामु अपु कैई । बिनु गुरु इहु रस किउ साहुत गुरु येनैहरि सई ।
संत बना निरु नमति गुरुमुखि वीरय हाइ ।

बडासठ वीरय मजना गुरुवरधि परावति होइ । सोरठ पृ० ५६७ ।

तक छतिमुख की शरण नहीं भी जाती तब तक प्रभु-मिलन की बात बोरी कल्पना या प्रवचन ही बनी रहेगी ।

मोक्ष प्राप्ति

गुरु बिनु मोक्ष मुक्ति किंच पाईये । बिन गुरु राम नाम किंच बिजाईये ।

(१ २ मारू ।)

ऊपर 'गुरु के महत्त्व में प्रभु मिलन की स्थिति दिखाई गई है । इसमें आत्मा जब अपना गृहक अस्तित्व का बती है और ईश्वर में ही लीन हो जाती है अर्थात् अंध आंगार में समा जाता है (ज्योति-ज्योत समाना) तो मनुष्य को संसार में पुनर्जन्म नहीं मना पड़ता । ब्रह्म-सदय को पाकर वह आत्मा शांति-सुखक 'जो तू है सा मैं हूँ' की वला में पडी रहती है । बाष्पण में उस भविष्य में और कुछ नहीं चाहिये होता क्योंकि वह ता वहा में लीन हो गई होती है । जब उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता । वही मोक्ष है ।

गुरु ज्ञान-ज्योति प्रकाश है

गुरु नाम प्रवर्तक ज्ञानि है बिजन बिना अविबेक क अघकार में पब की दाज करना लगभग असम्भव है । अन्धरे कुल में ईंट फेंकर शक्ति का व्यर्थ क्षय करने की अपेक्षा यदि मनुष्य बही प्रकृति कुरु ज्ञानि की छात्र में ब्यस करे तो जीवन का स्वरूप नबोधित दिनकर की हृषीकेशसमयी वासिमा जैम जन्तुकिण आनन्द का भाग कर सकता है । गुरु मानक पञ्चगिरण-ज्ञान में उसका हृण प्राणा का उपवेश बंध है 'मुक्ति का मात्र साधन गुरु है उसकी लाज करो । उसका बिना तुम विषय विकारा में पड़े जन्मत-मरण और यमा के दण्ड से पीड़ित हुल हो । तुम इसका की चुकनी दिव्या में पड़े हो इस बन्धन में मुक्ति नहीं भवकर काट है—बसानि एगम कर्मों का जन्म होता है जिसका हिमाज चुकान वार-वार आना पड़ता है । ११ प्राणी तुम जरा सघाँ जा आभय तो गुरु हाण विष साग बजुबा में दखा प्रभु दूर नहीं तुम्हारे ही अन्तर है और प्रताशा कर रहा है कि जब उसका भूला हुआ जीव मोटकर बर माय । गुरु के आदेशों पर चला उन पर विश्वास साजो धरापुबक नाम जगो बग भवजल से मुक्ति मिलने के मार्ग में कोई बाधा रहे ही नहीं गच्छी ।' गुरु वह ज्योति है जो बिन्दु के मूस देता है पहचान देता और विश्वासी के अन्तर्मन में ज्ञान का उजाला फसाता है ।

१. गुरि बिनु उरसि मरिह बकारा जमु सिरी माने करे गुजारा ।
बाध मुनिहि नाहि नर निरक दुबहि निह पराई है ।
बोमहु साबु पछाबुहु अबरि । दूरि नाही दन्हु बरि नबरि ।
बिपन नाही गुरमुनि उरतारी दउ भवजनु पारि मंधाई है ।

जिस प्रकार जल को बाँधना हो तो घड़े की आबन्धकता पड़ती है, घड़े के बिना पानी नहीं बँधता। वैसे ही ज्ञान ही मन को बाँधने अर्थात् संयमित करने का मात्र साधन है और उसका स्रोत है गुरु।^१ गुरु कृपा से जिसे ज्ञान मिले वही मन की बँधकता पर विजय पा सकता है और वह विजय विजय-विजय होगी। (मन जीते जय जीते)। ईश्वर सब के अन्दर है। सबके हृदय में निवास करता है। परन्तु उसे देखने के लिये ज्ञान-नेत्रों की आबन्धकता है। इसकी उपलब्धि गुरु के बिना किसी और द्वारा सम्भव नहीं। वह मनुष्य माय्यभासी है, जिस पर गुरु-कृपा हुई है और जिसने ज्ञान-धारा सँवोने के लिये अपने हृदय कपी मन्दिन बन को गुरु-चरणों में बैठ उपदेशामृत की सौर्वास्वनी में पीकर निर्मल कर लिया है।^२

भव-सागर से पार सगाता है

माया का यह विचित्र और बिलाल श्रीङ्गायन—संसार—भयानक विप्लवकारी सागर के समान बिलोडित हो रहा है। इसमें भय की तरंगें उठती हैं। अत्याचार बर्बरता और क्रूरता के धपड़े सगते हैं। स्वार्थ का केन चारों ओर फैल रहा है। बड़ी मछलियाँ छोटी को खा रही हैं। अर्थात् बलवान निबल का यत्ना खाते हैं। रत्न तो भयबाद हैं। अचिन्तित घोंबे ही मिसते हैं। बीच-बीच में विषय विकारों के तुफान आते हैं, मानबता राखी है। मनुष्य मात्र बाहि बाहि पुकार उठता है। सागर का तो कोई बार-बार सम्भव है। परन्तु विश्व का तो न कोई आदि है और न अन्त। विषमता और भय का साक्षात्कार है। पार उतरने के सिवा लाव है न पतवार। डीढ़ है न केबल क्लृप्तिक गिराजा छा रही है। ऐसे में 'निर्बल के बल राम' का साक्षात् स्वरूप स्वयं सतिगुरु ही मात्र सहायक है। वह संसार-सागर में गोते खा रहे भोसे प्राणियों को नाम-जहाज में आश्रय देता है। कस्माकर-गुरु माया-पीडित मनुष्यों को दृष्टि-मात्र से ही पार सवाने की शक्ति रखता है और उन्हें काम-कर्ममित्र होने से यत्ना लेता है।^३

गुरु मानक फरमाते हैं कि सतिगुरु वह जहाज है जो शब्द की शक्ति से माया पीडित लोगों को अन्धसागर से पार सगाता है। उन्हें ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया जाता

- १ कुम्भे बना जमु रहे जमु बिनु कुम्भ न होइ ।
गिजान का बना मनु रहे गुरु बिनु गिजान न होइ । (स्तोक आधा, पृ० ४६६ ।)
- २ भौडा हृष्टा सोइ जो तिमु मावसी । भौडा अति मसीणु पोटा हृष्टा न होइसी ।
गुरु दुभारै होइ सोभी पाइसी । एतु दुभारै सोइ हृष्टा होइसी ।
(१४ ९ तिलम म० १ पृ० ७२६ ३० ।)
- ३ मजजमु बिमुत डराबयो न कंधी ना पाइ ।
ना बेड़ी ना तुमहवा ना तिमु बँडु मलार ।
सतिगुरु भे का बोहिवा नदी पारि उठारि । (४ १० सिरी म० १ पृ० ३६ ।)

है जहाँ विषयों के पवन तृप्ता की अग्नि स्वार्थ के बल और मायावी विद्यामता का कोई प्रबल नहीं। केवल सञ्ज्ञा-नाम ही वहाँ की सञ्ज्ञी निधि है। वही संसार के दुर्जनों का नाश करता है और सन्तान पर चलन का दठ सेने वाली छात्रु-आत्मा को अपने में लीन कर भठा है।^१

इतिहास साक्षी है कि जिधमे पाया गुरु के माध्यम से पाया। गुरु के सम्बन्धों में तरल-तारल शक्ति है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि महान्-श्रेयता और अवतार, सृष्टि के परिचालक पोषक और संहारक इन्द्र और ब्रह्मा सरीसौ महानात्मियों का कल्याण गुरु के ही हाथ हुआ। उन्होंने भी गुरु से ही शरद प्राप्त किया। गुरु की ही कृपा से तपस्वियों और योगियों को प्रभु-वचन हुआ। गुरु नामक गुरु को 'असक्त अमेवा' अर्थात् उस अहम्भक्ति (परमत्मा) से अभेद रहने वाला मानते हैं। उसकी सेवा मात्र से विमोक्षक रहस्यों का ज्ञान हो जाता है। जब वह किसी पर कृपा करता और नाम-दान देता है तो पुत्रों को भी 'असक्त अमेवा' बना देता है। सत्कर्मजिन्होंने गुरु की आज्ञा पालन करते हुए अपने मन पर संयम भी लगाम डाल ली है इस भव-सागर से उसका निस्तार अक्षय्यम्भाषी है।^२

नाम का दाता

समु जगु काजल कोठड़ी तन मन वैह सुजाहि ।
गुरु दासे से निर्मले सबदि निबारी भाहि ॥

७ १६, चिटी म १ पृ १५।

मनुष्य की तृप्ताग्नि का निवारण केवल एक ही प्रकार से सम्भव है नाम दान से। प्रश्न उठता है नाम कहाँ से प्राप्त हो? गुरु से—सीधा और सरल उत्तर है। सञ्ज्ञे गुरु को ईदो उसके चरणों की धूमि बल जामो वह कृपा कर नाम बन्से और

- १ सतिगुरु है कोहिवा सबदि संचारणदाह ।
तिरै पबगु न पावको न जसु न आकाह ।
तिरै सञ्ज्ञा सञ्ज्ञि नाह भवजन तारणदाह ।

२ २ माह असटपदी म० १ पृ० १००६ ।

- २ गुरु के सबदि तरे मुनि केते इन्द्राविज ब्रह्मादि तरे ।
सतक सनन तपसवीन केते गुरुरमायी पारि परे ।
गुरु सेवा गुरु असक्त-अमेवा विमक्त सोझी गुरु की सेवा ।
जाये बाधि करी गुरि दाई पाइमा जसग अमेवा ।
गुरु से मनु मारिमा सबहु बीचारिमा से बिरमे संसार ।
नामक साहिबु भरिपुरि लीजा साधि सबदि निसवारा ।

४ १ २ मंदन म १ पृ० ११२५ ।

जीव उसमें बिरबाम साए, तो स्वयं मानव के सांसारिक बन्धन बीजे पड़ते जायें और साम्प्रतिक स्थिरता का विकास होया। शब्द की गुंज से सरसता ज्वित होगी और वही पीकित प्राणी का बरदान बन जायगी। परम सतिगुरु क बिना नाम और नाम के बिना भ्रम का शून्य असम्भव है। परम-सत्य के जानकार किमी महापुरुष का शान्त पकड़ और उसके निर्देशित मार्ग पर सुहृद-गम होकर ही प्राणी माया के बन्धनों और जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो सकता है। स्वयं परिचित होने के कारण वह महापुरुष विश्वस्त सज्जनों को भी उसी परम-सत्य का परिचय बिना संकषा और जीव परिभ्रम कर मन को बिकार रहित बना उसी समय में सदा जायगा। बीजे में मही कहना उचित है कि जिसने गुरु पा लिया वह सत्य को ही नहीं पहचान गया प्रत्युत संसार के सब मायावी बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्मिय के मार्ग पर अग्रसर होने में समर्थ हो गया।^१

गुरु हरि-नाम का रसपान कराता है

गुरु की शाली में हरि-नाम की सरसता होती है। उसके मखन से कान बिचार से हृदय तथा मन से सर्वस्य पवित्र हो जाता है। गुरु बनने मीठे बचनों से वातावरण में अमृत बोधता है। वहाँ सतिसंगति करण शाली को अमरता का प्रविधान मिलता है। वे प्रभु की निकटता का अनुभव करते हैं और गुरु-बधनों से विश्वात उत्पन्न कर जीवन की सब दुष्कारों और दुःशाओं से मुक्ति प्राप्त करते हैं।^२ गुरु की अपार कृपा से ईश्वर भक्ति प्राप्त कर उसका वन-मन शान्त हो जाता है। ऐसा प्रेम-बीजाना प्रेम का मद्य पाकर बनने और प्रभु के बीज का अन्त समाप्त कर देता है।^३

गुरु मुख और आमन्त्र का कारण है

संसार में मानव की बिम्बाओं और कर्तों का कारण मुखरत उसी जाजा

- १ बिनु सतिगुरु नाम न पाईये भाई, बिनु नाम मरमू न जाई।
सतिगुरु सेवे ता मुख पाये भाई, आमन्त्र जायू रह्यो। ३ २।
सायू सहब मुख से ऊरवै भाई, मन निरममू साधि समारै।
गुरु सेवे सो पूमे पाई, गुरु बिनु मम न पाई।

४ २ सोल अष्टपदी म० १ पृ० ६३३

- २ गुरु रसना अमृत बोधनी हरिनाम सुहायी।
त्रिनि मुनि सिखा गुरि मंत्रिआ त्रिनि मुख सम जायी।

१६ २ त्रिनि म० १ पृ० ७२६।

- ३ मन वन है मयेवसु पाइवा हरि की भक्ति निजायी।

६ २ मन्त्र अष्टपदी म० १ पृ० १२७४

तथा अमितापाएँ ही हुआ करती हैं। जहाँ कहीं विपरीत परिस्थितियों के कारण मनुष्य की आत्मा को ठैल मचती है, उसे अपने ऐच्छिक मध्य से निरास होना पड़ता है। वहीं उसे बुद्ध होता है। अपनी कामनाओं के प्रासाद के बह जाने के कारण वह मभक्तता है—कभी हुआम होता है और कभी पुनर्प्रमलार्थ कटिबद्ध। लेकिन ऐसे में मानसिक-शान्ति और स्वामी सुख की प्राप्ति मनुष्य से कोसों दूर भापती है। सुख केवल उरी को उपसम्ब है जो गुण-धरम गहे। गुरु गानक फरमाते हैं कि सतसु, रजसु एव तमसु के क्षेत्रों में जियाजीन रहन वाले व्यक्ति के जीवन में आत्मा और लका का संघर्ष तथा रहने के कारण कभी संतुष्टि का आनन्द प्राप्त नहीं होता। मानव की विविध उमदों (त्रिकुटी—कायिक बाधक और मानसिक पाप) मस्तिष्क की अप्राप्ति की वला में कदापि नहीं सुमस सफती। उनके सुमसे बिना जीवन में शान्ति और सुख केवल कल्पना की वस्तुएँ हैं। अमिप्राव यह कि गुरु ही वह शक्ति है जो मनुष्य के जीवन-फंद काट कर उसके स्वामी और असीक्तिक सुख प्राप्ति में सहायक होती है।^१ अतः जीव के लिय उचित है कि वह अपने अहं-भाव का त्याग कर सतिगुरु के आदेशों का पासन करे। गुरु की आज्ञाओं के अनुसार जीवन-यापन करे। उसके आदेशों पर आचरण करे। बुद्ध के जीव स्वयमेव गप्ट हो जाएँगे। सुख-रवि का सुगहना प्रकाश चारों ओर फैल जाएगा और बुद्ध कृपा की उस अमरा वती में स्नान करने वाला मोक्ष-यव को प्राप्त हो चिर-शान्ति पासेगा।^२

वास्तव में सांसारिक सुख-बुद्ध से रहित निर्वाण-यव प्राप्त करने का मात्र साधन गुरु ही है जिसकी प्राप्ति मनुष्य के सत्कर्मों और मोभाग्य पर आचारित है। वह चरम-नरय का अनुभवही महापुरुष होता है और उसकी चिर-सुखर बागी नभ सागर की बुलकपी तरंगों के बपेओं से मनुष्य की रखा करने वाली पतवार होती है। बुद्ध गानक कहते हैं कि संसार मे बुद्ध के प्रतीक भ्रम का मात्र केवल बुद्ध-हना और माम बिल्लन मे ही सम्मन है। हरि-नाम की यह विधेपता है कि उसके सम्मुख बुद्ध नही उहरना कम से कम उसका अनुभव तो मही ही होता। पुन कहते हैं कि ऐ जीव बुद्ध द्वारा प्रेरित हरि भक्ति के बिना सुख की उपलब्धि कल्पना है। कारण स्पष्ट है मानव में विकसित होता रहने वाला अमिमान बुद्ध-कष्टक बोया करता है

१ विविध करम कमाई नहि आस अरिआ होइ ।
किन्नु बुद्ध बिनु त्रिकुटी छुट्ठी सहजि मिलिजे सुखु होइ ।

सिरी म० १ पृ० १८ ।

२ इह बुद्ध पुछहु आपने गुरु पूछि कार कमाउ ।
सबदि सनाहि मन बर्न हउने दुखु बनि बाउ ।

३ ८ सिरी म० १ पृ० १५ ।

उन्हें उखाड़ना और मार्ग प्रमत्त करना गुरु के सामर्थ्य की ही बीज है।^१ मत्त बीजन को मुक्त सति में डालने के लिये किसी अनुभवी गुरुय को लानो और उसके बताए माग पर हरि भक्ति की ओर अग्रसर ह्राओ—मुक्त-ही-मुक्त है।

गुरु मनुष्य में सद्बुद्धियों को पका करता है

महत्त्व के क्षेत्र में मानव में सद्बुद्धियों को जागरण देना गुरु की एक और विशेषता है। वह मनुष्य के पशुत्व को फिर से मानवता का जामा पहनाकर नेत्री के माय पर चलना सिखाता है। मनुष्य की बर्बर प्रवृत्तियों को गया रूप देता और जीवन में मह-अस्तित्व का प्रतिपादन करता है। गुरु मानव सुसम गुणों का कवच है वह अपनी निजी भक्ति से बुद्धियों की ओर अग्रसर होने बाध प्राणों को सदैव 'सु' की प्रस्था देता रहता है। वह शिष्य के हृदय का श्रुमार बन जाता है और प्रत्येक स्थिति एवं स्थान पर उसकी अन्तरात्मा की आवाज बनकर पुकारता है 'बुराई नहीं करना'। निगुरा (वह दुर्भाग्यशाली जिस सतिगुरु की शोच न हो या शोचने पर मिला न हा) व्यक्ति कबल गुरु बिहीन ही नहीं गुण-हीन भी होया है। वह बुद्धियों की ओर अधिक प्रवृत्त रहता है और एक बार यमम मार्ग अपना लेने पर, क्योंकि उसका पक्ष-प्रदर्शक कोई नहीं होता वह कभी सुमार्ग की ओर चल ही नहीं सकता। ऐसे हीन मनुष्य का हृदय शुभ्य है आत्मा में गुरु का प्रकास नहीं माया के अन्धकार में वह तडपता है लेकिन जब उसे इस पटाटोप से बचाने और निकालने वाला कोई नहो। गुरु-बिहीन व्यक्ति तो गुरु जानक की दृष्टि में इतना गहिर है कि उसकी ओर मुक्त करने मात्र से मुँह मूठा हो जाता है पाप भगता है।^२ कारण स्पष्ट ही उसका निगुरापन नहीं नि धुमियापन है। गुरु जानक का कथन है कि केवल सतिगुरु ही वह साधन है जिसकी प्राप्ति से मनुष्य 'सुमति' बन सकता है। मनुष्य का महागठम मनु अतिविक गुरु-श्रोति से नष्ट हो सकता है। जिसके उदय के साथ ही हृदय (मैं नेरी की भावना) का अन्त होता है और मन वपण शरीरका उम्भल हो जाता है। उन निर्मल और स्वच्छ हृदय में जीव साक्षात् भयवान् की प्रतिमा को धारण करता है। वह स्थिति प्राप्ति को संसार के आकर्षणों और बुद्धियों की ओर से मरवा के लिये मुक्त करा देती है। वह 'सु' के क्षेत्र से निर्दग्ध हो 'सु' के क्षेत्र में निचरस करने लगता

१ गुरु परसाही हरि प्रथ जाके ऐसी रूप बदारी ।

बिनु हरि भपनि नाही मुक्त प्राप्ति बिनु गुरु परस न पारी ।

२ १, मूलरी म० १ पृ० १०४ ।

२ जानक निगुरिजा गुलु नाही कोइ । मुहि केरिऐ मुहु बुद्ध होइ ।

सारांग की वार, म० १ पृ० १२४० ।

है हरि-नाम में भीत हो जाता है और अन्ध सबकी उपेक्षा करता हुआ गुरु तन्त्रों के गुण में बीधा गुरुवान कहलाने का सामर्थ्य भी प्राप्त कर लेता है। यही कुबारनाओं पर, मनुष्य की विषय है।^१ अभिप्राय यह कि मनुष्य के अन्तर में सर्गुण संस्कार रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। उनमें छद्मभूत करने वाली किसी बाहरी शक्ति की उपेक्षा है। मागव की अन्तरात्मा को कि 'सु' का जंघ होन के कारण उस सुप्रेरणा देती रहती है मग की मूहबोरी और अंधता के कारण बंध-सी जाती है। अन्तरात्मा की 'सु' की प्रेरणा को सबल बनाता गुरु का कार्य है। इससे मानवीय गुण समीप हो सके हैं मनुष्य भेदिये की संभृती को उतार फेंकना है और करुणा बना सद्दानुसूति प्रेम शान्ति एव सद्-अस्तित्व की शैली को निज जीवन-रस से सदा सींचता रहता है। यह सब गुरु की बखौलन ।

सतिगुरु को पहचान

गुरु नामक सच्चे गुरु की ओर संकेत करने से पूर्व कुछेक बातों द्वारा जनता को बेधकारी साधुओं और महत्तों के सम्बन्ध में चेतावनी देना आवश्यक समझते हैं। कृत्रिम गुरुओं का जाल-बन्धु स्वयं नहीं खुसा होता उनके लिए अन्ध किसी को ज्ञान का प्रकाश देना कल्पनातीत होमा। गुरु नामक फरमाते हैं—

गुरु बिगहीं वा अंधता छिन्न भी अंधे करम करेति ।

उह भाधे अन्धवि जापणे मित झुठो-सूठि बोसेति ।

सच्चे गुरु को खोज निकालने में इसी लोक का स्वार्थ नहीं बीच का पारसौकिक स्वार्थ भी उसमें संचित है। और वहीं गुरु के चुनाव में गमती की तो जिसकी जाना की भी वह तो क्या मितेवा जो पास है वह भी जाता रहेगा। मुक्ति पाने के लिये कच्चा गुरु नहीं सच्चा गुरु चाहिए। 'गुरु' को गुरु स्वीकार करने से पहले टोक बजाकर देखलो अन्धवा काँधे गुरु त मुक्ति म हुमा' (मानक)। तब मनुष्य की वही दसा हाथी जो उस व्यक्ति की हो सकती है जो अन्दी में नहीं पार करने के लिय पकड़े पड़ की बजाए कच्चा बड़ा सेजर ही पानी की धारा में उतर पड़ा हो। संसार-सागर की तरफें तो और भी विकट है। इसे पार करने के लिये यदि अनजान केबट मिला तो 'गुरु तो बूढ़े थे सनम तुम को भी ले बूढ़े'। हमारे यहाँ प्रायः कहा जाता है 'नीम हनुमैम सतराए जान नीम मुस्ता सतराए ईमान' और यदि गुरु भी खोज में भीम चुनाव हो तो परिणाम होमा मानव-जन्म अकार्य और अन्ध-मरण के चक्र का पुनरावृत्त। इसीलिये

१ सतिगुरु मिलीये मत उत्तम होइ । मनु निरमनु इत्यं कर्ई पाइ ।

मदा मृषति बंधि न सके कोइ । सदा नाम बखौल मउत न कोइ ।

हमारे पूर्ववर्ती महात्माओं ने जन-साधारण को साबधान करने को कहा कि किसी की बिकनी पूरकी बातों में मत आओ समीचीनी समार न मुनो अनुभव करो । उससे पूछे और बताए मार्ग पर चलकर देखो रहस्याह्मात्म होता है तो अपना सबेसब उस महात्मा को सौंप दो वहीं सच्चा गुरु है । तुमही चाहिए ने कहा है 'जब लग न देसू अपनी नीची तब लग न बसीसू' गुरु की बीनी' । जब जिसे गुरु बनाते हो उससे कहाँ अनुरोध करो कि वह तुम्हें बाल्यबिकता का साक्षात् अनुभव कराए । कबीर ने मक्ति और भेय करली और कवनी कहाँ और गहता भावि कं जो अन्तर प्रस्तुत किये है वे भी सतिगुरु की पहचान में सहायक हो सकते हैं । जन्मपा 'गुरु मन्हीं तीं चित जाना; पर नेर किसे न जाना' ।

माइये जब गुरु मानक के संकेतों पर मनुष्य की पहचान करो । सद्गुरु की सबसे पहली पहचान है उसकी ब्रह्मिक पूर्णता (Absoluteness) । वह सदा सांसारिक आकांक्षाओं हृय-भोक बिस्था-अव भावपंश-बिर्कपण प्रेम और मुखा की सीमाओं से परे रहती है । उसकी आत्मा परमात्मा में सीत रहती है । इतिथिसे उसके बाहरी दुःख-सकभीके मा भौग-बिलास माया का चरमा पहलन नामे सांसारिकों को बाहे बास्तविक बीजे परभु स्वयं उसके लिये उन सबका कोई मूक्य नहीं । वह सब लख में बिचरण करने वाला स्वतन्त्र आत्मा होता है । भूसे मटके बीबी का बास्तविक मार्ग पर जाने के लिये उन पर कृपा कर लरीर बारध करता है और बुनिया के मक कार्य भुगताता हुआ भी वह धतमोक-बासी निरंजन ही रहता है । गुरु मानक वो कहेंदे कि यदि ऐसा ब्यक्ति आपको मिले तो 'चित बरलन होबा पूरा' ।

गुरु की दूसरी पहचान है उसकी निःस्वार्थता । वह दाता है मायता नहीं । गुरु मानक ने सिखा है—

गुरु पीठ सदाए, बंमब बाइ ताकमूलि न लपोरे पाइ ।

गुरु के अन्दर एक ऐसी बिष्य बालि रहती है कि न चाहते हुए भी मनुष्य उसके तैरस्वी ब्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । उसके बर्नन याम से जन का शान्ति मिलती है । जनजाने म हमारी बलगतमा पुकार उठती है । 'प्रयत्न करो महां कुछ मिलने की आसा हो सकती है । ऐसे महात्मा को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य जन रहता मृत्यु है वहां की मर्त है 'अन्दरे गुरु बीचारि ।'^१

पुन गुरु मन्था हो तो उससे गुरुमति धरीयी मनमोम निबि निबधी है । उसके उपदेशों में बास्तविकता की परब करो उसक बताए रहस्वों की जानन का

१ महरि तेरी मुकु पाइजा मानक सबहु बीचारि ।

मनुष्य भूमे पबि मुए अन्दरे गुरु बीचारि ।

प्रमत्त करो परिधाम का विश्लेषण भी कर देलो और यदि फिर भी कोई मूर्खिमान अनुभव न मिस सके तो गुरु की सत्यता में निश्चय ही सन्देह है। सतिगुरु तो जीव के सब सांसारिक बन्धन तोड़ देता है। उसे अपने बीसा हृदय-शोक से अप्रभावित स्तुति-तिन्वा से परे, मान-अपमान की उपेक्षा करने बासा बना लेता है। जग्य-मरण के चक्र का अन्त हो जाता है। दोषाद्य नर्म-बुद्ध भोसने की आवश्यकता नहीं रहती। सतिगुरु जीव को सज्ञान का बीपक प्रदान कर माया के बन्धकार में छिपी बभार्थताएँ पिछाने में समर्थ है। बस्कि सन्ने महात्मा के वाच्य तो जीव अपने निर्मल हृदय में ही परमात्मा के दर्शन करने की शक्ति पा लेता है।^१ सघार में गुरु स्वयं अपना पेट पालने ही के लिये नहीं बस्कि तरुते जीवा का उद्धार करने आता है। वह शब्द शक्ति से जीवों को मोक्ष दान देकर चिर-सुखी बनाने का विशेषज्ञ रहता है। अपने क्षेत्र में वह कभी असफल नहीं होता। विज्ञान प्रानिओं की प्रस्तुत शरीर क्पी दुःख पर पचन मन को व्यापारी बना वह सत्य का व्यापार करवाता है। व्यापारिक-साध होता है। प्रभु भिशन के रूप में।^२ अतः गुरु मानव का विश्वास है कि यदि कोई महापुरुष इस प्रकार मानव के दुर्गुणों को सद्गुणों में बदल दे अन्तर के रहस्यों का खेद बटाकर सत्य-मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे और विज्ञान का उत्सुकता को अनुभव प्रदान कर बाण्ट कर सके तो वह अवश्य ही योग्य और समर्थ होगा। एक बात और, गुरु और शिष्य का सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है। इसलिये वह किसी के व्यक्तिगत कामों में हस्तक्षेप नहीं करता। गुरुमुल के मन से उठने वाली सद्गुणों की पुकार सबैज जसे सांसारिक कामों में भी सम्भाग दर्शती रहती है।

भौतिक-विश्व में चारों ओर काल-जाल विद्य है। जीव विपद-विकारों तथा काम क्रोध मोह अहंकारादि के कारण उस फदे में फँसता है। न जाने जीव और काम की क्या मज्जता है कि उसे पीड़ित करने या सघाने में ही काम को आनन्द मिलता है। गुरु के शब्दों द्वारा ही इस गारकीम-मातना से शान्ति मिलती है। जैसे अग्नि जल दान देते से बुझ जाती है वैसे ही जीवों को सतिगुरु की बाणी के शब्द मनन और जाप से सघार की शान्ति से शान्ति मिलती है। सन्ने गुरु की

- १ सतिगुरु मिले ता गुरुमति पाईये, साकल बाणी हारी बिठ । १ ।
 सतिगुरु बन्धन तोड़ि निरारे बहुकि न करन मसारी बिठ ।
 मानक पिमान एतनु परणासिजा हरि मनि बसिभ । निरंकारी बिठ ।

४ ७ छोरक म० १ पृ० ११७ ।

- २ विभु गुरु मिले तिसु पारि उतारे भवमुल मेटी गुन मिसगारे ।
 मुचति महामुल गुरु सबदि बीषारि, गुरुमुनि कवे न बाब हारि ।
 वन हटकी बहु मनु बघवारण मानक सद्दे मनु बापाय ।

१८, रामकली मिथ म १ पृ १४२ ।

यह स्पष्ट पहचान है कि उसके उपदेशों में बसते हुए मानस को भी सान्त् करन की शक्ति रहती है ।^१ यह शक्ति है सद्गुरुओं की । सच्चा गुरु शिष्य को घर-द्वार छोड़ कर जगत् में भटकने या अपने पाँव बचाने के लिये नहीं कहता । यह तो सही जगत् में जीव के अन्दर मानवता को जग्य देता है; सद्गुरुओं के विकास की प्रेरणा देता और उसके निम्न मान प्रवर्तन करता है । यदि जीव उसके बचनानुसार कर्म कमा से तो उसकी कृपा प्राप्ति में कोई विलम्ब नहीं रह जाता । सच्चा गुरु किसी से शारीरिक सेवा की अपेक्षा नहीं रखता—उसकी शायी का पालन ही उसकी सेवा या भक्ति है । यह उसकी प्रमाणिक योग्यता है कि वह जीव में सद्गुरुओं को विकसित कर उसे बेबख्त की कोटि तक पहुँचा देता है ।^२

गुरु जानक गुरु की प्रकृति में स्पष्ट कहते हैं कि जिस ब्रह्म का हम भासों जगत् का जक काटने पर भी न पा सके वे उसे वह दिखा देता है मिला देता है ।^३ इतना ही नहीं सच्चे गुरु के आदेशों के पालन-मात्र से जन्म-मरण का जक एकदम टूट जाता है । उसमें विश्वास होने पर जीव के सामने केवल रहस्योद्घाटन ही नहीं होता ब्रह्मचर्य-इहोक्त-परमोक्त से भी ऊपर वह अपने वास्तविक घर सत्सोक को प्राप्त कर लेता है ।^४

गुरु-भक्ति

गुरु को पहचान लेने और उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लेने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि उसको भक्ति क्योंकर अर्पित की जाए ? प्रथम अध्याय में एक स्थान पर बताया जा चुका है कि भक्ति अज्ञा और प्रेम का समन्वय है । जब हम किसी पर विश्वास करके उसे अपना सबस्व समर्पित करते हैं बचने में कोई भाया या इच्छा

१ ऐ बी कानु सदा सिर ऊपर ठाढ़े जनमि जनमि बीरार ।

सार्थ शब्द रहीं से बाधे सतिगुरु ब्रह्म बुझाई ।

१ ३ पूजरी अष्टपदी म० १, पृ० ३०४ ।

२ नसिहारी गुरु आपने दिखवाही महवार ।

जिनि मानस तैं देखते किए, करत न सापी बार ।

१ श्लोक आता म० १ पृ० ४९२ ।

३ कहु जानक गुरु ब्रह्म दिखाइमा मरता जाता गदरि न आइमा ।

बडकी म० १ पृ० १३२ ।

४ गुरुभक्ति ब्रह्म एक निब साए, निब धरि बाधे साबि समाए ।

अमयु मरणा टाकि रहाए, पुरे गुरु तैं इह मति पाए ।

७ गडकी अष्टपदी म० १ पृ० ३३३ ।

नहीं रखते तो भक्ति का जन्म होता है। वास्तव में सभी भक्ति ही मात्र निष्काम क्रिया है। उसका परिणाम किसी प्रत्यक्ष फल के रूप में मिले तो हरि-इच्छा मत्पथा स्वयं किसी मन्त्र को हृदि में रख कर की जाने वाली भक्ति में प्रेम-वत्त्व का समाव लेना—क्योंकि प्रेम सेवा और त्याग का प्रतीक है आशा-आकांक्षा का नहीं। गुरु को पहचान लेने के बाद हृदय की सम्पूर्ण भङ्गा और विन्यास उसके प्रति उद्देश दिया जाता है। जब तात्किक-बुद्धि की नहीं समर्पण की आवश्यकता होती है ताकि गुरु के महत् आध्यात्मिक-प्रकाश में जीवात्मा भी धीरे-धीरे ज्योतिष होत नये। प्रस्तुत समर्पण का दूसरा नाम है अकम्प्य प्रेम एवं अन्त विस्वाम।

अपनत्व का त्याग

अपनत्व यज्ञा-यात्र (इष्टदेव—गुरु) का 'स्मरण' नहीं करता क्योंकि वह उसे कभी भूलता ही नहीं। वह निजी व्यक्तित्व का अस्तित्व ही नहीं रखता, अपन इष्ट में ही लीन हो जाता है। उसका शरीर बलता फिरता और कार्य करता दिखाई देता है परन्तु उसके दृष्टिकोण से प्रत्येक सत्यत अब गुरु की प्रेरणा का विषय होता है। अपना-आप गुरु को छीन देने के बाद निजत्व की बात बनाभिकार बेवटा है और एक सच्चे गुरु-भक्त से इसकी आशा नहीं की जाती। वह 'अपनपन' को मिटाकर आध्यात्मिकता के क्षेत्र में सर्वत्र अग्रसर रहता है। जो शरीर मिल रहते हुए भी उसका और गुरु का अस्तित्व एक हो जाता है। लीनता या समर्पण की स्थिति बड़ी गम्भीर स्थिति है। इसमें प्रेम की पराकाष्ठा के कारण जीव के मिये गुरु और इह में कोई अन्तर नहीं रह जाता। ब्रह्म की सब-व्यापकता से तो उसका परिणम होता ही है विधेवकर वह गुरु में साक्षात् ब्रह्म का रूप देखने समता है। जीवात्मा का यह लीन अनुभव होता है जब वह गुरु को सर्वस्व मान लेता है और उसी में सब कुछ बूझ-बोज निकामता है। गुरु भी 'अरणायत की आज' को अर्पित करते हुए अन्त तक जीव को आर्य-बर्षन कराते हुए उसके अंतम्य तक पहुँचा देता है उसे प्रभु की गोद में खीप देता है। इसीलिए गुरु नाटक काव्य में गुरु में लीन होने को ही अर्पण (ब्रह्म में लीन होना) की पर्याय वृष्टसूत्रि स्वीकार किया गया है—

मीत लखे देते जग माहीं किनु बुब परमेसठ कोई नाही ।

गुरु की सेवा भुक्ति पराहनि मनकिनु कीरतनु कीना हे ।

(राय मारुम १ पृ १०२८।)

गुरु-भक्ति में आज्ञा-पामन और विस्वाम दोनों सेवा के प्रतीक हैं नहीं आहम्बर और कर्म-कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती। मनमुख भक्ति प्रेम की अपेक्षित सीमा तक नहीं पहुँच सकता इसीलिए वह आराम-ज्ञान के नदय से सर्वत्र दूर रहना है। प्रभु-मिलन का लक्ष ही मार्ग है—गुरु के आदेशों पर आचरण। जीव को यदि

शक्तिगुरु भी प्राप्ति हो जाए और वह उसके बताए प्रशस्तपत्र पर अक्षरपत्र हो तो संसार की कोई नो मायावी शक्ति उसे वश में नहीं होने और मुक्ति पाने से नहीं रोक सकती।^१

भक्ति का अधिकारी कौन ?

गुरु-भक्ति तया गुरु-सेवा कितने प्राप्त हो सकती है ? जो प्राणी गुरु की इच्छा-नुसार कार्य करता है जीवन में शुभाचार का समग्रक है और हर समय हरि-मिसन का निष्ठागु है वह गुरु-भक्ति का सच्चा अधिकारी है। परन्तु प्रेम के इस पर में वैज्ञानिक-नियमों की अपेक्षा कृपा और कर्मा का साम्राज्य है। किसी भी प्राणी के निर्मम प्रारम्भ उम पर गुरु-कृपा का कारण बन सकते हैं जबकि दूसरा भीष फिर विषयानी एवं आदेश-मासक होत हुए भी प्रेम की अपेक्षित पराकाष्ठा से वरित रह सकता है तबहु गुरु की मन्गी भक्ति नहीं प्राप्त कर पाता। इसी कारण प्रायः कहा जाता है कि गुरु की भक्ति या सेवा उमी के लिये सम्भव है बिनापर गुरु की अपार कृपा होती है। जिस चाहे उसे गुरु सेवा और भक्ति प्रदान कर सकता है। हाँ कृपा-पात्र बनने की एक मुख्य बात है—वह है अमिमान-अहंकार का त्याग। मैं मेरा' का खान तु तेरा को अर्पित करके ही जीवात्मा गुरु-सेवा का वास्तविक अधिकार प्राप्त करता है और सतपुरुष के दरबार में सम्मानित होता है।^२ अतः जीव को चाहिए कि वह बाता (गुरु) से उसकी भक्ति की याचना करे। गुरु स्वयं तारणहार है क्या भी एक नजर से ही जीव का उद्धार कर सकता है। इसीलिये सन्तों ने मनुष्य से विनी भीतिक या आध्यात्मिक स्थिति की माँग करने की अपेक्षा उसकी कृपादृष्टि, उनमें पडा और भक्ति आदि भावों का मायना अधिक उचित समझा है।

गुरु-भक्ति या सेवा से क्या प्राप्त होता है ?

विश्व के दूसरे दल यह प्रश्न उठता है कि गुरु-सेवा तया गुरु-भक्ति पाकर, गुरु के आशय मिलेगा क्या ? स्मर कहा था बुका है कि भक्ति एक निष्काम-क्रिया है परन्तु फिर भी जिसकी भक्ति की जाती है जिसका स्मरण किया जाता है उमका रूप ही आना या उमी को प्राप्त कर सेना भक्ति का आधिकारिण परिणाम स्वीकार

१ साकृत प्रेम न पाईए हरि पाईए शक्तिगुरु भाई।
मुल बुल बाता गुरु मिलै कहु नामक मिषरित मसाई।

४ ७ मोठ म० १ पृ० ५१७।

२ गुरु की सेवा भो करै विनु आप करण।

नामक सिद्ध वे छुटीए बरगाह पति पाए। ८ १८ नामा म० १ पृ० ४२१।

किया जाता रहा है। इसमें मही अनुमान बनता है कि गीता का निष्काम-कर्म जो स्वयं मासिक के लिए, उषी की ओर से उषी को समर्पित है, सकाम का ही एक संशोधित रूप है जिसमें किसी वस्तु की कामता न करने की कामता और हरि मिसन की इच्छा निरन्तर बनी रहती है। ठीक वैसे ही गुरु मानक-बाणी में भक्ति के निष्काम होते हुए भी कुछ स्वाभाविक फसों की स्थिति स्वप्रकट है। वे ऐसे सामान्य परिणाम हैं, जैसे पड़ से पत्ता तोड़ने पर बल-साज या काँटा चुभने पर जटौर में पीड़ा। भक्ति के अनुयायिक-फसों में कुछ शान्ति की प्राप्ति मानसिक-चिन्ताओं का नाश सद्गुरुओं का प्रतिबन्धन जीबोद्धार और प्रभु मिसन सरीखे स्वामी परिणामों का प्रकट रूप उल्लेख होता है। इसकी कुछ चर्चा यहाँ प्रस्तुत करना नितांत उचित ही होगा। गुरु मानक साहित्य का विश्वास है कि गुरु-भक्ति से नरगुरु और सद्गुरु से परम गति की प्राप्ति होती है।^१ इसीलिए जीवात्मा का कर्तव्य है कि वह अपने को विस्मृत कर तन मन धन स मुक्त-संन्यास में समर्पण करे। परिणाम-स्वरूप वह अपनी शोक की चक्रे अनुभूति पासेया और मानसिक तुष्टि का मुक्त भोग करेगा। उसकी वाचा-तृप्ता जाँच होगी। जिस प्रकार कामिनी अपने पिया को कुभाते के लिये अपने को खँवारती है उसे सेवा पर पाकर सब प्रकार से समुष्ट होती और उसके मिसन में ऐक्य पा लेना चाहती है वैसे ही आत्मा हरि रूपी पति को प्राप्त करने के लिये गुरु-संन्यास का सहज श्रृंखार करती है। परस्पर प्रेम-प्यार को गूढ़ बनाने हेतु उसकी संन्यास-गामिनी ही नहीं बनती बल्कि गुरु-चरणों में बैठ कर पिया को आकर्षित करने की सिखा पाती है और अपने में सुन्दर गुणों का विकास करती है।^२ अन्तिम यह है कि गुरु-संन्यास और भक्ति के माध्यम से आत्मा रूपी स्त्री सतपुरुष रूपी पति को सुभाते का ज्ञान प्राप्त करती है, और अन्ततः सद्गुरुओं और आकर्षक व्यवहार की सेवा पर वह उससे ऐक्य स्थापित करने में सफल होती है।

गुरु भक्ति से विवेक-आगरण होता है। ज्ञान की ज्योति के बिना माया के गहन अंधकार में मात्र शोक निकालना साधारण जीव के लिये सम्भव असम्भव-सा है। केवल गुरु-भक्ति ही प्रकाश का वह वातावरण प्रस्तुत कर सकती है जिसमें बाहरी रूप से नैकहीन व्यक्ति भी सतसोक का मार्ग शोक निकालने में समर्थ होते हैं। क्योंकि संसार की भूल-भुलैयाँ से बचने के लिये गुरु मार्ग-दर्शक का सत्कार्य करना है इसलिये

१ सतिगुरु वट भक्ति पाएँ। बिदु मिसिरे परम बति पाएँ।

पद्य सिरी म० १ पृ० ७१।

२ गुरु संन्यास मुक्त पाएँ, हरिबद सद्गुरु सीवार।

सच्चि मास्य पिर संन्यास गूढ़ा हेतु पियाव।

गुरुमुक्त जाणि मित्राणीरे, गुरु मेरी मुक्त पाव।

२ ९ सिरी म १ पृ २८।

उसकी आज्ञा-माधन में कल्याण और लक्ष्य-सिद्धि की पृष्ठभूमि निहित है। जो लोग गुरु-रहित होते हुए भी ज्ञानवान होने का बम मरते हैं वे कभी मुक्त नहीं हो सकते। उनकी लम्बी बीमों और कोरी बातों का कोई मूल्य नहीं।^१

अन्त में गुरु-भक्ति की एक विशेष प्रकार पर, गुरु नानक ने भी जिसे पर्याप्त महत्त्व दिया है वो चार सभ्य कहना अनुचित न होगा। गुरु अपने सिक्कों (शिष्यों) से प्यार करता है अतः मनोविज्ञान के 'मुक्तस्य प्यार करते हो तो मेरी प्रत्येक वस्तु से प्यार करो' जैसे सिद्धान्तानुसार, उनकी भक्ति भी स्वीकार करता है और उसपर भी कृपा दृष्टि रखता है जो उसके सिक्कों की सेवा करते हैं। ईश्वर के बनाये बीमों की सेवा करना यदि ईश्वर प्रेम का प्रतीक हो सकता है तो निश्चय ही गुरु-सिक्कों से प्रेम गुरु की चरण-बन्धना से कम न होगा। इसीसिये तो गुरु नानक गुरु-सिक्कों से मिमने को उतने ही आसुर हैं जितना सतगुरुप को मिमने को जीव होता है। उनका मतव्य है कि गुरु भिक्क में हरि के सब गुण सम्पन्न होते हैं इसमिये उसका प्यार प्रभु प्रेम से कुछ भी कम नहीं। सिक्क गुरु के आदेशानुसार अपने में उन गुणों का विकास करता है, जिनसे वह भागव-वेद में रूते हुए भी मुक्त पारब्रह्म में भीन होता है। उसकी संगति उत्तम-गुरुप की संगति है वह गुरु-भक्ति का ही एक मौम्य रूप है अतः प्राद्य है।^२

आत्म विक्षेपण और गुरु

बुद्धिवादी युग के मौक्तिक निर्मितों द्वारा आत्म-पहचान सम्भव नहीं—बहु प्रकृति की बिस्तृत भीमार्मों से परे की जानकारी है। ऐसे में यदि मनुष्य को योम्य पथ प्रदर्शन मिल जाये तो वह स्वयं निरकारी बन सकता है। परन्तु सामायतय वह रास्ता भूल जाता है और कर्म-काण्डों ऋदियों-सिद्धियों या निरर्बक मोह-ममता के षक में जैन कर अपने परिश्रम की सार्थकता से भी हाथ को बैठता है। आत्म बिहले पथ ही वास्तव में ईश्वर की पहचान का मार्ग है अतः लक्ष्य-सिद्धि किनी ऐसे व्यक्ति की महायता से ही सम्भव है जो स्वयं पा चुका हो। जनवान से मार्ग पूछकर जेस

१ सतिगुरु मिमीए हुकमु बूझिऐ ठाँको आबे रासि ।
आपि छूटे मह छूटीऐ नानक वचनि विनामू । १ ।

मसार की बार म० १ पृ० १२८१ ।

२ आइ मिये पुर सिम आइ मिये गुरु मेरे गुरु के पिआरे ।
हरि के गुन हरि भाबे बने गुरु ते पाए ।
जिन गुरु का भाणा भनिआ तिन बुनि बुनि जाए ।

२ २ तिमय म० १ पृ० ७२५

आज तक कोई गंठम्य तक नहीं पहुँच सका ठीक वैसे ही जिसने स्वयं विश्लेषण नहीं किया आत्मा की स्थिति और स्वरूप को नहीं पहचाना वह जीव का पक्ष प्रदर्शन क्योंकर कर सकेगा ? स्पष्ट ही आत्म-विश्लेषण के लिये किसी सच्चे महात्मा की सहायता अपेक्षित है, जिसने आत्मा को भीखा हो परमात्मा का साक्षात्कार किया हो और जो ब्रह्मलोक और सतलोक के बीच सम्बन्ध-सार्थक का परिचय रखता हो ।

गुरु की प्राप्ति के साथ ही आत्म-विश्लेषण की मुख्य गहंताएँ, यथा मन पर विजय पाना हरि रस में लीन रहना परम-सत्य में अटूट विश्वास बनाना आदि, उपबन्धी हैं जीवात्मा माया की भ्रम से रहित हो जाता है और गुण-भक्ति के बाध्य उस अयम अगोचर कुसमात्मिक और अयम-अरज से परे रहने वाले सतपुत्र्य को पहचानकर अबोल मन का विश्वास उसे अर्पित करता है ।^१ यही स्थिति जीव की वास्तविक विस्मिष्ट स्थिति होती है । इसमें वह अपने को भी पहचानता है तथा अपने बनाने वाले को भी ।

जैसे अपने प्रतिबिम्ब को स्पष्ट देखने के लिए दर्पण का स्वच्छ होना आवश्यक है वैसे ही आत्म-विश्लेषण के लिये अन्तःकरण को मानसिक एवं मायावी शैथिल्य में से रहित कर लेना अपेक्षित ही है । ऐसे में मन बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी हो जाएगा और प्रभु प्रेम में लीन हो अष्टसंज्ञिता को पहचानने लगेगा । गुरु गानक इस स्थिति को उत्पन्न करने का एक ही उपचार बताते हैं—गुरु सम्बन्ध का अर्पण और पालन । गुरु के बचनों से मन की अचमत्ता शांत हो जाती है और बहू सहस्र-व्याप्त में ही हरि-रंग में रंभा जाता है । यदि जीव गुरु के बचनों को न पहचान सके तो वह परमात्मा की निकटता को क्या पाएगा बल्कि मनमुख बन कर भ्रम में ही भूला भटकता अपना जीवन अन्धाव छोड़ेगा ।^२

गुरुमुख कोम ?

जो जीव सतिगुरु की शरयता पहचान कर अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर

- १ मनुभा मारि निरमल पर भीतिआ हरि रस रहे बधिकारि ।
एकउ बिनु मैं अरु न जाना सतिगुरु बुद्धि बुझाई ।
अयम अगोचर जगामु अबोनी गुरुमति एको जानिआ ।
सुमर मरे गाही बिनु बोसै मनु ही से मनु भाजिआ ।

७ २, सारंग अष्टपदी म० १ पृ० १२३३ ।

- २ गुरु बचनि मनु सहस्रि विजाने । हरि के रंग रता मनु माने ।
मनमुख मरमि भुजे बजराते । हरि बिनु किइ रहीऐ गुरु सबधि पसाने ।

१ विभावत म० १ पृ० ७२६ ।

देता है उसके शत्रुओं में अटक बिस्वास रखकर जो सचखण्ड के मार्ग पर सर्वत्र अग्रपद
 रूढ़ा है जो गुरु में ही प्रत्यक्ष ब्रह्म के दर्शन करने का अभिलाषी है जो अहंनिष्ठ राम-नाम
 में सीन रहता है और जो केवल अपन आप को ही नहीं अपन समूचे परिवार, साधियों
 एवं अन्य सब बिनतीओं को भवसागर से पार पहुँचाने में समर्थ होता है वह गुरुमुख है। मन
 पाया और नियम-बिचारों का बिबेता गुरुमुख संसार की आशा-तृष्णा एवं रोष भोग
 में रहता हुआ भी इन सब से ऊपर आराम बीजन की प्रतिमा है। वह प्रेरणा का स्रोत
 आध्यात्मिक महत्कार्यकार्यों का स्वस्म तथा आत्म-बल का प्रतीक होता है। वह मन-
 बाही (मन के संकेतों पर पसल वाला) नहीं गुरुबाही होता। गुरु के बचनों में उसका
 रोषा रोषा रगा रहता है, मनमुख की तरह वह ऐसी वाली कमसी नहीं जो वर
 मारुता के सुमाने आकर्षणों में भी व्यसिष्ट बीजे। "मनमुख पपक सैल है बुग बीजन
 पीका जल में देता राखिए, अम अंतरि सूका" (आशा पृ० ४१६) के समान वह पत्थर
 नहीं मोम होता है। क्या कृपा करुणा सहानुभूति आदि गुण उसकी विशिष्टताएँ
 हैं। वह सोमों की पाहि की पुकार सुन कर तिसमिता उठता है उनके नाम हेतु वह
 गुरु तैमबहावुर बेसा भमं रक्षक और गुरु गोबिन्द सरीका राष्ट्र बाठा भी होता है।
 वह सद्भान ज्योति का पुँज होता है स्वयं मार्ग देखता है दूसरों का दिखाने की
 मक्ति रखता है।

वह पाता है तो गुरुमण बोसता है तो गुरुबचन ठोसता है तो गुरु-आदेश
 आता-जाता है तो गुरु बर्षनों की तृपा में अग्र विचारना है तो ब्रह्म-स्वरूप, स्नान
 करता है तो भसे-कम रुपी बल में पान करता है तो मर्यामृत और मरता है तो
 ब्रह्म-मरण से इतर, मुक्त हो जाता है।^१ बोके में अभिप्राय यह कि गुरुमुख वह सब
 कुछ होता है जो एक सही मुक्तात्मा को होता ही चाहिए।

प्रत्येक काम गुरु की इच्छा के अनुसार करना घट घटबाही परमात्मा को
 पहचानना गुरुमति के प्रकाश में निबल्य बीछना और बिबेतर परम-सत्य में रमे
 रहना गुरुमुख के वे गुण हैं जिनका बिस्मरण गुरु नामक ने सुमेरु पर्यंत पर सिद्ध
 योगियों से हुई जर्षा में प्रस्तुत किया था। कथित स्थिति में वे अपने अख्यय में बहते
 हैं 'गुण-मरमारमा एक रस सब के हूबन में बिद्येमान है परसु सद्गुरु का हृपा-पाव
 ही उठे प्राप्त कर पाता है। हम तो इसीमिये गुरु की इच्छा पर सब बृद्ध मपिठ किये

- १ गुरुमति मार्ग गुरुमधि बोसै। गुरुमति ठोम ठोसावे ठोसै।
 गुरुमति आवै जाइ निरंग। पररुि मनि जमाइ करैकु।
 गुरुमति नाद बेदु बीबाइ। गुरुमधि मजम जम जबाइ।
 गुरुमनि सबदु अमृत है साइ। नामक गुरुमधि पारि पाइ।

हैं जो उसे उबेना नहीं होता। हमें बुनिया में भेजा जले जाए बुलावा जायेगा तो जल बेंगे। गुरमुख (हमाच) का तो कर्तव्य ही यह है कि गुरु से उपदेश प्राप्त करे, अपने को तथा सर्वव्यापक प्रभु को पहचाने और उस परम-सत्य में अपने को सीम करवे।”^१

गुरमुख की गुरु-भक्ति का दूसरा स्वर है उसका सतपथ-गामी होना। वह पंचेशिग्र्यों के झूठे मार्ग पर चलना या गुरु के बचनों का विरोध करना दुर्बल पाप समझता है। वह सर्वत्र मिथ्या से बचता और सत्य को अपनाता है। सतपुरुष के हुक्म (आज्ञा) का वह अक्षरशः पालन होता है और सतगुरु की वरदा प्रहृष्ट कर तीनों गुणों की इच्छा से रहित बना रहता है।^२ गुरु नामक नै ऐसे ही महामानव के सम्बन्ध में कहा या

सतिगुरु देखिआ हीसिआ सीनी ।

मन तन भरपिउ अंतरपति सीनी । (४ गौड़ी पृ० २२७)

अर्थात् गुरमुख सतगुरु को पहचानता है उससे सीखा लेता है और फिर तन मन सब उसी को सौंप कर स्वयं 'अंतरपति सीनी' मुक्त हो जाता है। ब्रह्मम हो जाता है। अभिप्राय यह कि भक्त अपने हृत् से जुड़ा रहना गबारा नहीं करता चिर-संतति पाने के लिये वह उससे एकाकार कर लेता है। यही गुरमुख का वास्तविक स्वरूप है। गुरु मानक इसी रूप की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि यदि गुरु किनी पर विशेष कृपा कर ब्रह्म-तत्त्व को उसे साक्षात्कार करवा दे तथा सत्य और संतोष के बरदान देकर उसमें भ्रम के अभिचारों का अन्त करदे तो वह और गुरमुख कहलायेगा। उसकी संतति करने वाले अन्य लोग भी उसके उद्दीप्त प्रकाश में निम्नी विकारों का त्याग कर बेंगे।^३ गुरमुख अपने गुरु की आज्ञा से अनेकों का मार्ग प्रशस्त करता है और गुरु की

१ बटि बटि बेसि निरंतरि रहीए आसहि सतगुरु माए ।

सहजे जाये हुकमु सिचामे मानक सदा रमाए ।

आसहि बेसधि बिद नाराइकु ऐसी गुरमति पाए ।

गुरमुखि बूझे जापि पछाने छजे साथि समाए ।

१ रामकृष्ण विचारावली म० १ पृ० १३८ ।

२ ओतहि साच मिदिआ नहीं राई ।

आसहि गुरमुखि हुकमु रबाई ।

रहहि अतीत सब सरलाई ।

१ गौड़ी म १ २२७ ।

३ साधि महिल गुरु अमल लसाइआ । माच संनते भरम बुकारआ ।

विग की संगति गुरुमुख होइ । मानक साच नाम मनु जोई ।

१ १५ गौड़ी म० १ पृ २२८ ।

समूची सक्ति को प्राप्त कर 'गुरुमुखि कोटि उभाएवा हे नामे इक कनी क्य लक्ष्मा स्वस्व प्रस्तुत करते में समक हाता है।

बिन्दु बिन्दु साहिक मरि बसै, गुरुमखि अमृत देव । (सिरी पृ० २० ।)

गुरुमुख माया के त्रिगुणात्मक कर्मों से परिचित हाता है और सदा अपने दामन को माया-मोह के कांटों से बचा कर बसता है। वह कहने और करने के मेद को समझता है। उसकी हर बात केवल कबनी नहीं प्रत्यक्ष करनी होती है। स्वभावतः ही अनुमती होने के कारण वह आश्चर्य नहीं रखता कर्म साधुओं की तरह 'और को मसीहूत बुर मिर्मा फसीहूत' के आशय दूसरों को माया के बन्धन फाटने की केवल निशा नहीं देता, बल्कि स्वयं बन्धन फाटकर दूसरों के सिये आदर्श बड़ा कर देता है।

गुरु मानक साहिक कहते हैं कि गुरुमुख के अन्तःघर में पंचेन्द्रियों के चोर चोरी नहीं कर सकते क्योंकि वह हरिनाम की कृपा से सदा जागता रहता है। उद्योग ईश्वररोसासङ्ग होने के माते उन मम मन सर्वस्व अपने इष्ट को समर्पित कर दिया होता है फिर मना जो भी ब्रह्म उसकी रह ही नहीं गई, उसमें व्यय कामनाएँ उत्पन्न करने का अधिकार ही उसे क्या है? यही कारण है कि गुरुमुख जो हरिनाम अपना ही नहीं बल्कि हरिमय हो जाता है काम जोषादि पाँच चोरो से कभी पराजित नहीं होता। इनका एक और मुख्य कारण बताते हुए गुरु मानक आये कहते हैं कि बुद्ध के उपदेशों से जीव (गुरुमुख) की तृष्णा की बन्धि मुक्त जाती है और उसमें ज्ञान-ज्योति का प्रकाश फैलता है। तात्पर्य स्पष्ट है कि गुरुज्ञान के कारण जीव अपना घना कुरा समयमने समता है और भौतिक तृष्णा से बचने का सङ्ग्रहास करता रहता है। आत्मा गुरु-कृपा से हरिनाम के अनुसन्ध-मन को प्राप्त करता और सदा निष्काम बना रहता है।^१ ध्यान रहे, गुरु मानक वाणी में कामनाओं के त्याग का यह अर्थ कभी नहीं समता कि जीव घर-गृहस्थो झाड़ और परिवार मोह त्याग कर वीरग्य धारण कर न।

दूसरों को मुक्ति-दायक बिलाने का अनुरोध स्वयं गुरुमुख का अद्भुत गुण है। प्राचीन महाकवि है कि जगत की सात पुस्तें नकबल तर जानी हैं परन्तु मही संतमय में ता परमसत्य का कृपा-मोह कुछ इस प्रकार बह रहा है कि बहूरी बधा में जा पादे हाम धोता जाए। गुरु मानक लिखते हैं—

१. गुरुमति चोर न सागि हरिनाम बबाईए।
- सबदि निबारी जागि जोति बीपाईए। १।
- साधु एतनु हरिनामु गुरि गुरनि बुझाईए।
- घरा रहे निहनामु के गुरुमति पाईए।

जिन गुरुमुखि पिआरा सेबिआ, तिन कउ घुनि जाइआ ।

आपि सुई परबार सिउ समु जसनु छडाइआ ।

(८ २ पय तिसय म १ पृ ७२३)

अभिप्राय यह कि घटदुरूप का सबक गुरुमुख यह महान् विभूति है जो केवल स्वयं या अपने परिवार को ही मुक्त नहीं करवाता प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व पर प्रेम और साति का जलधर बन छा जाता है कृपा-सृष्टि में जो भीगा उषी का छत्र हो गया ।

प्रश्न उठता है कि यदि गुरुमुख विशुद्ध आचार-विचार का मुक्तारमा होता है तो यह छत्र के मलिन वातावरण में क्योंकर रहता है ? गानक एकदम मुस्ताब बेटे है कि मलिनता में रहने वाला आवश्यक नहीं कि मलिन ही हो । उदाहरण बेटे है कमल का । कितना स्वच्छ और निर्मल फूल है जिसता है मलिनता में पंक में और फिर भी सुगों से सौन्दर्य-बोधक उपमा बन है । ठीक वैसे ही गुरुमुख विश्व-जीव में अरविन्द की नाई रहता है—मलिन वातवरण से ऊँचा सर्वत्र ऊँचा । गुरुमुख के लिये माहमाया की गन्धरी का होता न होगा एक समान है । जैसे सिंह बास नहीं खाता वैसे यह आध्यात्मिक-सिंह कभी मायावी-बास के पीछे घुम नहीं हिंसाता । उसकी मर्दान से माया की तो क्या बिसात काल भी काँपता है । धी बुद नानकजी न लिखा है जिनको प्रभु ने अपने पास लरण दे दी है उनको तो काब मी (मासात् यमराज भी) पीड़ित नहीं कर सकता । गुरुमुख तो भीतिक पीड़ाओं से ऊपर यों स्वस्थ और सुध्वनस्वित रहता है ज्यों जम और कीचड़ से ऊपर विकसित हवीबर ।^१

गुरुमुख की उपर्युक्त अनेक विद्येपताओं की ओर संकेत करने के उपरान्त गुरु गानक राम रामकमी में गुरुमुख के अस्य अपेक्षित गुणों की सूची-सी प्रस्तुत करते हैं—

गुरुमुखि साधे का मज पारै गुरुमुखि बाभी अकहु पड़ाई

गुरुमुखि निरमसि हरि गुण पावे गुरुमुखि पवित्र हरिपर पाई

गुरुमुखि रोमि रोमि हरि पिआरै गानक गुरुमुखि साधि समाब । २७ ।

गुरुमुखि पररै बेद बीचारी गुरुमुखि पररै ठरिअँ ठारी

गुरुमुखि पररै सुखबदि गिआनी गुरुमुखि पररै अँठरि बिमि आनी

गुरुमुखि पाइऐ असत अवाइ गानक गुरुमुखि मुकठि दुआइ । २८ ।

गुरुमुखि अकमु कर्षे बीबाइ गुरुमुखि निबहै सपरिवाइ

१ जिन्ह कउ आपि जए प्रभु मेनि तिन कउ कानु न साकै पेनि ।

गुरुमुखि निरमसि रहहि निआरे जिउ जल अँज ऊपरि कमस निटारे ।

गुरुमुखि बपीऐ अंतरि पिबारि, गुरुमुखि पाएँ सबदि आचारि,
 सबदि भेदि जागै जाणई, नानक हजम बालि समाई । २१ ।
 गुरुमुखि बरती साबे साबी तिस महि ओरति सरति मु बाबी
 गुरु के सबदि रवि रवि लाइ साधि रतउ बति सिउ भरि जाइ
 साधि सबदि बिनु पति नहीं पाबै नानक बिनु भाबै किउ साधि समाबै । ३० ।
 गुरुमुखि अष्ट सिधि सभि बुधि गुरुमुखि मजजमु ठरीबै सचसुधि
 गुरुमुखि सर अपसर दिधि बाबै गुरुमुखि परबिरति निरबिरति पछानै
 गुरुमुखि तारे पारि उतारे, नानक गुरुमुखि सबदि निघतारे । ३१ ।
 गुरुमुखि रतनु रतै सिवसाई, गुरुमुखि परख रतनु मुमाइ,
 गुरुमुखि साबी कार कमाइ गुरुमुखि साबे मव पतीबाइ,
 गुरुमुखि असख सखाए ठिगु भाबै नानक गुरुमुखि भोट न खाबै । ३२ ।
 गुरुमुखि नाभि वानि इछानागु, गुरुमुखि लागै सहज पिआगु,
 गुरुमुखि पाबै परगह मागु, गुरुमुखि मज अंजनु परमाणु,
 गुरुमुखि करबी कार कणए, नानक गुरुमुखि मुनि मिलाए । ३६ ।
 गुरुमुखि सासत्र सिमृति बेध गुरुमुखि पाबै पाँच पटि भव
 गुरुमुखि बैर बिरोध गबाबै गुरुमुखि धयली यमन विटाबै
 गुरुमुखि राम नाम रवि राता नानक गुरुमुखि खसम पछता । ३७ ।

सिंह-गोपट पृ० १४१ ४२ ।

गुरुमुख की पहचान

गुरुमुख की पहचान में गुरु-भक्ति और सेवा अनित-अंश सम्मान ईश्वरीय परिचय नाम-वाप आधागमन से मुक्ति निरन्तरिमानदा भौतिक-निर्मितता आदि महान् बुद्धों को पाकरण बनाना या सकता है । सबसे पूरा उतरने नामा महामानव प्रथम है अहूय कुछ भी नहीं । वास्तव में हमें अपने अज्ञान के कारण उसे पहचान नहीं पाते उठे अपने रीति साधारण-वीर समझकर उसकी परख करने निकल जाती अद्वारी बुद्धि का प्रमाण देते हैं अथवा वह इतना कि का तो जीव ही नहीं रह जाता— वह यत्नोक्त-बासी होता है ।

अकाल-पुरुष

(ब्रह्म)

१ ओंकार सतिनाम करता पुरुष निरमल निरर्वर
 अकाल-मूर्ति अज्ञानी सर्वं शुद्ध प्रसादि ।
 (मूल-संज्ञ—अपुत्री)

१ ओंकार सतिनाम करता पुण्य तिरमज तिरवीर
 अकास-मूर्ति अनुनी तैमं नुठ प्रसादि ।

‘ब्रह्म अनुमनीय और मन्त्रकृतिमान है । वह सतिनाम अर्थात् वह मन्त्र स्थापना वा वस्तु के बहनों से परे है । परम धरत है । वह मन्त्रमयक सृष्टि-रक्षयता है । उस किन्ही का मन्त्र नहीं किसी से कर भी नहीं वह मूत्र भविष्य और बतमान की सीमाओं से परे है । वह वा है और रूपा । संसार की सम्पूर्ण प्रकृति अमीम मन्त्र और लौकिक है वह अकेले असीम अनन्तर और अतीतिक है । वह अच्युती है अर्थात् किसी योनी में जन्म नहीं लेता क्योंकि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और वह मन्त्रमय है । वह स्वयं प्रकाश-स्वरूप है और अच्युती प्राणि केवल मन्त्र की कृपा से सम्भव है ।’

शानी का उपर्युक्त मूलमन्त्र ब्रह्म के नाम का जो स्पष्ट करने में पर्याप्त समर्थ है । प्रस्तुत पर में उस वैदिक परम्परा के अनुसार ‘ओंकार’ नाम दिया गया है जो कि केवल पहचान और स्मृति का नाम करता है एक तथा पर के अन्य सभी मन्त्र (मुद्राप्रसारि के अतिरिक्त) ‘ओंकार’ नाम के रूप में पहचान की पूर्ति करने के लक्ष्य के लिए । पुनः पुनः-काल में ब्रह्म की और भी कई नामों में पुकारा गया है यथा निर्द्वन्द्व अकास पुण्य पारम्य परमेश्वर आदि । कहीं-कहीं ता परिष्कृतिकरन मनना का अर्थ आकषिण करन तथा उन सम्प्राय पर समान के लिए राम-कृपादि अक्षरों के नामों का भी ब्रह्म के लिए प्रयोग किया गया है । इसका यह अन्वय प्रमाण बताना नहीं कि पुनः पुनः अक्षरों में विश्वास रखने से या राम-कृपादि की ब्रह्म का अक्षर मानने से । वे सब अक्षर ही महापुरुष से । उनका जन्म प्रकृतिस्य या स्वभावतः जन्म भी प्रकृतिस्य होता ही था । इसलिए उनका ब्रह्म का जन्म-मूल मुण ‘अक्षरमय’ से था और निश्चय ही वे ब्रह्म से थे । ऐसे महापुरुषों के लिए पुनः पुनः अक्षरों में स्वीकृति तो है परन्तु ब्रह्म-रूप में नहीं । उच्च और आदर्श व्यक्तियों के रूप में । अन्तों और महात्माओं में जो समय-समय पर संसार-उपशान्त प्रकृत हृत रहते हैं ब्रह्म की महान शक्ति की उपस्थिति भी ओंकार की पर्य है । ईसाई मुसलमान तथा अन्य सभी विश्वासे-अर्थियों की तरह पुनः पुनः मानते हैं कि संसार की शक्ति हुई कृपितता की लक्ष्य करने के लिए ब्रह्म स्वयं अपनी शक्तियों से पराभूत कर संवेगवाहक भवता रहता है और इन्हीं लक्ष्य आश्चर्यवादानुसार लौटा लेता है । वे

संवेद्यबाहुक महापुरुष विश्व को स्रष्टाई का काम बता जाते हैं। मूली मटकी आत्माओं को ब्रह्म-मिस्रम क साधन समझा जाते हैं। जीवन का एक नया और आक्यक रूप दिखाते और अपने रास्ते बस बैठे हैं। मटकी बनता अपने मोहसिन को भ्रमती नहीं। उस पर अमर-स्मृतियाँ स्यौसाबर करने के लिये उसमें अन्तार की स्थापना करती है। मालिके-कृम को निजी सृष्टि के पीछों की इस भूम पर धोम होता है। अतः उन्हें सत्य मार्ग दिखाने के लिए अक्रान्त पुण्य को पुनः कोई शक्ति भञ्जनी पड़ती है, जो धीरे-धीरे मायावी प्रकृति की अन्तार बुद्धि द्वारा फिर अवतार माग भी जाती है। यही कारण है कि विश्व की धार्मिक विचार-धाराओं में हजारों पैगम्बरों देवो देवताओं का नाम लिया जाता है परन्तु ब्रह्म के एकत्व में कभी किसी को सन्नेह नहीं हुआ।

(१) सृष्टि सञ्चलन

भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार प्रारम्भ में अक्षय-गुण्य के अतिरिक्त और कुछ न था। गुणनामक ने तो जाति का प्रश्न ही अनापेक्षित माना है। उनके विचारानुसार यदि प्रारम्भ में कुछ न था तो सूर्य रहा होगा और वही सूर्य निरंकार का रूप था।

आदि को जिसमादि पीबाप कपीयले सुने निरतरि बापु लीजा । २३ ।

(रामकृष्ण म० १ छिद्र पोपटी पृ० २४० ।)

उस अक्रान्त की इच्छा हुई कि वह अपने मनोरंजन के लिए कोई साधन जुटावे। यह सृष्टि बड़ी साधन है जो निरन्तर उस शून्य क आकार पर, बिछरे इच्छा प्रकट की गई थी बनती बिगड़ती और पुनः पोषित होती जाती जा रही है। शब्द की उस अकथनीय शक्ति से बड़ी-बड़ी विचित्र चीजें अस्तित्व में आईं। ऐसी कौतुक-सम्प कि उनकी वास्तविक पहचान भी उसी की महत्व शक्ति से समझ पड़े ? कुछ-मानक मिच्छते हैं कि अक्रान्त पुरुष ने अपनी दृष्टानुसार इस विश्व की रचना की और उसका यथार्थ स्वरूप समझने की सामर्थ्य भी अपने एक ही सीमित रखी। आक्रान्त और धरती की रचना की गई। शब्द के प्रकटीकरण पर अबलम्बित बिना स्तम्भों में गगन स्थिर कर दिया। निष्ठा-विद्या सृष्टिसे कौतुक प्रस्तुत किए गये एवं बहुस्वयं सत्य-सिद्धासन पर बठ धर्मपूर्वक अपनी रचना को देख-देख कर मनोरंजन करता रहा और शेष सब आने जाने के लक्षण में पड़ कर रह गये।^१

उसकी इच्छा से सब उत्पन्न हुआ है उसकी इच्छा से ही विश्वनम

१ आधीनही जापि साजि आपु पछातिजा । अंबद परति विद्यादि बंदोआ ताजिजा ।
बिनु बन्ही गगनु रक्षाइ, सबहु नीसाजिजा । किये राठ विगंतु भोज विटाजिजा ।
सर्व लखति निबाए होर आचण जाधिजा । मसार की बार म०१ पृ० १२०६ ।

परिभासित है। नीचे उसी की इच्छा से माया-बन्धन पड़ा और काल-वास में फँसा है, और यदि उसकी इच्छा हो तो वह सत्य में भी समा सकता है। सार यह कि नीचों के बन्धन में कुछ नहीं जो उसे स्वोकार्य है यही होता है।^१ गुण गौबिन्द सिंह ने भी सृष्टि का सृजन अकाल-गुरुप से ही माना है जिसकी ज्योति बतुर्दश सोको^२ में फैली हुई आज भी जीवन संभार कर रही है।^३ अगुनी में भी मुकनान्तक नहीं रहते हैं।

कीता पलात एको कबाड । तिस से होय लघु बरियाड ।

कुबरत कबज कहा वीषाव । धागिया न जावा एक धारि ।

जो तुष्टु भावे साईं मनो कार । तू सबा सनामत निरंकार । (पदड़ी १६)

अर्थात् परमेश्वर ने एक ही बन्धन से सृष्टि का यह धमूचा प्रसार प्रस्तुत किया है। एक ही बन्धन से लाखों प्रकार के सृजन हुए, यथा वीच जाति का रंग अथवा अन्य अर्थरूप प्रकृत वस्तुएँ। उसकी कुबरत (शक्ति) अमाह है कोई कितना बिचार करे, परन्तु उसकी सीमा नहीं पा सकता। यही कहना होगा कि उसकी इच्छा से जो बना है वही ठीक है। मजा तो दय वात का है कि अपने एक बन्धन की शक्ति से जिसने इतना बड़े परिवर्तनशील विश्व की रचना की वह स्वयं अविनाशी स्वरूपरहित धान्ति से बैठा इस परिवर्तन का तमाशा देखता आ रहा है।

(२) बाल और अकाल

जो बस्तु समय और स्थान (बेध और काल) की सीमाओं में बद्ध है वह कभी बिरस्राय नहीं हो सकती। उसका अर्थ अनिनाय है। बेध और काल से हमारा अभिप्राय है वस्तुओं का नैसर्गिक-नियमों के बन्धन में होना। अतः स्पष्ट ही जो वस्तु प्राकृतिक रूप से अनिनाय होती उस पर माया के सृष्टि-परिभासन-नियम अक्षय लागू होंगे। परिवर्तन भी ऐसा ही एक निसय-नियम है और प्रत्येक परिवर्तन-शील वस्तु।

१ हुकमी अमे अगजहि हुकमी कार कमाहि । हुकमी काने बसि है हुकमी सांनिधमाहि ।

मानक जो तिस पाने सो पीए । इना जंता बसि किष्टु नाहि ।

४ ८ राय सिरी मण्टपरी पृ० १५ ।

२ भारतीय भाषाओं में १४ सोड स्वीकार किए गए हैं सात इहमोऊ से नीचे और छ ऊपर । नीचे—तप्त, शिशु, अतप्त, मृतम, रसातल, वनातल और पाताल । ऊपर—सू, बुध, स्वः, मह, जल, तप और सत्य ।

३ प्रकृतो भादि एरंकारा अस बस महीमत कोड पनाय ।

सादि पुरसु बधिपति अबिनासी मोऊ अत्रदय ज्योति प्रकासी ।

गुण गौबिन्द—अकाल जस्तत ११० ।

मृत्योऽमृती होती है। माया-भुवों^१ का कार्य ब्रह्म-जगत्-पोषण और नाश भी परिकल्पना की ओर संकेत करता है और भुवों-भुवों से इसे सृष्टि का साक्ष्यत्व निश्चय स्वीकार किया जा रहा है। परन्तु सत्य का पहला गुण है यद्विग्न और परिवर्तनशील होता। सत्य सर्वत्र सब स्थानों और सब परिस्थितियों में सत्य ही रहता है उसमें समय के फेर से कोई फेर नहीं आता। बिना में एसी कोई स्थूल वस्तु नहीं जो समय और स्थान के परिवर्तन के साथ परिवर्तित न हो जाए। सृष्टि तो बीज से पैदा पैदा पर फल और फलों से बीज बनने का जगत् है वह कभी सत्य नहीं हो सकती। एक साधारण-सी इच्छा का इतना बड़ा निर्माण कम-से-कम इच्छुक की भाँति का महान् सत्य कदापि नहीं हो सकता। वह असत्य है वह परिवर्तनीय है वह देश-काल में सीमित है उसका सर्वत्र हुआ है, इसलिए माया स्वानात्मिक है। वह वह सब 'कास' है। समुची प्रकृति बीज-वस्तु, अणु-ब्रह्माण्ड आकाश-वाताल सब में स्थान है सब महद्वर है सबका उत्पान और पतन होता है इसलिए वे कास द्वारा नाशित हैं। ठीक है कि सत्य चारों ओर बिखरा है परन्तु कास के प्रभाव में किसी को बिखार नहीं पड़ता। उस पर भी कास का आवरण पड़ गया है। सर्वत्र वमकाने के लिए कालावरण फाड़ना पड़ेगा और उसकी सम्भावना रहती है ज्ञान-मन्दरनी के सुफल प्रयत्नों में। माया तथा उनके सीमों पुत्र ब्रह्मा विष्णु और महेश कास कृति के रूप हैं। कास की सीमाओं का परिचय गुरु-बोधिन्द ने भी इसी प्रकार किया है।

एक तिग्न भये एक सये एक फिर भये ।

रामचन्द्र हृष्य के भवतार भी जैक हैं ।

ब्रह्मा अब विसन केते धैर और पुरान केते ।

तिमरित समूहन के तुई-तुई बितए हैं ।

मोनरी मदार केते असुनी कुमार केते ।

जंता भवतार केते काल बस भये हैं ।

पीर औ पीताम्बर केते गने न परत एते ।

सुमहिते तुइके केरि सुमि ही मिलए हैं ।

(अकाल उस्तत गुरु बोधिन्द सिंह पद ७७)

जो समय और स्थान की भीमाओं से परे है जा अद्विग्न अदोश और अपरि वर्तनशील है जो शाश्वत सत्य है सर्वांगीण सुन्दर है जो परिस्थितियों के बन्धन से

१ एका भाई पुमति बिभाई तिन भसे परबाणु ।

इकु संघारी इकु भंघारी इकु भाए बीबाणु ।

बिज तिसु भाई तिरै बभाई बिज होवे फरमाणु ।

ओहु बैस ओना नपरि न जाई बटुटा एहु बिबाणु । अपनी पदड़ी १० पृ० ७ ।

मुक्त है जो कथ-कथ में समाया है, विश्व के समस्त नाम-रूप जिसके नाम-रूप हैं, परन्तु जिसका कोई विशेष नाम-रूप नहीं वह 'अकाल' है। यह अव्ययनीय अकथनीय अनिर्बन्धनीय अद्वितीय अद्विकारी अविनाशी अविपत्ति भादि अनादि अनादि और अनन्त है। यह सर्वव्यक्तिमान सर्वव्यापक और सर्वरक्षेयता है।

अनुबी म मुर मानक ने अकाल की विजिह्वा प्रस्तुत करने के लिए, उसके द्वारा आध्यात्मिक-विकास के त्रिक लक्षणों की रचना का विषय किया है जिसमें पहले चार में आज भी उसके पप्रञ्च सेवक माया के बन्धे साम्राज्य स्थापित किया है, परन्तु किसी में इतना साहस नहीं कि वह मुझे ब्राम उसका विरोध कर सके। वे धर्म के नाम पर स्वाह करम की सोचने हैं जबकि पाँच लक्ष में एक बार सरय पहले वाला भयंकर पापी भी (अकाल के हजूर में) क्षमा कर दिया जाता है। मुर मानक ने रचित लक्षणों के नाम क्रमशः इस प्रकार दिये हैं—(१) बरम लक्ष (२) मान लक्ष (३) सरम (धम) लक्ष (४) करम लक्ष (५) सत्य लक्ष या सचलक्ष। प्रथम चार लक्षणों की रचना परिवर्तनशील है उनका स्वरूप देव और काम की सीमानों में अहित है इसलिए वहाँ काल का राज्य है। सचलक्ष अकाल का स्थिर अहित अपरिवर्तनशील और चिर-सरय सिहासन है जहाँ पर निश्चित भाव से बैठना वह अपनी अन्य लक्षणों की रचना का ठमाना देखा करता है।

पहले लक्ष की रचना का स्वरूप मानक इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं 'पाँचों लक्षों अम-वायु-अग्नि-पृथ्वी-आकाश स प्रथम लक्ष की रचना की गई, जिसमें स-मृतुओं घात बारों और १२ पालिक त्रिविधों के अष्ट क्रम की स्थापना हुई। उनमें अनेक नामों रूपों जाणियों और मूरतों का उत्थान हुआ। वह चिर सत्य स्वयं कहीं सत्य सिहासन पर बैठे जीवों की कर्मवृत्ति का ठमाना देखता है। वहाँ उसकी ऊँचा दृष्टि से जीव के बुद्धियों के लक्ष भी अन्त दिये जाते हैं। इस लक्ष में सब प्रकार के अष्ट-मन्त्रे जीव विद्यमान हैं परन्तु दरगाह में पहुँच कर सब उन्नी का बाप करने हैं। प्रस्तुत मण्डल हमारा यह इहलोक ही है। बुद्धानन्द ने इसे धर्मलोक कह कर इसलिये बुलाया है कि यहाँ से ही जीव सत्कर्मों बन कर परमेश्वर की ओर धुक करता है। यही वह लक्ष है वहाँ तथा नाम-ब्रह्म लोच सेने से ऐसा प्रसन्न पथ हाप लगता

१ राठी रठी चिनी बार। पवप पापी अबनी पाताम।

तिम बिबि बरलो बापि रली बरमधाल।

तिम विष बीज वृषति के रंय। तिनके नाम अनेक अमन्त।

करमी करमी हारि बिचार। तथा जानु तथा बरचार।

तिके सोहति पथ परवापु। नरठी करमि पवं भीमापु।

कथ पवाद आर्यपाद। नामक गरमा जारि जाद।

(अनुबी पदवी ३४।)

है कि एक-एक कर सब जगहों और लोकों को पार करता हुआ मुक्त-जीव अपने द्वास्तविक घर सप्तसङ्घ में पहुँच जाता है। किसी सतपुत्रय का बताया जीव जब मंथिम की लँघारी करता और आत्मा के अतिविक-विकास की महनीयता को समझ लेता है^१ तो यहाँ से चलकर दूसरे स्थान 'ज्ञानमोक' में पहुँचता है। गुरु मानक के मठागुहार धर्मसङ्घ का यह नियम है कि 'बहु ज्ञानमोक के कठम्या का परिचय जीव से करवाता है। 'उसमें अनेक प्रकार की बामुएँ पानी तथा बमियाँ हैं, कितने ही कृष्ण और महेस हैं अनेक रूप रंग के उष-स्तरीय जीव हैं। कम-बाण्ड के अनेक आहार हैं अनेक सुमेरु पर्वत हैं और न जाने कितने धन भक्त वहाँ ज्ञान की लोच में उपस्था कर रहे हैं। वहाँ अनेक इन्द्र चन्द्र और सूर्य हैं उसमें अनेक मण्डल हैं कितने ही सिद्ध बुद्ध और नाथ ज्ञान प्राप्ति के पक्ष में वहाँ फँसे बैठे हैं। ज्ञानसङ्घ में कितने ही देवी-देवता दानव और मुनि हैं कितने ही समुद्र और उनसे प्राप्त होने वाले रत्न हैं। वहाँ अनेक तरङ्ग की बामियाँ हैं अनेक प्रकार की खाने हैं अनेक बारलाह और राजे-महाराजे पड़े हैं। न जाने कितने आत्म-सेवी वहाँ एकत्रित हुए हैं सबमुच उन सबका कोई अंत नहीं।^२ ज्ञान सङ्घ के इस स्वरूप से मानक न स्पष्ट कर दिया है कि धर्मसङ्घ के जो जीव कम-काण्डों तपस्या तक ज्ञान तथा बीदिक-अभित्यो से उमरने का प्रयास करते हैं वे इस सङ्घ में फँसे रह जाते हैं। माने सप्तसङ्घ तक जाने के लिये उन्हें श्रद्धा विश्वास प्रेम और भक्ति की आवश्यकता पड़ती है। गुरुमानक ने वह भी स्पष्ट किया है कि ज्ञानसङ्घ से भागे निकलने के मार्ग में जाने वाली कठिनाई स्वयं ज्ञान की प्रचण्डता ही है। एक के उस अनावश्यक बातावरण में जीव सकपका जाता है। वह इस निरन्तर तक नहीं पहुँच पाता कि उसका पतन्य कहाँ है! बेचारा करोड़ों प्रकार के शब्द-रस और बिलास में ही जो ज्ञान सङ्घ की विलेप निधि है निमग्न हो सबाई को नबा बँड्या है।^३ तीसरे सङ्घ का वर्णन सरम सङ्घ के नाम से किया गया

१ Japj—Commentry by Sant Kripal Singh.

२ धरम-सङ्घ का एहो घरमु, गिजान-सङ्घ का भासकृ करमु।

केते पवण पानी बँसंतर, केते कान महेस।

केते बरमें बाइति बड़ीबहि रूप रंग के बेस।

केतीबा करम मूमी मेर केते केते पू उपवेस।

केते इंद बर सूर, केते केते मंडल वेम।

केते सिध बुध नाथ केते केते देवी वेस।

केते देव दानव मुनि केते केते रत्न समुद्र केतीभा बापी केतीबा बापी।

केते पाठ गरिब। केतीबा सुरती सेबक केते नामक भन्नु न भन्नु।

(जपुजी पत्रड़ी १२)

३ गिजान सङ्घ महि गिजान परपड निर्ये नारे दिनोद कोड बानंदु।

जपुजी पत्रड़ी १६।

है। सरम से अभिप्राय है अम। ज्ञान प्राप्त कर विश्व की अनन्तता के धानकार के सिधे जाये बढ़ने के सिधे स्वयं मेहनत करने की आवश्यकता पड़ती है। अम से इस लक्ष्य में बह मेहनत से सघाई की शोभ करता है। मेहनत में मानन्द होता है अतः इस लक्ष्य की बाधी अति सुन्दर, मोटी और सरस हावी है। वही की रचनायें या कृतियाँ भी सौन्दर्य की साखल्य प्रतिमायें होती हैं। अतिथीय सौन्दर्य वहाँ द्वाया रहता है। सच तो यह है कि वहाँ की बातें अकमनीय अनिवचनीय हैं। बह रहस्य और भेद का इष्टिकोण है, यदि कोई उस रहस्य का सातन का दूषयस करता है तो उसे पीछे पड़ना पड़ता है। बह स्याम आत्मा और मन का शुद्धिकरण स्याम है। वही आत्मा निष्कमक हो जाती है बुद्धि की लक्ष्य प्रधानता का नाश हो जाता है विश्वास और संकल्प के नेत्र जड़ होते हैं। (अम इन सब स्थितियों का उत्तरदायी है)। देवताओं और महात्मा सिद्धों-योगियों को भी वास्तविक ज्ञान मेहनत के इस लक्ष्य में ही होता है। ज्ञान मनुष्य को अहंकार देता है जबकि अम मज्जना का चतक है और आध्यात्मिकता के माय पर अहंकार के छन्दे की नहीं विनम्रता के रूप की आवश्यकता पड़ती है।^१

करम (वया कृपा रहम दरिद्रता) लक्ष्य में व्यक्तिगत गुणों का कोई महत्त्व नहीं होता। जो जीव स्वयं प्रयत्न करते हुए भी अपने को उस मानिक-परमस्वर की वया का पात्र बनाते हैं अपने को उसकी कृपा के अधीन रखते हैं वे इस लक्ष्य की शोभा बढ़ाते हैं; अर्थात् वे अज्ञान-पुरुष के अधिक निकट आ जाते हैं। इस समीपताको पाकर यदि जीव उसका गुणमान करता है उस अपने मन में बसा लेता है तो करम लक्ष्य में रह कर उसका निकटता का सम्बन्ध भी मह हो जाता है—बह सच-अस्य का अपिकारी बनता है, और अज्ञान-पुरुष लक्ष्य प्राप्त कर मठा है। यही जीव का वास्तविक मध्य है। "करम-लक्ष्य (वया का देग) की शाली बड़ी जोरवार है उसकी प्रत्येक स्थिति सरवथा की प्रतीक है। अतिरिक्त सम्-शक्ति के वहाँ और कुछ नहीं। वहाँ लक्ष्य पहुँचने वाले जीव निरन्तर ही महाबली मूर्ख होते हैं। उनकी धृष्टता किसी पुष्ट-लेन में बड़ी-रूप-आरण करने में नहीं मानिक की हृदय में बसाने में निहित है, तिन महि राम रहिमा नरपूर'। वे परमात्मा की महिमा की पीठा में एकरस अपने चित्त को जोड़े रखते हैं। उनके स्वयं का अमन अमम और कुम्बर है। वे अमरलोक वासी हैं बिना-जीवी अम जाते हैं उनक अन्दर में ईश्वरीय प्रकाश छाया रहता है और वे कभी बाया के शोभ में नहीं पड़ते वास्तविकता को पहचानते

१ सरम-अस्य की बानी रूप जिसे पाइति पड़ीय बहुनु अमुनु।
वा दिया वया अपिजा न जाहि न को बहै सिधे पदुनाहि।
तिर्य पड़ीयै मुरनि मति मनि बुधि तिने पड़ीयै मुदा मिधा की गुधि। पउड़ी ३६।

है। करम-सङ्ग वह देव है जहाँ लोक-लोक के मत्त-शेष परमात्म को प्राप्त करते हैं।^१

करम-सङ्ग से भी ऊपर स्वयं ब्रह्मलोक स्थित है। गुरु नानक ने इसे सचसङ्ग कहकर पुकारा है। इसी लोक में स्वयं अकाल-गुरु सत्य के स्वामी और विश्व सिंहासन पर बिराजमान है और अपनी रचना क बेलों को देख रेक कर प्रसन्न होता रहता है। वहाँ अनेक सङ्ग-ब्रह्माङ्ग प्रह सूर्य चाँद और तारा मण्डल हृष्टिपत्र होते हैं वे सब उसी सचसङ्ग की सेवा में संलग्न हैं। कोई उसका भजन करना चाहे तो वह अपरम्पार है अनन्त है वहाँ वर्णन की पूर्ति असम्भव है। वहाँ भाँति-भाँति के लोक हैं मित्र स्वर्गों का स्थान है और जिसको जैसी आज्ञा मिलती है वह वैसी कृत्य-मूर्ति करता है। आप निवृत्त रहकर, अपनी इस महाभावा की माया को अकास-गुरुय्य देखता और प्रफुल्लित होता है। गुरुनानक फरमाते हैं कि उक्त लीला का कथन सहज नहीं लोहे सरीखा कठोर है।^२ जपुबी साहिब के अन्तिम श्लोक में गुरु नानक ने जीवों के काम फल में होने तथा मुक्ति-साधन प्राप्त कर सतिपुरुष में सीन होने का अन्तर स्पष्ट किया है। यों तो संसार में जन्मने वाला प्रत्येक पुरुष प्राकृतिक नियमा के अधीन पणपटा है और नश्वर होने का कारण मरता है दोनों की परिस्मि तियाँ बराबर होती हैं परन्तु कर्मफल अपना-अपना ही उपसम्भ होता है। काल-फल में फल जीवों की अन्त्याइयो-बुराइयों को लेखा बखकर पुनः जन्म मरण के चक्र में भज दिया जाता है और सत्य प्रिय आत्मायें सदा के लिये अमर-लोक गामी जाती हैं। गुरुनानक मिलत है सभी जीवों का जनक पोषक और दितक एक है—पवन सबकी गुरु है क्योंकि केवल वायु द्वारा आगी उत्पन्न कर शिला भी जाती है। पानी पिता है। केवल उस से ही उत्पत्ति सम्भव है। धरती माननीय माता है, केवल उसी में से सबका उत्पादन हुता है। पुनः सति वायु है जिसकी गोद में विश्व विधाम करता है जिसका बर्णों को गिलान वाला हाथ है। उसकी गोद में संसार का सफल जीव निभ प्रकार के बल रखते हैं। अभिप्राय यह है कि एक ही माता-पिता से जन्म-धारण कर

- १ करम-सङ्ग की बाणी जोह तिर्ब होद न कोई होब ।
तिर्ब जोगु महाबल सूर, तिल महि राम रहिआ मरपुर ।
तिर्ब सीताशोता महिमा माहि, ताके रूप न कबने जाहि ।
न ओहि मरहि न टाग जाहि, जिनके राम बसै मन माहि ।
तिर्ब भयत बसहि के लोह करहि आनख सचा मनि सोह । जपुबी पउड़ी ३७ ।
- २ गजराजि बसै निरंताठ करि करि बेसै नहरि निहाम ।
तिर्ब पण्ड मण्डस बरमंड के नो कब ठ बंन न बंठ ।
तिर्ब नाम लोभ आकार त्रिप त्रिब हुकमु तिर्ब निब कार ।
केटी बिपसै करि भीषाद नानक कपता करड़ा साह । जपुबी पउड़ी ३७ ।

एक ही गुरु से वीदा लेकर, एक ही माय की गोद में बिभामकर और एक ही दास के साथ खेलते हुए विश्वजन कर्मों से फिर भी बुधा-बुधा हैं। सबक खण्डे और बुरे कर्मों का अभिनेता धर्मराज (काल-शक्ति) के सम्मुख पड़ा जाता है और दूर या समीप के निजी-कर्मों के भोगफल का निर्णय सुना दिया जाता है। कोई ईश्वर की समीपता पा लेता है और कोई उससे और भी दूर हो जाता है।^१

स्पष्ट है कि काल अति निम्न स्तर की एक मायावी शक्ति है और दयामय वह महान् ताकत है जिसका नाम रूप गुण आयोजन कुछ भी सर्वों की सीमाओं में वांछा नहीं जा सकता। पुरानाक अकाल-गुरुप की स्तुति में कहते हैं 'तू अकाल है काल नहीं अनादि और अनन्त है इसलिये जन्म-मरण से परे है। तू महान् अगम और अमोचर है। तेरी वास्तविकता को पहचानना बड़ा कठिन है। काल के फले अपने विस्तृत हैं जि उसकी बाहरी सीमा तक दृष्टि में आना भी समस्या बन रहा है। सत्य और सन्तोष का प्रतीक तेरा शब्द अति मनाहर और शक्ति को शीतल करने वाला है। जो कोई सहज भाव से लिब लयाय तेरा शब्द सुने और उसके रहस्य को समझे वह काल-मुक्त हो सकता है। तू तीन लोक से दूर (संकेत है कि तीनों लोक काय-शक्ति द्वारा पोषित है परन्तु अकाल-गुरुप उससे भी उच्चपदासीन है।) बीजे भर तुरिया अवस्था में बिराजता है। कबल तू जन्म-मरण का अपवाद है तूने काल विकाल को घस लिया है। तूरी निर्मल ज्योति सम्पुण जय-जीवन में प्रकाश फैला रही है तू कण-कण में समाया है परन्तु माया के पर्दे के भीतर से बीज तुम्हें पहचान नहीं पाते। पहचानने के लिए तेरी कृपा और सतिमुख के अवलम्ब की आवश्यकता है।'^२ बीज की काल के सामने एक नहीं चसती। वह मर्कट की भाई काल प्रकृति के इतारे पर चसता है। ब्रह्म या अकाल-गुरुप की प्राप्ति बीज में

- १ परन्तु मुख पानी पिता माता बरती महनु ।
विकस पाठ हुई दार्द-दाइया लेने सयस जगनु ।
बंदिबाइयां बुराइयां बापै धरमि हुरि ।
करमी आपा आपनी के नेड़े के डुरि ।
जिति नामु बिबाइया गए मसकठि पाणि ।
गानक ठे मुख उजसे केटी छुनी नाणि ।

(जपुबी अन्तिम श्लोक)

- २ तू अकाल-गुरुपु नहीं छिरि काला । तू पुरनु जसेप अपमं निराला ।
सति मंतोप सबहु अति चीतनु । सहज भाइ लिब माइया ।
त्रै बरताइ बीजे बरि बाला । नाम विकास कीए इक प्रासा ।
निरमल जाति सरब जपु जीबनु । गुरि अतहद सब दिवाइया ।

४ भाक म० १ पृ० १०३८ ।

एक सजीव-बिजासा की अपेक्षा रहती है जिसकी सृष्टि किसी सच्चे महात्मा के चरणों में बैठकर अनुभव की उपलब्धि से ही सम्भव है।

(३) अकाल-पुरुष का स्वरूप

वह चेतन-तत्त्व जो अपने में परिपूर्ण है जिसका स्वरूपता होने के नाते स्वयं अपरिवर्तनशील तथा वेद-काल की सीमाओं से परे है जो अदृश्य सत्य का प्रतीक है जो अपने में सबको एवं सबमें अपने को समाप्त हुए है वही अकाल-पुरुष सतपुरुष निरंजन ब्रह्म या परमेश्वर कहलाता है। गुरु गोविन्द सिंह के युग में उसे 'सद्यिधी अवास' भी कहा गया। सद्यिधीअकाल में उसके स्वरूप के तीन मुख्य पहलू दिये गये—सत्य (The Truth) थी (The God) तथा अकाल (The Endless)। फिर भी तथ्य यह है कि उसका सामान्य रूप हमारे जिज्ञे बरतन के पानी जैसा रहा है। जैसे पानी निम्न रूप के बर्तनों में पड़कर निम्न रूप धारण किये दीसता है यद्यपि उसकी वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं आता जैसे ही सर्वव्यापी ब्रह्म हमारी भाँसों पर सगी मोखे की टट्टी के कारण (गमा) सृष्टि के निम्न पहलुओं में बसा निम्न रूप में बित्ताई देता है। 'अन्धों के हाथी' की तरह जिसने जसा अनुभव किया वह ब्रह्म को बसा ही निरूपित करने लगा—यद्यपि ब्रह्म उन निरूपणों में से कोई भी नहीं और वह सब कुछ है भी। अनुभवी महापुरुषों ने समय-समय पर उसके अनेकानेक पहलुओं का आवास प्राप्त किया और जन-नाधारण के मार्ग-अवलोकनाद्य ब्रह्म के उस विशिष्ट स्वरूप-गुण का निर्द्वेषन करते रहे। परन्तु व सब यह भी मानते थे कि उनके द्वारा निर्दिष्ट भाव ही ब्रह्म नहीं 'वह' और भी बहुत कुछ है। उस असीम का कोई भी सीमित रूप या अनुभव उसकी सम्पूर्ण परिभाषा कदापि नहीं बन सकती। इसीसिधे महात्माओं ने सतपुरुष का सर्वसम्भव चित्रण करते हुये भी यही कहा कि वह अनिर्बर्तनीय-सत्य है अस्म्यारिभक्ता का महाभगव परन्तु अवर्तनीय सत्य है। उसे हमारी शास्त्रिक परिभाषाओं की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। अनुभवी महात्मासमए उसका पहचानकर परमानन्द की स्थिति को प्राप्त करती है तो भी व हमारे को उसकी वास्तविकता पूर्णतया बता नहीं सकती अनुभव करा सकती है। यही कारण है कि केवल विश्वास माने जाने कुपेठ व्यक्ति ही उन महात्माओं का अनुकरण कर पाते हैं और मांस के अविनाशी बत सतिपुरुष को प्राप्त करते हैं। इसीसिधे तो विश्वास उसकी प्राप्ति के मार्ग की पहली अहता है। गुरु नाटक भी उन्हीं महान् एवं अनुभवी मुक्तात्माओं में से एक व जिन्होंने उस 'गुरु' को केवल पहचाना और अनुभव किया-कहाया ही नहीं प्रत्युत उसका प्रतिनिधित्व भी उन्हें मिला था। उन्होंने नोक कस्याचार्य उस सतपुरुष के स्वरूप पित्त जहाँ तहाँ अपने काव्य में प्रस्तुत किए हैं। वे स्वीकार करते व कि सांस्कृतिक के गुण अन्वर्तनीय है तो भी विश्वा

मुर्तियों को समझाने के लिए, उनमें वास्तविकता के प्रति इति उत्पन्न करने के लिए, सतिपुत्र के अनेकालेक गुणों का संकेत के अपने मूर्तियों में करते रहे हैं। स्वल्प और मुर्तियों का निर्माण तो न आमतक किसी ने किया है न कर सकेगा हम भी यही मुख मानक द्वारा निर्देशित मुर्तियों में से कुछेक मुख्य पहलुओं का विषय मान करंगे ताकि विषय-मूर्ति में हम जान सकें कि अकाल-मुख्य की सत्ता के सम्बन्ध में मुख मानक का क्या महत्त्व था।

(७) अनादि-अनन्त—उक्त सत्य का न आदि है न अन्त। किसी ने उसका निर्माण नहीं किया वह स्वयंप्रभु है। आरम्भ में केवल बही था। वह सत्य है सत्य का अन्त नहीं होता अतः प्रलय के बाद भी उसका अस्तित्व योंही बना रहता है। इच्छा अस्वाप्नी झूठी और धामयिक हो सकती है परन्तु इच्छुक का अस्तित्व धर्म ही होगा। सत्पुरुष परम शक्ति है, नससे बड़ा और कोई नहीं। मुख मानक निश्चये हैं कि वह आदिपुरुष है अन्त के पूर्व से उक्तका अस्तित्व है और वह अपार, अकाल तथा अबाह्य शक्ति अक्षय है। वह सबव्यापी पारब्रह्म अक्षय यहाँ अनुदिक प्रसार दीक्षा है अन्त और आने अन्तों से बहुत परे की सत्ता है। वह मुख-मुख से जाता था रहा है, उक्तका कोई आरम्भ नहीं न अन्त होया। उसके अतिरिक्त धर्म सब झूठ है।^१ मुख मानक ने अपुत्री साहित्य में भी संकेत दिया है कि बाहरी आचारों से सतिपुत्र का निर्माण असम्भव है किसी की शिष्याओं से उसके अस्तित्व-अनस्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो स्वयं सर्वस्व है माया रहित वाहिमुख है, इसलिये उसके बदने-बिभङ्गन का प्रयत्न ही पैदा नहीं होता।^२ और भी 'अब मह मूर्ति न भी अक्षय-अक्षयों प्रहमवर्तों की रचना भी बनौ न हुई थी नर-नारी आदि भेद मुख-मुख कुछ न था तब भी अकाल-मुख्य की सत्ता विद्यमान थी। वेदों पुराणों या स्मृतियों में उसके उदय-अस्त की माया नहीं कही जा सकती अपने एहस्यों का अन्त-भोला वह स्वयं है। अक्षय होते हुए भी स्वच्छ से वह किसी पर भी प्रकट हो सकता है अक्षय-अक्षय पातासादि तो उसकी आज्ञा का स्वरूप है जो आक्षयकानुसार प्रकट हो गये हैं।'^३ बाइबल में भी उक्त माया

- १ मनु साहित्यो आदि पुरखु अपरंपारो पारे राम ।
अबम अयोधर अरर अपाय पारब्रह्म परमानो ।
आदि बुपादि है भी होसी अबत न झूठा समु मानो ।
- २ बापिमा न आद, कीठा न होद । आपे आपि निरंजन सोद । अपुत्री पठई ३ ।
- ३ ब्रह्मा विमनु यहैस न कोई । अबत न दीसै एको सोई ।
आदि पुरखु नही आदि न अन्तमा ना कोई दुख मुख पाइदा । १३ ४ ।
देर अनेक न सिमृति सासत पाठ पुपन उई नही आसत ।
बहुता अन्ता आपि अमाचर आपे अन्तस नआइदा । १३ १३ ।

(दीप अयने पृष्ठ पर)

सम्बन्ध' इसी प्रकार कही गई है, 'ईश्वर के अतिरिक्त वहाँ कोई न था। उसने रचना करने की इच्छा प्रकट की और उसकी आज्ञा का संस्कार प्राप्त हुआ।" अग्निप्राय यह कि जब उसके गुणों का अन्त नहीं वह बड़े से बड़ा है उसकी बाह कोई नहीं से सका उसकी कृपाओं और कायों का कोई अन्त नहीं तो मला उसका अन्त क्योंकर हो सकता है? वह अनन्त है बनादि है।

(क) सतगुरुप निर्गुणत्व—आदिग्रंथ के एक पद में (पद २ ९, शीख, म० १ पृ ३३७) जहाँ सतगुरुप को काल-कर्म रहित अजोनी तथा सम्मत् (स्वयंप्र) कहा गया है, वहाँ रूप वर्ण रेषा का अभाव भी उसमें दिखाया है। माक-भ्रम रहित कह कर उसकी अनुपमता की ओर संकेत किया है जिसे कबीर ने 'आको मुख माना नहीं नहीं रूप-रुक्म' पुष्प-वात से पातप देसा तख अनुप' कह कर बर्णित करने का सप्रमास किया था। ब्रह्म को निर्गुण या निराकार कहा गया इसका यह अग्निप्राय क्वापि नहीं कि उसके मुख है ही नहीं—सभी मुख समूचे आकार उसी के तो है, परन्तु उसके किसी एक मुख या आकार की सीमा में बद्ध न होने के कारण उसे निर्गुण-निराकार कहा गया है। वेदों में इसी दृष्टिकोण से उसे 'नेति नेति' यह नहीं यह नहीं कहकर विश्लेषण का अद्यतन प्रवास किया था। सम्भवतः वैदिक ऋषियों-मुनियों का यह मत रहा हो कि ब्रह्म 'केवस यह नहीं मान यह नहीं' यह तो सर्वस्व है। ऐश में ब्रह्म का स्वल्प 'नेति' की अपेक्षा अस्ति अस्ति' में योम्पतर दीख पड़ता है। वह इसलिये निर्गुण है कि सर्व-गुण-सम्पन्नता उसकी विशेषता है। वह इसलिये निराकार है कि सभी आकार उसी में से उत्पन्न हुये हैं। प्रस्तुत सत्ता है कि यदि वह निराकार होता तो आकार जहाँ से बगते? यदि वह निर्गुण है तो सृष्टि के विभिन्न गुण कहाँ से, आर ? सृष्टि की रचना उसने क्योंकर की? ब्रह्म अकाल-गुरु के अन्तर से ही सब उत्पन्न हुआ है; यही तो उसकी विशेषता है कि समस्त गुणों-आकारों नामा-रूपों को अन्त देकर भी वह स्वयं किसी विविष्ट नाम-रूप गुण-आकार से सम्बद्ध नहीं। यही कारण है कि गुरु मानक तथा उसके अनुयायियों ने वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म तथा कबीर का अनुकरण करने की अपेक्षा अकाल-गुरुप को भिन्न कोण से देखा। उसे इसलिये निर्गुण माना कि वह सगुण नहीं सर्वगुण है। उसे शब्दों-कार कहा क्योंकि

(शेष निम्नले पृष्ठ का)

बिरते क कउ गुरु सबहु सुयाइया करि नरि देखी हुकमु सबाइया ।

पंड ब्रह्मण्ड पाताम अरम्भे मुपतहु परगटाबाइया ।

१३ १३, माक सीमहे, म० १ पृ० १०३३ ३९।

- 1 There was none but God. He said let there be light and there was light. Bible

उसकी अनन्यता इतनी स्पष्ट है कि कभी नो नाई भटकी हुई आत्मा बोका
 जा सकती है । उसके सम्बाधक क माव 'एक' का विशेषण समाने का तात्पर्य सम्भवतः
 यही था कि उसके गुणों और भावों की महतीयता को एक जोर सीमित कर उसकी
 स्वतन्त्र पुनता और पुष्पाकार रहितता में विश्वास बढ़ाया जा सके । सिक्ख-गुरुओं ने
 सतिपुत्र्य को निगु प स्वीकार कएते हुये भी उसके सगुण-स्वरूप की उपेक्षा नहीं की ।
 वे बेदाशियों की तरह सृष्टि के मायावी प्रसार को झूठा ठो मानते हैं, परन्तु नुन्य नहीं
 उसकी रचना चिर-नन्य की दृष्टि से हुई है इसलिये वह नून्य कहापि नहीं हो सकता ।
 उसका झूठा होना इसलिये सम्भव है कि रचयिता ने केवल मनोरजनार्थ किलवाड़ रूप
 में उसका निर्माण किया था और प्रायः किलवाड़ कृत्रिम और अस्थायी हुआ ही करते
 हैं । फिर भी गुरु नामक ने जपुबी में "मालक सब्जे की सक्की शार" कहकर विश्व के
 सगुण-नन्यता की महत्ता स्वीकार की है, परन्तु क्योंकि वह हमारा मध्य नहीं उसके
 साथ बँधे रहना मजबूती होगी इसलिये मध्य रूप में मायावी सीमायें निरवय ही झूठी
 मानी जायेंगी । निर्गुन सम्प्रदाय के सन्त-महात्माओं ने इमी उद्देश्य से सृष्टि को झूठ
 कह कर जीव को सक्का सख्य बँधने की प्रेरणा दी है—अथवा सिक्ख-विचारमार्ग
 की यह अतिशक्ति महा के लिये स्पष्ट हो जानी चाहिये कि गुरु साहिब विश्व को
 बेदाशिये रूप में झूठा और शून्य एवं ब्रह्म को बेदाशिक दृष्टिकोण से निर्गुन और
 निराकार कहापि नहीं मानते । उनके मतानुसार विश्व इसलिये झूठा है कि वह विज्ञान
 आत्मा का मध्य नहीं और ब्रह्म इसलिये निर्गुन है कि वह किसी एक विशिष्ट
 गुण की सीमा में बँधे नहीं सकता । तनी ठो गुरु अनु मदेव ने जोर देते हुए सिखा
 है कि वह सतगुरु निराकार है पर साकार भी है वह निगु प है परन्तु उसमें सगुनता
 का अभाव नहीं । उस एक का ब्रह्म एक रूप में भी प्रिय है और अनेकता भी उसमें
 प्राप्य है । परमेश्वर ने स्वयं गुरुगुणों के आकार बनाये हैं । परन्तु फिर भी सबको एक
 ही मूल में प्रिय रखा है सबके पोछे एक ही शक्ति कार्यन्वित है । गुरुक-गुरुक तीनों
 गुणों का प्रसार उसकी सृष्टि में उपलब्ध है । इहलोक के प्राणी अतिशक्तिर रबोगुणी
 हैं पापान प्राणियों में तमोगुण प्रधान है और बेबी-बधता जाधि स्वर्गिक आत्मार्थ सतपुन
 में निमूनिज बनाई गई है । इन सबका प्रसार रचयिता के निर्गुनाकार को स्वस्व देता
 है । अतएव वह निर्गुन होते हुए भी सर्वापित दिखते सपता है ।^१

- १ निर्द्वार आकार आदि निगु प सखुन एक ।
 एहि एक ब्रह्मनो नामक एक अनेक ।
 मोरं गुरुगुण कीमा बकारा । एकहि मुज परोबनहार ।
 मिन-मिन मोगुन बिसपारं । निरगुन तं सखुन हसटारं ।

(घ) सर्व व्यापक एवं सर्व-शक्तिमान्—वीछे संकेत बिम्बा वा मुक्ता है कि अकास पुरव विश्व का रचयिता है और अपनी विश्व-मय का रसक बना बन्-बन् में व्याप्त है। वह एक है परन्तु समस्त सख-बहुधाओं में छाया हुआ है। वह हर जीव में है प्रकृति के प्रत्येक अंश में विद्यमान है परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि हम उसे देख नहीं पाते। केवल सतिगुरु ही जान शीघ्र देकर उस रहस्यमय तत्त्व को विज्ञाने की सामर्थ्य रखता है।^१ जिसने उसके व्यापकत्व का अनुभव किया है वह जानता है कि सतपुरुष सब कुछ स्वयं ही है उसके बाहर कुछ नहीं। कहता थोटा और इतान्त (Informant, Informed and the Information) वह सब स्वयं ही है। गुरु मानक ने राग सिटी में 'आपे'^२ के अन्तर्गत उसका (ब्रह्म का) सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। 'वह स्वयं गुण है गुण कहने और विचारने वाला भी नहीं है। रस उसकी परछ और उसकी ऊँची कीमत सब कुछ स्वयं है। सम्मान देने वाला वह है सम्मान भी नहीं है। निर्मल हीरा वह है हीरे की ज्योति वह है उबसा मोती है भक्त विद्येष्ट है वह सर्वस्व है बट-बट में व्याप्त है अव्यक्त होते हुये भी मुक्त-रूपा से वह प्रकटता है। वह सागर है सागर का मार-मार है और साय ही पार सने का बोहिया (पोष) भी वह है। मार्य वह है पबिक भी है और सख की बुन पर पब की वृत्ति की तस्मीनता भी उसी में निहित है—भाषि।^३ इस वर्णन से यह ठो निश्चित हो ही जाता है कि वह सब में विद्या है इसलिये सर्व-व्यापक है। 'सरख बीजा अगि बीति तुमारी जेती प्रभु फुरमाई है' (माक मोसहे १) के लखक बुद्ध मानक स्वभावतः ही उसके सर्व-व्यापकत्व में विश्वास रखते होंगे। उनका कथन है कि वहाँ तक मानव-दृष्टि उठती है एक उसके अतिरिक्त वृद्धा कोई शीक ही नहीं पड़ता। वह सब वस्तुओं जगहों और आकारों में समाया हुआ है,^४ प्राणियों की अन्तरात्मा उसी की ज्योति से प्रकाशित है वह सब जीवों में व्याप्त है। व्यापकता के साथ-साथ उसमें सम्पूर्ण शक्तियों का निबसित होना भी उसकी विशेषता है। वह अपने में इतना सम्पूर्ण है कि उसके अतिरिक्त सब शक्तियाँ शून्य हैं। ध्यान रहे ब्रह्म के सर्वशक्तिमान होने के सम्बन्ध में बुद्ध मानक का इष्टिकोष मत

१ एक महि सरख सरख महि एका एहि सतिगुरु देखि रिखाइ।

रामकसी अष्टपदी = ३, म० १ पृ० १०७।

२ वह स्वयं।

३ राग सिटी पृ० १४।

४ सर्व नवरि करे वा देखा हुआ कोई नहीं।

एका रवि पहिया सम बार्द, एकु बसिवा मन माहि।

भासा पटीनिजी १३ पृ० ४३३।

प्रतिष्ठित अद्वैतवादी विद्वान्मठ से मेल खाता है। माया तो मोक्षा है शक्ति नहीं। अतः यदि उसको किसी शक्ति का रूप दिखाई पड़ता भी है, तो वह सतपुत्र की दृष्टि के सामने धूम्य हो जायगा। यहाँ माया की शक्ति को झूठी कहने का तात्पर्य केवल ब्रह्म के सम्मुख उसकी अक्षमता दिखाना है। गुरु नानक ने मिथ्या भी है कि अकाल-पुत्र की आज्ञा के बाहर कभी कुछ नहीं होता; जो उसे अज्ञान मयता है वह करता है। उसके कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता वह बाबसाहों का भी बाबसाह है। सब उसकी सत्ता के सम्मुख नतमस्तक रहते हैं।^१ ब्रह्म की सर्वव्यापकता और शक्ति का सुन्दर स्वरूप गुरु गोबिन्द के 'आकाल-उत्तर' के १५१ से २०-३० तक के निरावच्छेदों में प्रस्तुत किया गया है। हरि क्या है, कहीं है और उसकी पहुँच कहीं तक है आदि बातों की अविश्वस्यक्ति ब्रह्म गुरु ने अव्यक्त अज्ञान से की है। गुरु नानक ने भी सतपुत्र की शक्ति का ऐसा ही रूप चित्रित किया है। वह रचता है नाश भी स्वयं ही करता है, प्राणियों के कर्म-कर्तव्यों का वितरक भी वह स्वयं ही है। वह चिन्तक और पुनर्जन्मक है मार्ग भी है। माय पर बनाने वाला भी है और बनुर है। मराने के उपाय भी जानता है। पवन पानी और अग्नि के उत्पन्न भी उसी में से प्रकट हैं और वह उनके मिश्रण से रचनाकार का पद भी पाए हुए है। अदि-सूय में वह है ज्ञान-भ्रान्त में रम रहा है, जीव वह है और भुक्ति-मार्ग का शोधक गुरु भी वह स्वयं ही है। गुरु नानक कहते हैं कि ऐसे शक्तिशाली चिर-सत्य से प्रीति बढ़ाने से ही काल के कंठ उख और कभी नहीं पीतते।^२ अस्तु गुरु नानक भी अन्य संत-महात्मान की तरह पारब्रह्म-परमेश्वर को सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् मानते हैं।

(घ) सर्वज्ञता-सर्वप्रवाता—सर्वव्यापक ब्रह्म का सर्वज्ञता होना स्वाभाविक है। कबकन में व्यापक वह आदि उत्पन्न कहीं क्या है का जानकार तो होता ही चाहिए। पुन जो हुआ वा होता है वह उसकी आज्ञा से हुआ या होता है जब सम्बन्ध में उसका ज्ञान होना निस्सर्व-विद्वान्मठ के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। गुरु नानक का कथन है—

पने पाठिछाहि परमेश्वर बैसन को बरपंच कीया ।

बेबी बूसी तनु किनु जाई अन्तर बाहर रवि रहिया ।

(आवा पनीमिली २४) पृ० ४३३ ।

१ जो तिम्रु भाई साई करसी फिर हुकमु न करणा जाई ।

जो पाठिछाह साहा पाठिछाहिनु नामक रह्य रवाई । राम भासा, प० १ पृ० ६ ।

२ मापि जपाए, आपि खपाए । आपे सिरि सिरि बने लाए आपे बीचारी गुनकारी आपे मापि जाई है । २ । आपे जाना आपे बीना । आपे आपु अपाई पतीना । आपे पञ्चु पापी बैसन्तक आपे मैलि मिसाई है । ३ । आपे सधि गुरु पुरो पुर । आपे मिजानि बिजानि गुरु मुरा । कानु जानु जमुओहि न साके आपे सिद्ध निज जाई है । मारु कीसहे पृ० १०२ ।

उसके विषये ऊँच-नीच जाति-पाति का भेद नाम नहीं रखता वह सर्वत्र अपने पुकारने वाले का सहायक है और जिज्ञानु का अकलम्य । इसीविषये वह सर्वप्रदाता भी है । जिसे जो चाहिए, वह देता है—आवश्यकता है उस पर विश्वास जाने की उससे प्रेम बढ़ाने की और उसकी आराधना करने की । वह महान है, जिस पर मन आया अपनी कृपाओं से उस मामामास कर दिया वह बिपत्र पर जाने वाले को भी देता है । वह महान है इसलिए पाप भी फला । परन्तु उसकी सर्वोच्च महानता अपने मर्कों की पुरार पर, उनके सद्धार के लिये समय समय पर अपने प्रतिनिधियों को भेजने में साकार हो उठी है गुण नात्म ने सिखा है 'बहु दाता है देते समय ऊँच-नीच जाति-पाति नहीं देखता । महान की सम्पदा महानता है वह इच्छानुसार जिसे चाहे दे सकता है । वह अपनी आज्ञा का सत्वर पालन करवाता है एक भर भी झील नहीं होगे देता ।'

अकालपुरुष दातृ-सक्ति है । उसे पाकर किसी को कोई अन्य आवश्यकता ही नहीं रह जाती । वह निर्बन्धों का बन्ध है समाज के सम्मानित पात्रों का सम्मान है । बंधों का प्रकाश भक्तों की मन्थन और पिरों का सहाय है । वह भुक्तों को मार्ग दिखाता है पतियों का उद्धार करता है । दुस्मियों का दुःख हरण करता है और अपने भक्तों को अपना सर्वस्व सौंप देता है । वास्तव में होम यज्ञ तर्पण और अनुष्ठान करने वाले कर्मनाथी तथा जप तप और आभ्यन्तर रखने वाले तपस्वी मा महत्त्व उस दातृ-सक्ति से प्राप्ति का सुमार्ग नहीं खोज सके । केवल सतिगुरु के वेत्ताएँ जीव ही सत्यता को पहचानकर दाता के कृपा-यात्र बन सकते हैं ऐसा गुण नात्म का मंतव्य है ।^१

(४) सर्वकर्ता—अकाल-पुरुष ने अपनी इच्छा से सत्य द्वारा सृष्टि के बीरह भुक्तों का निर्माण किया है । उनका कार-अवहार अपनी इच्छा (माया) को सौंप रखा है । सृष्टि-नाटक का सर्व-सक्ति-सम्पन्न निर्देशक होते हुए भी वह मंच को माया मटी के हाथ सौंप जब दर्शकों में समा गया है ताकि अपनी अकल कृति का आनन्द उठा सके । माया की शरारतों को वह जानता है परन्तु रोचक होने के कारण चुप रहता है; 'अति' होने मये तो धर भी हस्तक्षेप करता है और एक कुशल निर्देशक की शक्ति अमितेताओं और प्रबन्धकों का मार्ग-प्रदर्शन करता रहता है । यह रूप उसका कर्ता रूप है । बनाता है बदलता है विपाकता है और फिर बनाता है ।

१ अलावरल न भावनी जे जिसे बडा करेई । बई ह्य बहिजाईसा वी मारै ती देह ।
हुकमु सवारै जानै जसा न बिम करेह । १ १ भासा अल्पवी ५० ५३ ।

२ तिथिनियां बनु, तिथुरिया गुन निमानिमा भू मानु ।
अंभुम माणकु भुन परडिया निजानिमा भू तानु ।
होम जपा गही जाजिमा गुणपति माधि पछाणि ॥

वहाँ एक इष्टि जाती है उसीका प्रसार है। मिट्टी के एक साधारण कम से लेकर बेट-तन चेतन निर्मिति—मनुष्य तक सब जमी की बन है। उसने वहाँ जो ठीक समझा बेसा किया, सृष्टि के वह चेतन या निर्जीव और सजीव तत्वों की मलाई के तिम अपने सब कुछ किया है। मृत गोबिन्द मिच्छते है वह सबका निर्माता भी है और बिनासक भी। वह अपने प्रिय जीवों की दुःख-आधियों और शोषों का हरण करने वाला है। जो एक नर जो उस करदार (रक्षेयता) को अपने हृदय से स्मरण करता है वह काम-जाल से म्यारा हो जाता है।^१ पीछे ब्रह्म के अनादि अनन्त रूप पर विचार करते हुये सिद्धा या बुद्धा है कि आरम्भ से केवल एक ब्रह्म ही था परती आकाश दिन रात और सूर्य कुण्ड भी न था, ब्रह्मा विष्णु महेश कोई न था मात्र एक की अलखड समाधि थी। गारी-मुह्य वादि-अन्य दुःख-मुख वैद-शास्त्र पुराण उदय-अस्त किसी का अस्तित्व न था। अकालक समाधि मंग हुई, बिन में निर्माण की इच्छा हुई और उसी एक (ब्रह्म) ने देखते ही देखते सध-अभित से अश्यों-ब्रह्माश्यों ग्रहमण्डलों तथा तातासों की रचना कर डाली।^२ सधमुख वह महान्तम रक्षेयता है। विसेयता यह है कि उसके बराबर सुन्दर निर्माण मात्र तलक कोई और नहीं कर सका। बिद्यान चाहू कितनी भी उम्पति क्यों न कर ले मनुष्य मरीछा सुन्दर मुबद चेतन जैसे कशापि उत्पन्न नहीं कर सकता। अत्र और सूर्य जैसे आकर्षक और नामप्रद ग्रहमण्डलों की रचना मनुष्य के हुने की बात नहीं। ये विविध और आश्चर्यजनक बन्नायें जो प्रायः प्रकृति के सश्यों में देखने की मिलती हैं, उसकी अद्वितीयता का आकर्षक और परमोत्त परिचय है। ब्रह्म अद्-अभि है। उसके बाहर कोई निर्माण सम्भव नहीं। वह स्वयं बनाता है और बनाने में जानन्व काम करता है। उसकी इच्छा सर्वोत्थ है सब उसी से बनता और होता है। मुस्मानक का कहना है कि संसार की समस्त किबाएँ पल पर आवा पिन हैं। विश्व की स्थापना और बिनाम उसके कौतुक है।^३

उसने विश्व को जीवन तत्व दिया है मानसिक वृत्तियों का प्रसाद प्रदान

१. सम की काम समन का करता रोप होय दोहन को हट्या। एक बिल बिहू एक दिन पिबाइय काज पौस के बीच न आइय। (अकाल-उत्पत्, पद १०।)

२. अरवप नरवव बंधुकारा। बरुनि न मयना हुकुम अपारा। ना किमु रीनि न कहुम सूरव। ब्रह्म, विष्णु, महेश न कोई। अरव न बीसे एकी सोई। गारि पुरव नहि जाति न अगमा। मा कोई कुल मुक पाइ बा। वैद क्येक न विमूठ सामव। पाठ पुराण उरै मही आवत।

--- तन्त्र ब्रह्माण्ड पाशास नरभि मुत्तहू परपटिआइवा।
 माक सोमई १५, म० १ पृ० १०१५ १६।

३. तुसने बाहुरि कसु न होइ, तू करि करि देखि जापटि मोइ।
 किबा नहिजे किहु कहि न बाइ जो किहु नई मन ठेरी रजाई।
 (येप अपने पृष्ठ पर)

क्रिया है। मनुष्य के भीतर अन्तरात्मा ही है स्वयं उसमें समाया हुआ है और मृत्यु के पश्चात् विज्ञानसु का सैद्धा बचने की भावश्यकता का अन्त करके उसे अमर स्थिति-अवस्था हुआ अपने में ही मिला लेता है। उसने सृष्टि रची है, उसका नाश करके वही उसे अपने में मिला लेता है। वह एक सर्वत्र है, उसके अतिरिक्त और कोई नहीं था—

जिनी सिरी^१ साबी तिमि कुनि गोई^२

सिच दिनु हुआ अचर न कोई।^३

(ब) कृपासु और अमासील—सतपुरप द्यासु है। वह जीवों का परम शिष्टी है। ठीक है कि रचना की इच्छा से उसने अपने प्रिय जीवों को माया के हुवाले किया परन्तु उसका अहित वह कभी सहन न कर सका। जब-जब उन्हें कष्ट में देखा उसकी पुकार सुनी वह उसकी रक्षार्थ व्याकुल हो उठा। अपने एक पुत्र पहुँचने का मार्ग प्रदर्शित करने के लिए भिन्न-भिन्न महात्माओं और सतों के रूप में वह अपने प्रतिनिधि भेजता रहा। अविष्य में भी यह रूप टूटने का नहीं। उसकी कृपासुता का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि परीक्षा में पड़े जीवों के लिए भी इहलोक में समस्त सुविधाएँ जुटाए हुए हैं। उसी की कृपा जीव के उद्धार का मात्र साधन है। उसकी कृपा अपार है किसी बन्धन या नियम तक सीमित नहीं। भूम से अपने बामक के शोषारामक नाम से भयबाम को पुकार लेने वाले मुक्त हुए चढ़े जाते हैं। छोटे से परमेश्वर-नाम सिखाने का प्रयत्न करने वाली निपट कृष्ठा बेइयाँ प्रसन्नानर से पार हुई मानी जाती हैं तो भला साधारण विज्ञानसु उसकी कृपा का पात्र क्यों न बनेगा। वह अकाल-गुरुय तो पुत्र-वर्ण जाति-वर्ण से परे सब पर अपने अरु-हस्त की छाया सदैव किये रहता है। यह तो प्रेम का सीबा है वह उसकी दया-भाषि में देर कैसी? देर तो प्रेम से वाचना करने में है। यीशु का कथन है, तुम मानो मिलेगा। डार अटकटाओ सत्वर खोल दिया चायगा।" (अस-अवचन)। अमिप्राम यह कि वह सब से कृपा की झोलियाँ भरे लड़ा है केवल माय्य पात्र की खोज है। बरा भाये बड़ कर मान मो मिलने से कोई इन्कार बोड़े ही है। तभी तो गुरु नानक अकाल-गुरुय के इस सहज स्वभाव की बात बलाते हुए कहते हैं कि गुरु में विश्वास माने वाला जीव शय

(शेष विस्तरे पृष्ठ का)

" " करे कराय बानी जापि नानक बेई जापि उबापि।

४ १ अरत पृ० ११२५।

१ सिरी—सृष्टि।

२ गोई—नाश की है या अपने में मिलाई है।

३ पद ३ २१ आसा म० १ पृ० १५३।

मर भी जो नाम रंग में रंगा बाहर उसको पुकारे तो निश्चय ही वह स्वयं अपनी कृपा की श्रुति मिले उसका मार्ग-दर्शक बन जाये-जाये बसने सयता है ।^१

सतपुरुष क्षमा का साकार रूप है । जिस पर भी कृपा करता है उसके पूर्व-पापों को क्षमा-दान दिया जाता है । अभिप्राय यह कि कृपासुता और क्षमाशीलता दोनों सम्बन्धित गुण हैं वितका चरम-स्वरूप सतपुरुष में विद्यमान है । काल-शक्ति का कार्य-संचालन बीज के कर्म-अभिप्रेक्ष और उस पर किये जाने वाले म्याम के अनुष्ठान चम-मरम-वक्र के रूप में होता है । परन्तु अकाल-पुरष के बरबार में जीवों के मने कुरे कर्मों पर दृष्टिपात नहीं होता बिसने क्षम मर के लिए भी लक्ष्मे विल से उसे पुकारा उसके साक्षों पापों को एक ही क्षमा दृष्टि से धूल में मिसा दिया । पल-भर रहने का माक्रिक कीड़ा अमर-लोक का बासी बन बैठा—यह है सतपुरुष की क्षमाशीलता की महिमा । तुलनात्मक रूप में ही सिखा है

बंभबाइआ, बुरिमाइआ बाई परमु हुरि ।

करमी भापा भापजी के नेई के हुरि ।

जिनि नामु बिआइआ गये पलकति घालि ।

नाकक ते मुल जऊसे देती छुटी नालि । (अपुबी-ससोक)

क्षमा का महत् गुण अकाल-पुरष की मित्री सम्पत्ति है उससे काल का कोई सम्बन्ध नहीं । काल क्षमा नहीं करता । उसके यहाँ सम्बन्ध बन्ध का प्रतिकारात्मक विधान (Retributory Theory of Punishment) मायु होता है । उस दृष्टनीम अवस्था से रक्षा की शक्ति मात्र सतपुरुष में ही है अन्यथा इस योगी-बन्धन से कभी छुटकारा नहीं ।

(ख) महानता—सतपुरुष महान है । उसकी महानता उसकी रचनाओं से बापी या सकती है । उसके अर्थों-मर्थों के अनुमर्थों से अनुमान लयाया या सचता है । उसकी विद्या दृष्टियों का रचक्य उसकी महानता का प्रमाण है । चारों ओर विकसित प्रकृति उसकी अनन्तता का विस्तरण कर रही है । उसकी सर्वव्यापकता और शक्तिमत्ता उसके असीम गुणों की परिचायक है । वह सबसे बड़ा है ब्रह्मा विष्णु महेश भवानी देवी-देवता भूत प्रेत किन्नर, सब उसकी कृपा पाने के अभिसारी हैं । उसका विद्या सर्वोच्च लक्ष में है । इसाईयों के बोधे आसमान, मुसलमानों के सातवें आसमान और भारतीय दृष्टिकोष से पंचमखण्ड (सचखण्ड) में वह विराजित है । स्वभावत ही जो इहलोक से उस अँधारे तक उठ जाता है वह उसे पासेता है । उसका नाम महान है । नाम-स्मरण मात्र से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । पुत्र नामक ने लिखा भी है "जिस प्रकार संयम के बिना योगी

१ आपे मार्सेन पावन द्वारा आपे चरम कमाए ।

नामि रौ बुरि पूरि एके नामक सहेन गुमाएन ४ ४ बडईय म० १ पृ० ३८१ ।

की तपस्या सफल नहीं होती बैसे ही राम के बिना मनुष्य-जग्य बकारण है ।^१ तपपुरुष के नाम में यह गच्छि है कि अथ-भर उसका आप करने वाला भी सबलक्ष्य का अधिकारी हो जाता है ।^२ नाम और नाम की महिमा गान करने वाले की उच्च स्थिति का सुन्दर चित्रण प्रथम पाठसाही में अपुत्री साहिब में मुक्तवच्य 'गाने' वाले पर के अन्तर्गत किया है । इस अध्याय में उसके पूर्वोक्त तथा आगे बताए जाने वाले गुण सभी उसकी महानता का परिचय देते हैं । गुण नामक सिल्ले हैं 'यह भासिक महात् है सचलक्ष्य वाली है । उससे भी महात् उसका नाम है जो महादुर्गों के लिए भी मुक्ति-प्रदायक है । कहावत है कि कूर्वों की छार बही जाने जो उनके साथ उड़े । अतः उस सतपुत्र्य की महानता और बड़प्पन को भी बही पहचान सकता है जो सचलक्ष्य तक ऊँचा उठे और अपन में सतपुत्र्य के गुणों का विकास कर सके लेकिन नहीं उस तक ऊँचा उठना मामानोक के बीच के दूरे की बात नहीं—अपनी महानता का जानकार वह स्वयं ही है या फिर बही उसे पहचान सकता है जिस पर वह कृपादृष्टि रखे और नाम-दान दे ।"^३ गुण नामक मानते हैं—

तू अकाल पुरुष नहीं सिरि काला तू पुरुष असेनु अपंम निराला ।

सति संतोख सबदि अति सीतनु, सखि माह मित्र लाइया ।

१ माक पृ० १०३५ ।

और भी कहा है—

बडे मेरे साहिबा ग्हरि संगीर गुनी बहुरा ।

कोई न जानै तेरा केता के बनु बीरा ।

सबि सुरति भिति सुरति कमाई ।

सम कीमति भिति कीमति पाई ।

गिजानी बिजानी पुर गुरहाई ।

कह्य न जाई तेरी तिनु बहिमाई ।

भासा म १ पृ० १ ।

१ मित्र जत बाहरा तपु नाहीं सत संतोखु ।

सिठ नाम बिनु देहरी बनु मारै अन्तरि होखु ।

१ ७ सोरठ म १ पृ० ११७ ।

२ खिन पखु मामु रिई बरी भाई नामक मिसन मुयाह ।

१० ४ सोरठ अल्परी पृ ६३७ ।

३ बडा साहिब ऊचा बाठ । ऊचा ऊपरि ऊचा माठ । एबहु ऊचा होई कोह । तिनु ऊचे कड जानै सोह । जेबहु बापि जानै बापि बापि । नामक नबरी करमी बाति । जनुनी पत्रड़ी २४ ।

(ब) मात्र-सत्यम्—गुरु नातक विचारवाच ब्रह्म को चिर-मन्य स्वीकार करती है। जजुमी साहिब के आरम्भिक पाठ में ही “आदि मनु जुगादि मनु है भी मनु नातक होसी भी मनु” यह कथ अकाल-गुरुव के सत्य स्वरूप को मान्यता दी गई है। इसीलिए गुरु नातक में उसके सम्बोधनों में ‘सतगुरुव’ शब्द का महत्त्व दिया है। क्योंकि उसका आदि और अन्य कोई नहीं वह बेस-कासतर और अपरिचितनशील है। स्थिर, स्वायी और सबजन-हिताय रर्षयता है इसलिए वह सत्य है। वह बुनिया के रूप रूप में समाया है, तो भी अपने नुरा सचबख्त में आसन अमाये बैठा है उसने बनेक सत्तों को उपजाया है, वह अनर, अजर, अनश्वर है इसलिए वह सत्य है। माना सत्य है, उमी की इच्छा है मृष्टि का सम्पूर्ण प्रकार उसी के हाथ हुआ है परन्तु क्योंकि वह मुमुक्षु बीज का अन्तिम लक्ष्य नहीं बन सकती वह अवश्य ठहरनी है। ब्रह्मा, विष्णु महेस तथा अन्य देवी-देव सब सत्य हैं सत्य के ही अंश हैं परन्तु क्योंकि उनके लिए भी जग्य-मरण का प्रकृति-बन्ध लागू है वे अपूर्व और अमल्य कहे जाते हैं। विश्व की अनेक निधियाँ बन-सम्पत्ति-सम्पन्नता घर-बाहुर-परिवार सब सत्य हैं क्योंकि परमेश्वर की वन हैं परन्तु क्योंकि उनमें कोई भी स्थिर गहों के कास-अंश के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकते। मानसिक-वृत्तियाँ—पूज प्यास वासना माहस मय और प्रेम सब सत्य हैं वे स्वयं परमात्मा का अंश आत्मा की अनुसूतियाँ हैं परन्तु क्योंकि वे जन्म और परिमित हैं उन्हें पूज सत्य नहीं कहा जा सकता। अस्तु, केवल सतगुरुव वा ब्रह्म ही ऐसी शक्ति अच जाती है जिसमें अमरता अर्चवसता अरि वधनशीलता और अकालता के गुण तथा अपने में अन्तिम लक्ष्य होने की अपरिमितता, सब एक साथ उपलब्ध होते हैं—वही मात्र-सत्य कहसा सकता है। गुरुनातक का कथन है ‘वही एक मात्र सत्य है उसी ने चारों ओर अपने सत्य-प्रकाश की किरणें बिखेर रखी हैं। जिस पर उसकी कृपा हो पाय उस पर अपनी वास्तविकता प्रकट कर देता है और जीव-विरोध मल की कमाई करता हुआ सत्य में ही समा जाता है।’ बाने फरमाते हैं ‘वह सच्चा सर्वक ही सब सर्वस्य स्वयं है। वह सच्चा पोषक है विश्व के पालन में उसी की शक्ति कार्य-निहित है। वह अक्षय और अपरिमित तरह जिसको रकने आसा कोई नहीं जो स्वयंयु है आता रर्षयता आप है केवल वही सत्य है।’^१ (सिप सब मूठ)।

१ सच्चा साहिब एक तू जिनि मजोमज बरलाइमा।
जिनु गू देखि तिमि मिलै मनु वा तिनही मनु कमाइमा।
श्लोक ८ भागा पृ० ४६७।

२ मनु चिरंदा तथा चाचीए सचड़ा परवरमातो।
जिनि आपाने आपु साबिजा मचड़ा असव बनारो।
१ ३, बडहंम, पृ० २००।

(स) मात्र-विषयम्—अकाम-पुत्र्य कल्याण का प्रत्यक्षस्वरूप है; उसके बरबार में उपस्थित होने वाला पतित कुटिल या कितना ही पापी क्यों न हो उसके कल्याणकारी बरह-हस्त की छाया मिलते ही विश-रूप हो जाता है। जीवनभर माया-मोह के बन्धकार में ठोकरें खाने वाला मनुष्य यदि अन्तिम समय भी किसी 'अमुकी पुत्र्य का दामन धाम से तो वह विश्व के नवर सिक्कोक (सचबख्त) का नायरिक बनने का अधिकारी हो सकता है। सतपुत्र्य सबका हितैषी है शुभ-चिन्तक है स्वयं साक्षात् विश्व है। उसने विश्व की रचना की प्रामी और प्रकृति बनाये और माया जाल में पड़ हुए जीवों के कल्याणार्थ प्रत्येक वस्तु का आयोग्य भी किया। इतना ही नहीं अपन से बिरुद्ध जीवों के लिए पुनर्मिसन के सरस सहज मार्ग भी प्रस्तुत किए। उसके द्वारा समय-समय पर अमर-महानात्माओं का विश्व में भेजा जाना अपने भटके हुए जीवों को सन्मार्ग पर लाने का सत्प्रयास तथा निजी ज्योति से उनका पक्क-प्रबर्धन करना एवं अपने से बाम-मार्गी^१ अंतो को पुनः अपने में मिसाकर सन्तुष्टि प्राप्त करना उसके कल्याण-रक्षक के प्रतीक हैं। 'सर्व ज्ञाता होने के नाते वह हमारी सब आशंकाओं को जानता है और उबारता-बस उनकी पूर्ति भी करता है। वह पूर्ण विश्व है इसलिये उसका प्रत्येक प्रकर्म हमारे हित में होता है।^२ और भी 'सतपुत्र्य आनन्द का तरंगित सागर है अतुल्य अपने प्रिय जीवों के प्रति प्रेम की बौद्धि फेंक रहा है। सत्यानन्द के अठें मारते हुए इस सागर में हम लोभ मधु मीनों की भाँति बड़ी में मग्न होकर जीवन बिता रहे हैं। जो उसे पहचानता है वह कभी पतित नहीं होता कुल-आमिक का अनुपाय उसके हृदय में स्थायित्व प्राप्त कर लेता है। परमेश्वर कल्याण का प्रदाय लिये सबके हृदयों में निवास कर रहा है वह हम से कभी दूरा नहीं होता वह हमारा परम-सहकर है सब को समान रूप में प्रकाशित और आनन्दित करता है।^३ बाइबिल के मीति पद १५ ६। २६ में भी परमेश्वर के लिये होने पर पर्याप्त जोर दामा गया है। वह सबकी भलाई करता और चाहता है। बुद्ध से बुद्ध ब्यक्ति से भी उसका उतना ही प्रेम है जितना कि अपनी बत्तों से है—बुद्धा पद ३। १९ इस बात का साक्षी है। उसे बुरे से कभी दूरा नहीं बुराई से दूरा है। वह बुरे ब्यक्ति से अधिक प्रेम करता है ठाकि वह (बुद्ध आदमी) प्रेमपाठ में बँधकर बुराई छोड़ दे।

१ ध्यान रहे यहाँ "लिन" का अतिप्राय निवेदा में से एक नहीं कल्याणकारी से है।

२ "बाम-मार्गी" यहाँ किसी सम्प्रदाय के लिये प्रयोग नहीं किया जा रहा। अतिप्राय भटके हुए जीवों से है।

३ Omniscient He knows our every need all generous, He supplies it, all good, His every act is for our welfare.—Duncan Greenless in the Gospel of the Guru Granth Sahib p 28

४ Ibid p. 42.

सतपुरुष द्वारा बीज-कल्याण का यह एक सजीव उदाहरण है। गुरु मानक ने ब्रह्म के कल्याणकारी रूप का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है

जेती है तेती तुषु भाषे तु सरव बीर्भा बइमाला ।
तुम्हारी सरनि परे पति राखहु साधु मिलै सोपाला ।

७ २ मभार अष्टपदी पृ० १२७४ ।

गुरु अर्जुनदेव जी ने सुलभनी में भी प्रभु के लिलारूप के अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं। लिखते हैं 'प्रस्तुत बिम्ब के प्राणी काम क्रोध माभ मोह और अहंकार के दुप्राणी मक्खड़ों की सपर में आये हुए बार-बार जन्म ले रहे हैं उनके लिए कहीं मोक्ष नहीं। परन्तु कल्याण का प्रखल रूप सतपुरुष सब बीजों पर कृपा का बरह-हस्त उठाये है और उनके जन्म-मरण के चक्र में पड़ने के कष्टों का हारण कर रहा है।' स्पष्ट ही अकाम-गुरुव ब्रह्म बीजों की मसाले के सिधे ही सब कुछ करता है। वह परम-पुनीत है उसके विचार-भाव से कुटिसतम जीवन भी पबिन हो जाता है। जैसे पारस हर प्रकार के लोहे को चाहे वह कसाई का टुकड़ा हो या लपखी का त्रिभूल बिना किसी भेदभाव के स्वयं बना देता है जैसे ही सतपुरुष पर विश्वास लाग भासे नीच हों या उच्च सब पर उसका करम होता है। वह सबका हितैषी है। वह स्वयं तो है ही उसका स्मरण और नाम भी सिब है। एक बार उसे स्मरण करने वाला बीज बिम्ब की सभी मातनामों से त्रिभूत हो जाता है। गुरु अर्जुन लिखते हैं

प्रभ क तिमरनि सरनि न बरी । प्रभ के तिमरनि बुझु अमु नरी ।
प्रभ के तिमरनि काधु पछहरी । प्रभ के तिमरनि बुलभनु दर ।
प्रभ तिमरत कधु बिपन न लारी । प्रभ के तिमरनि जगरिनु जारी ।
प्रभ के तिमरनि जड न बिमारी । प्रभ के तिमरनि बुझु न संतारी ।

सुलभनी श्लोक २ पृ० २६२ ।

(६) माभ लभ्यन्—यह तो पीछे सिद्ध हो ही चुका है कि ब्रह्म से ही सब की उत्पत्ति हुई है और उसकी अपनी इच्छा ही उत्पादन शक्ति है। अब देखना है कि गुरु मानक विचारधारा के अनुसार उस सम्पूर्ण उत्पत्ति का माभ-सक्य भी वह स्वयं है सबको उसी में समा जाना है। जैसे अग्नि से कोटि-कोटि बिगारियाँ निकलती हैं जब पृषक-मृषक जड़ती हुईं पुन अग्नि में ही समा जाती हैं, जैसे धूमि के कण वायु

१ बीर बिरोध नाम क्रोध मोह। झूठ विकार महा लोभ मोह।
इमाहु बुपनि बिहाने कई जनम। मानक राबि सेह जापन करि करम।

७ ४, सुलभनी, म० ३, पृ० २६८ ।

के चार से जुवा जुवा हो उड़ने लगते हैं, परन्तु अन्ततः उठी लक्ष्य—भूमि में नील हो जाते हैं। जैसे नदी में सख्त-सख्त तरंगों उठती हैं परन्तु सब पानी होने के कारण अपन चरम-लक्ष्य पानी में ही निमग्न होता अपना बौरव समाप्त होती है, जैसे ही अकास पुरण (विश्वरूप) से बिम्ब की समस्त देह और विविह-अनित वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं और उनका चरम-लक्ष्य भी स्वयं नहीं है। उन्हें उठी में घगा जाना है।^१ कस्तूरी-भृम की भाँति प्राणी भुमन्मि का नाफ हृष्य में छिगामे हुए बाहरी कारण की खोज कर रहा है। बटि-बटि-बासी परमात्मा की खोज सिर मुकाने और कान फड़काने में की जा रही है, विचित्र विहम्बना है। बहिर्मुखी सब हैं अन्तर्मुखी कोई नहीं बनता। जो कोई अन्तर्मुखी हो हृष्य-सिंहामन पर बिराजे हुये उस ब्रह्म तत्त्व को प्राप्त करमे तो उसे लक्ष्य-सिद्धि मिले उसकी आश्वास्य-उर्मों पूर्ण हों और उसके बुज-कोप की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगे।^२ वास्तव में हमारे लक्ष्य भ्रष्ट होने का कारण है हमारा अज्ञान। हम सोम भ्रम सोम मोह और माया के बिकारों में पड़े हुए हैं। हममें माया के झूठे परन्तु बाह्यरूप से झूठे आकर्षणों में फसकर अपनी यथार्थता को स्वयं दीन कर लिया है, अन्यथा सतपुण्य एक ऐसा लक्ष्य है जिसको खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती वह तो हर समय हमारे सामे रहता है। उदाहरण केकर समझाले हुये गुरु अर्जुन लिखते हैं “हजार असग-असग पड़ों में जैसे एक बायु या आकाश होता है जैसे ही चीबों के पुबक-पुबक होने पर भी उनकी भीतरी-आत्मा उठी महनीय का समान-अन है। बड़े के फूट जाने पर आन्तरिक भू-य बाहरी रूप से मिलकर एक हो जाता है जैसे ही यदि चीब किसी अनुभवों-रूप से ज्ञान प्राप्त कर सके तो माया का पर्दा हटा कर, जिसे वह बाहर खोज रहा था उसे भीतर पा सकता है। स्वयं ब्रह्म बन सकता है।^३ यही लक्ष्य सिद्धि है।

१ जैसे एक भाग से कनूका कोट भाग उठे निचारे-निचारे हुई हैं फिर ज्ञान में मिलिहगे।

जैसे एक धूर से अनेक धूर पुरत है धूर के कनूका केर धूर ही समाहिते।

जैसे एक नद से तरंग कोट उपबत है, पान के तरंग सबे पान हो कहाहिते।

जैसे विश्वरूप से अमूत मूत प्रयत होइ ताहिते उपब सबे ताही में समाहिते।

अकास उत्तर पद, १० प०।

२ पुरे पुरे भाहिते पूरे तसति निवास पूरे पान सुहाबने पूरे भास निवास।

नानक पुरा के मिसै निउ बाई गुपतास। राग सिरी म० १ पृ० १७।

३ सहस्र बटा यहि एहु आकासु, पटि फूटे तो मोहि प्रगामु।

भरम सोम मोह माइमा बिकाट, भ्रम सुटे ते एककार।

१ १ सूरी म० ५, पृ ७३६।

कबीर का यही रूप—

प्रस में क म-कृ म में जन है बाहर भीतर पानी।

टूटै कृ म जन असहि समाना यह तत कनूको बानी।

(ठ) ब्रह्मचर्य—उपर्युक्त अनुच्छेदों में ब्रह्म के उन कृपेक गुणों की ओर संकेत किया गया है जो गुरु नामक के काम में यथा-सथा दृष्टिगत होते हैं परन्तु क्या वह उन्हीं पाँच-सात गुणों का स्वामी है? नहीं ब्रह्म के गुण भी ब्रह्म ही ब्रह्माह का रूप भी ब्रह्माह है, वह उपजातक है सर्व-उत्पत्ति जहाँ से हुई है अतः सृष्टि की अक्षय्य गणनाओं के नाम रूप और भुग उसी के तो हैं भला उनका वर्णन इतने बोझ में क्योंकर सम्भव है? यह तो ब्रह्म का रूप भी नहीं। सतपुराण देव-काम से बाहर की सबव्यापकता है इसलिये देव-काम में ब्रह्म भाषा उसके वर्णन में अक्षय्य है। अब से मानव को बापी मिली है और उसने ब्रह्म की अपरिमितता का अनुभव अपने अतुलिक प्रसार में किया है, तनी से वह उसकी परिभाषाएँ खोजने के लक्ष्य में है—परन्तु, कैसा कि स्वाभाविक भी था सहीमानव ब्रह्म को कभी परिभाषा-बद्ध न कर सका।

कोई महापुराण ही उसकी यथार्थता को जान सका तब तो जैसे हुए में ईद कैंक कर यह विचार कर बैठे कि नीचे जकर किसी का सिर फूट गया होगा। गुरु नामक उन अनुभवियों में से थे जो उससे एकाकार करते ही नहीं करवाना भी जानते हैं। सध्व सतगुरु होने के लिये, वे ब्रह्म की महत्ता को इतना समझते थे कि साधारण अनुभव तो उन्होंने सावों को दिया लेकिन क्योंकि वे जानते थे कि उसके गुण वर्णन से बाहर है इसलिये सतपुराण की ओर-ओर रहित अनन्तता को शब्दों के बन्धन में बाँधने की कुटता से वे सर्वैव बचते रहे। ब्रह्म परनेस्वर के सम्बन्ध में जो भी उन्होंने कहा उनके अनुप्रेषण को कुसे आम स्वीकार करते रहे। स्पष्ट कहा कि ब्रह्म केवल अनुभव ही ब्रह्म है, शब्दिक अभिव्यक्ति ही नहीं। किसी भी नाम से उसे नाम करते लेकिन उन्में हक विरासत बनाओ अपने आप वह तुम पर प्रकट हो जायगा। उनका वर्णन असम्भव है, उसे वा पाओ तो परमानन्द की धरों में विसाहित हाँसे फिर परन्तु फिर भी गुमि हाँस लिये जाने वाले मिर्ग के आस्वादन की तरह तुम अपनी भीतरि स्थिति का चित्रण न कर सकोगे वही दसा पैरि भी है (गुरु नामक की)—यथा

त्रिन शक्तिषु तैर्दं शानु शानु त्रिदं शुभि विदिमार्त्तः।

अक्षरं का शिया वकीए माह शानु तवा रवाई।

मोळ अ० प० पृ० १११।

और भी—

शुभि शुभि भाये वेतो बाकी शुभि वहीए को अंतु न बापी।

बा वड अक्षरु लकीए भाये अक्षरु कपा शुभि ताहा है।^२

२. मारु सोलह वर १२ ९, पृ० १०१२।

He to whom the unseen has revealed Himself can understand the ineffable story'

Duncan Greenless

अथ निश्चय ही हमें ब्रह्म की अचर्चनीयता को स्वीकार करते हुए पंजाबी के उस कवि के स्वर में स्वर मिला लेना होगा जिसने कहा था— 'बेहा ठेहा है, बोह है आप बरणा नहीं है कोई सानी बोहवा ।

(इ) उसका अतुलित स्तुति-गाण—जगदि जनस्तु सर्वकर्ता सर्वव्यापक और सत्यम्-शिवम् अकालपुरुष के गुण निश्चय ही अचर्चनीय हैं । उसकी पूर्णता तक किसी की पहुँच ही नहीं हो सकती परन्तु फिर भी वह अज्ञेय सृष्टि का कच-कन सबका स्तुति-गाण कर रहा है । विश्व के कमिन्-जातावरण में सबने एक अमित एश्वित्त शक्ति का आभास पा लिया है । सृष्टि की आधुनिक-रचनाएँ भी सम्भवतः उन चिर सत्य को अनुभव करने लगी हैं । जिसमें से सब आये हैं और जहाँ सबको जाना है । उक्त अनुभव के ही कारण भाव समुची संसृति के समस्त अवयव उस ब्रह्म की महिमा मान करने लगे हैं । बीबी ने जान लिया है कि महान की महानता में सीन होने के लिये उसकी इत्यादृष्टि अपेक्षित है, उसके हुकमों को पहचानना जरूरी है और उसकी इच्छा के अनुसार जीवन यापन करते हुए उसी की प्राप्ति को चरम-लक्ष्य बनाना आवश्यक है । अथ बुनिया के माया जाल में फँसे स्वामी बन्धों ने चापसूची का आँसु पकड़ा और उस सर्वशक्तिमान की प्रशंसा में झुट मये । सतपुरुष को अपने बीबी का यह स्वार्थ और चापसूची प्रिय है क्योंकि इसके अन्वय से उनमें नाम स्मरण आत्मा पालन प्रेम अज्ञा और विश्वास की बुतियों का उदय होता है । इन सब के सम्मिश्रण से शक्ति की उत्पत्ति उन बीबी को सतपुरुष के निकट से आती है और अन्ततः वह दिन आ ही जाता है, जब बुब मर पायी साबर मे भिन्न साबर कहलाने लवता है— आत्मा प्रभु को पा जाती है, स्वयं परमेस्वर बनती है । यही वह पृष्ठभूमि है जिस पर अकालपुरुष के स्तुति-गाण और प्रशंसा के प्रासाद अद्विग रूप से स्थित हैं ।

गुरु मानक उसके भक्त-गावकों तथा स्तुतिकारों की कोटि के अनपाव नहीं प्रस्तुत यदि उन्हें अग्रतम्य माना जाए तो कोई अस्युक्ति न होगी । पहले अग्रतम्य में उक्ति किया जा चुका है कि गुरु मानक "राजी-बर-रबी" की विचारवाट के पीवक ने । इसीलिये है सर्वत्र अपन को पूर्णतः सतपुरुष के आश्रय छोड़कर उसके स्तुति-गाण में निमग्न रहते हैं । भिन्नते हैं 'मेरे भाव बुद्धि और शिक्षा तुम पर आश्रित है वह मरीर भी तुम्हारे ही संरक्षण में पतन रहा है । हे मेरे मानिक मैं तुम्हारे अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता इसीलिये नित्यप्रति तुम्हारे ही पुन माता हूँ । मेरे लिए तुम्हारी प्रत्येक इच्छा आह्व है । मैं सेवक हूँ और सेवक का धर्म नमस्तस्क हो स्वीकार करना ही है । ' गुरु मानक अकाल को सब रूप रंग में अपना लक्ष्य

१ भिन्न भक्ति सभ बुद्धि तुम्हारी मंदिर छाया तेरे ।

तुम बिनु अक्षर न जाना मेरे साहिबा गुण बाबा नित तेरे ।

जो तुम माने सोई जंपा इक मानक की अरदास ।

स्वीकार करते हैं और उसके सम्मुख हृदय प्रार्थ्य हैं कि हुआ की एक दृष्टि से जीवोद्धार करने वाला वह सत्पुरुष उन पर भी एक मकर डाले ।^१

छार मह कि अड़ बेठन अराधर न ऐसा एक भी रूप अपवाद न मिसया जो उसकी महिमा का गान न करता हो, उनकी इच्छाओं और आज्ञाओं के सम्मुख मत्तमस्त्रक न हा । पुरुष नातक अस्त में यह संकेत देना नहीं भूम कि किसी स्तुति स्वीकार हो गई वह तर पया मन्मथपर से पार उतर यया । वह अन्तमुन्धी हो कर अपने भीतर से ही परमेश्वर को पा गया और अतन्त्र स नाथ जठा । कहने लगा—

हम जर साजन भाए । साध भेलि मिताए ।
सहजि मिताए हरि मन भाए पंच मिले सुखु पाइया ।
साई बसतु परापति होई जिनु सेती मनु जाइया ।
अनविनु मेनु महया मनु मानिमा घर अन्धिर सोहाए ।
पंच सबह बुनि अतहह बाज हुन परि साजन भाए ।

१ मूली दत्त पृ० ७६४ ।

४ अकाल पुरुष का स्थान

ममस्त अ्यवमान का रक्षेयता होने के नाते वह सर्वोच्च है परन्तु क्योंकि वह दृढक और रसिक भी है इसलिये मूर्ति के रूप-रूप में समया है, सर्वोच्चता उसकी परिपूर्णता (Absoluteness) की परिचायक है, तो रूप-रूप में समाविष्ट उसकी व्यापकता की । इसी आधार-भित्ति पर पुरुष नातक काव्य में अज्ञ का स्थान-निकषण दोनों प्रोर संकेत करता है । पीछे निवेदन किया जा चुका है कि जब विरह प्रकृति का कोई अस्तित्व ही न था तो भी अकाल का "शास्त्र" बहुत और पृथक्स्थित था । धीरे-धीरे गुरु में संसृति की रचना हुई, अर्थात्-ब्रह्माण्डों का सजन हुआ माह-भाया को जग्य दिया गया और जपन का ठामा-बाता "इच्छा" को सौंपकर वह अलौकिक शक्ति स्वयं अपनी अन्तःकारक रचना का आनन्द लेने के लिये उत्सव ढँकी हा बीठी एवं वहीं से बन्नी कृति के राम विनाम तथा शोक-सतार-विद्वेद अधिनय का रथात्वाहन करने लगी । तभी तो "अपुत्री" में पुरुष नातक ने अष्ट-चित्रण करते हुए धरम वाल धरम और करम सबों के अवनतारणत सर्वोपत सब्द अन्तःप्रद में अकाल-पुरुष के स्थान होने का संकेत किया है ।

१ मुक्त विनु अरुद न कोई कैरे निमारे दुस विनु अरुद न कोई ह्ये ।

मरव रणी अनी नू है निम बघडी जिनु नदरि करे ।

१ २२, भाषा म० १, पृ० ३३२ ।

'सबस्य बस निरंकार, करि करि केही नवरि निहाल ।' पदही ३७ । विशेषता यह है कि वह सर्वसृष्टि-सम्पन्न प्रभु केवल मुक्तारमात्रों के लोक तक ही सीमित नहीं, आभावमन और मुक्ति दोनों पर उसका एकाधिपत्य है। वह और भेदन दोनों उसके वास्तव में पतन रहे हैं तो भी वह एक (१ ओंकार) तारामण्डल चन्द्र और सूर्यमण्डलों के इतर उस भगन का बायीं बन बैठा है^१ जो उसके परस्पर को सम्पूर्ण विश्व का मूल स्रष्टा किए हैं। बुद्ध नानक का कथन है कि अकाल-गुरुव्य तीन लोक (देव-आसीन रचना) से स्पष्ट किसी भी लोक में निवसित है और समय तथा स्थान की परिसीमाओं से बाहर रहकर सम्पूर्ण संसृष्टि की बीजमन्त्रोक्ति बना है। उसकी पहचान केवल गुरु की मनहूँर बानी या सत्य-तार्थों की विश्वसनीय पृष्ठभूमि पर ही सम्भव है।^२

लेकिन नहीं गुरु नानक-बाणी ब्रह्म की सर्वोपरि विश्वता की प्रबर्धक ही नहीं वह उसके विरग होते हुए भी कर्म-कर्म ब्यापी होने का विश्वास बिनाही है। जिस प्रकार पेड़ का मूल ठना शाखायें पत्र-मुष्पादि सब एक-दूसरे से पृथक् होते हुए भी मूल को बीजनाशर बनाए रहते हैं ठीक वैसे ही सृष्टि का मूल प्रभु रक्षकता कमी मूल से जुड़ा होकर भी उसी पर आश्रित है, मूल का अंश सब में व्याप्त है। इस उपमा में बाँधे हुए की कल्पना की गई है। पृष्ठी के पेड़ों का मूल नीचे होता है परन्तु संसृष्टि का मूल (ब्रह्म) ऊपर है उसकी शाखायें पत्र-मुष्प नीचे की ओर सटक रहे हैं। बुद्ध नानक लिखते हैं

“उरय भुल जिनु साख तमाहा ।”

१ १ गुजरी अष्टपदी पद १ पृ० ३०३ ।

प्रस्तुत परिकल्पना अत्यन्त प्राचीन है। सृष्टि एवं सृष्टि के रक्षकता का मूल एक शाखा प्रशाखाओं का सम्बन्ध कहीं-कहीं उपनिषदों और गीता में भी उपलब्ध है।^३ बुद्ध नानक या अन्य समकालीन कवियों की बानी में भी ऐसी उक्तियाँ प्राप्य हैं।

१ गणन गम्भीर गणनतरि बासु । २ उमकसा बकसनी म १ पृ० १३२ ।

२ नै बरछाईं बाँधे परिबासा । काम बिकास किए इक प्रासा ।

निरमल औति सरब अमबीबनु । नुरि अनहूँर सबदि बिसाईला ।

४ माक म० १ पृ० १ ३८ ।

३ कबीर ने लिखा है—बस पुरुष इक पद है निरबन बाकी उर ।

तिरबेबा नाका मय पाठ भया संसार ।

(न) भी मद्भगवद्गीता के पदार्थों अध्याय का प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

ऊम्भूमसमक साधमस्वरत्नं प्राहुरव्यम् । स्रष्टासि यस्य पर्जनियस्त वेद सनेद्वि ।

(भावि पुरुष परमेश्वर रूप मूल बासे और ब्रह्मरूप मुख्य साधा बासे जिस संसार (द्विप अगसे पृष्ठ पर)

अभिप्राय यह है कि अकालपुरुष मूल रूप में स्वका सर्व-रूपक होने के साथ-साथ पुष्प-मध की भाँति समस्त प्रकृति बड़ और बेटन में स्वयं विद्यमान है इसलिये उसे सर्वव्यापक घटि-घटि बासी भी कहा गया है। स्पष्ट ही सचसच का वह सर्वोच्च कलाकार इतने मनोयोग स कृति की रचना करता रहा है कि अपनी कला में ही समा गया है। डॉ० इन्द्रबास के शब्दों में 'बुद्ध हुतन का हुतमर, हुतबाने में हुत बन गया आकार।' शैविक-विश्व में जो अत्यंत विद्यमान है वह निर्जन (अकाल-पुरुष) का ही अवयव है।^१ ज्ञान अशु पासेने नामा अपने अतुदिक अकाल-अकार का प्रसार ही नहीं बेबता प्रत्युत साक्षात् उसी का स्वरूप ब्रह्म भी करता है। उसके लिये "मध की मायाकी पृथक्ता" का अस्त हो जाता है। वह बाहर-भीतर प्रत्येक चीज में ब्रह्म स्थित देखता है।^२ प्रकृति के कथ-कथ में भी वही अंतत समाया हुआ है—

बतिहारी बुद्धरत बतिया। तेरा अस्त न कोई लबिया।

१ १२ बारमासा, प० १।

विचारवान् अनुमती के लिए तो वह चारों ओर प्रत्यक्ष है। बुद्ध अर्जुनदेव के शब्दों में—

वेव कतेब संसार समाहूँ बाहरा।

नामक का पातसाहु बिस बाहरा। ४ ३ १०५ आसा।

वस्तुतः अकाल-पुरुष स्वयं ही जीवों के रूप में अतुदिक प्रस्तुत है। उसी की व्याप्ति संसृति का प्रकाश-मूल है। इसीलिये "जीव में ब्रह्म का अंग है" ऐसा कहने

(सेव पिछले पृष्ठ का)

का पीनम बुद्ध को अविनाशी कहते हैं तथा जिसके वेव पत कहे गये हैं, उस संसार रूप बुद्ध को जो पुरुष मूल रहित तत्त्व से जानता है वह वास्तविक वेव तत्त्वों को जानन वाला है—गीता प्रेस)

(ब) कठोपनिषद् अध्याय २ वस्ती ३ मन्त्र १ इस प्रकार है

अर्बुमूमोऽनाकशास ऐपोऽबत्त्वा सनातन।

अभिप्राय यह कि ऊपर की ओर चढ़ें तथा नीचे बैठती हुई साक्षात्-प्रकाशाधी नामा यह अस्वरूप बुद्ध प्राचीनतम और अनारि है।

१ कंचन काइया निर्मम हंसु जिमु महि नामु निर्जन अंसु।

४ २ मत्तार पृ० १२२५।

२ मर्त्री नदरि करे जा हैया हुआ कोई नहीं।

ऐसी रवि रहिया मन पाई, एकु बसिमा मनमाही।^१

१३ आसा पटीनिसी ४३३।

की अपेक्षा मुझ नामक संत आत्मा-बेहूपारी कहकर पुकारते हैं और जीव को ही ब्रह्म रूप में देखते पतते हैं। लिखते हैं 'प्रत्येक प्राणी के अन्दर स्वयं ब्रह्म विद्या पड़ा है उसकी व्याप्ति सबके अन्तःकरण को व्याप्तियत् कर रही है परन्तु कौतुकमय परमात्मा न जीव को अज्ञानात्मक सांसारिक मूढ देकर बाहर भटकने को छोड़ दिया है और स्वयं उसी के अन्दर शान्त समाधि सदा बैठा है। प्राणी-मात्र काम के प्रभाव में यथार्थता को विस्मृत किए हैं अपने ही अन्तर के आनन्द के प्रति जाँचें मूँदे के बाहर की परिधि में सत्यानुसंधान कर रहे हैं। यहाँ नामक यह संकेत करना भी भूलते नहीं कि उक्त अद्वितीयता की प्राप्ति सतिगुरु के माध्यम से तब की कमाई द्वारा सहज सम्भाम्य है।' कही-कही तो उनके की चोट पर सिद्ध किया गया है कि मनुष्य बेह ही प्रभु का निवास स्थान है।

काइया महिल मंहर घरि हरि का तिस महि राखी जोति अपार।

नामक पुस्तुख महिल बुलाईरि, हरि देते वैसनहार। मसार, म० १।

यहाँ पर सार्ध बुस्नेसाह का कथन "अभिया ग्रीह तेषों बरस नहीं पर केवल बानी अन्त नहीं" चरितार्थ हो उठता है। अन्तर में बिर विद्यमान ज्योति देखने के लिये ज्ञान-बसुओं की अपेक्षा है। कोई सच्चा अनुभवी महापुरुष ही कृपा-दान करे तो कोई यथार्थता (हरि मिसन) की पुनर्प्राप्ति हो। वेद का विषय तो यह है कि जन साधारण माया के बोझा-ज्ञान की भूल धुँसैया में रतने सो जाते हैं कि गौठ-बैभे रत्न को झूठे तीर्थों जंगलों नदियों पर्वतों में खोजते फिरते हैं। घर में रखी बस्तु बन्देरा होने के कारण बाहर खोजी नहीं जा सकती। उसके लिये एक-मात्र मार्ग घर में हीपक बनाने का है। प्रस्तुत स्थिति में भी अन्तर में छिपे प्रभु की प्राप्ति के लिय किसी एकमे गुरु के चरण पकड़ना अनिवार्य है जो स्वयं अनुभवी हो यथावता का जानकार हो और भिक्षामु को अनुभव तथा ज्ञान दे सक। संत की तो विद्वपता ही यह है कि वह जो बुद्ध है, अपने अनुयायी को बही बना भेठा है।^१ कोई ऐसा ही संत-महाराज अफाल के स्थान का 'आरम-विश्लेषणारम' ज्ञान जीव को दे सकता है। यह नामक में हरि-मन्दिर के सम्बन्ध में लिखा भी है—

१ षटि षटि अंतरि ब्रह्म सुकाइया षटि षटि जोति सबाई।

बजर कपाट मुक्ते गुरमति निरमे ठाड़ी नाई।

जंत उपाइ कामु सिरि जटा बच गति पुगति सबाई।

सतिगुरु सेवि पशारपु पाचहि झूटहि सचरि कमाई।

४ ६ शीरट म १ पृ ५६७।

२ पारस और संत में बहु अन्तरा जान वह सोहा कंचन करे, वह कर से जान ममान—अज्ञात।

हरि मन्विर लोई मासीऐ विष्णु हरिजाता ।
 भागत वैह गुर बचनी पाइया समु भातमरापु पछाता ।
 बाहरि मुनि न सोमिऐ घर माहि बिधाता ।
 मतमुख हरि मन्विर को सार न जायनी तिनो जनम गवाता ।
 सम माहि इक बरतण गुरु सबरी पाइया आई ।

१२ रामकवी श्लोक पृ० १३३ ।

यहाँ इस बात की पुनर्संज्ञि प्राप्त है कि ईश्वर सब में है और गुरु के मार्ग निर्देशन के अमोकरम से उसकी ज्योति का साक्षात्कार हो सकता है ।

अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म यदि सामान्यतः सर्वव्यापक है और विशेषकर सचछात्र-वासी तो इन दोनों की एकक्य स्थिति क्या होगी ? एक उदाहरण प्रस्तुत है बाजारों गलियों घरों-दुकानों एवं अग्य सब स्थानों में भास्करम तारों द्वारा बिजली की सहृदियाँ पहुँचती दिखाई पड़ती हैं । ये सहृदियाँ सजीव और चेतन की तरह हमारा प्रत्येक कार्य करती हैं, हमारी प्रकाश प्रदाना है, बीजोप्य बातावरण भी उनसे उपलब्ध है और वे एक समझदार सेवक की भाँति हमें प्रत्येक अपेक्षित सुविधा पहुँचाती हैं । बिचार कर कि वे विद्युत् सहृदियाँ या ताम्र-तारों क्या अपने में उक्त शक्ति की प्रतीक हैं ? यदि नहीं तो कबित शक्ति के प्रतिपादन का सामर्थ्य वे किस माध्यम से प्राप्त करती हैं ? उत्तर में हमारा ध्यान पावर-हाउस की ओर बाह्य होता है हम समझ सेते हैं कि यहाँ में यहाँ प्रत्येक लम्बे पर ज्योति प्रदान करने वाली विद्युत् शक्ति उसकी अपने में किन्ती परिपूर्णता का नाम नहीं प्रयुक्त लम्बे में निवसित पावर हाउस की शक्ति का विवर्जन है । उक्त शक्ति मदाबन्ध नगर के गली-सूबे बाजार और घर में चलने वाले प्रत्येक बस्तु में प्रतिनिमित्त करती है जबकि पावर-हाउस स्वयं मग जगह नहीं पहुँच जाता । अकाल-गुरुप भी विद्युत्-सहृदियों की भाँति सृष्टि के प्रत्येक जीव एवं अम्य बराबर में समाहित है, यद्यपि उसका निर्दिष्ट स्थान (पावर-हाउस) सचज्ञ ही है । अग्निप्राय यह कि जिस प्रकार बिजली के एक पावर हाउस की विद्युत्-शक्ति सहृदियाँ द्वारा समूचे नगर या प्रदेश में फैली रहती है, शक्ति पुंज के स्थान किण्व पर स्थिर रहते हुए भी विद्युत्-सहृदियाँ बन्ध-कण में ऊर्जा-वितरण करने में समर्थ हैं—ठीक वैसे ही ब्रह्म के सतलोक में स्थिर रहते हुए भी उसकी ज्योति या जीव-शक्ति समस्त ब्रह्म चेतन में शब्द की सहृदियों द्वारा प्रसारित होनी रहती है । इसी रूप में ब्रह्म को कण-कण वाली या सर्वव्यापक स्वीकार किया जाता है । विद्युत् शक्ति की तरह ही वह एक उच्चतर पर होता हुआ भी सब स्थानों पर विद्यमान है और सर्व-स्थित होने पर भी एक ही सर्वोत्तम लक्ष्य सतलोक पर बासी है । उपरोक्त स्थिति पर गुरु मानक निम्न है सर्वव्यापक ब्रह्म जिनसे तीनों लोकों में ज्योति प्रदीप्त कर रही है

और जिसने अन्य लक्ष्य-ब्रह्माण्डों का प्रत्यक्षीकरण करवाया है, वह मान-शक्ति प्रभु, स्वयं विद्युत सहरियों की माई ही महसूस है। पुन विद्युत शक्ति का परीक्षण होता है बीज प्रलय के बाद। इसी प्रकार जीव में ब्रह्म-शक्ति की उपस्थिति का परीक्षण किसी अनुभवी महापुरुष (सतिगुरु) के पक्ष प्रदर्शन से कथन तभी सम्भव है जब वह लक्ष्य सहरियों को पहचान मान-संबन्धने भावि की कला का ज्ञान प्राप्त करले। अन्यथा पावर-हाउस तो है वह शक्ति-वितरण करता ही रहेगा कोई उसे पहचानने या जानने का प्रयत्न करे अथवा नहीं। ब्रह्म तो सततमेक में मुख्य समाधि में संलग्न है और उसकी मान-शक्ति विषय को बनाती नचाती या मिटाती कभी चारही है।^१ अपने गुरु के चेताए जीव यथावता के प्रकाश में आने के कारण मुक्ति की ओर बढ़ते हैं। और अन्य सांसारिक भूल-भुलैया में अपने को ही 'कुल' समझ कर अहं को जन्म देते और जीवन-मरण चक्र का चिर-नोपन करते रहते हैं। परन्तु ध्यान रहे ब्रह्म मनमुर्खों में भी है और नुरमुखों में भी। एक ने पहचान लिया और दूसरे ने नहीं। सिला भी है—

अनिक कोठरिया जिन मिन मिन मिन करीमा ।

१ १ ४४ गृही म० ५ पृ० ७४९ ।

५ विद्व में ब्रह्म का प्रतिनिध गुरु (Mouth-piece of God)

माया के त्रिगुणात्मक फले में जीव जब सृष्टि के कर्णों से बाहि पुनार उठते हैं अपने ज्ञान के लिये वे पूर्व-सुगर्गी महारामाओं की बाणियों से प्रभावित हो कर कृपा-आगार प्रभु की प्रत्यक्ष कल्पना करने लगते हैं उसे ही अपना मान ज्ञान मानकर अहंनित साह्वान करते हैं तब दया का अक्षुट मंदार वह पुनःसात्मिक अपने जीवों को इस प्रकार तड़पते देखकर स्वयं तड़प उठता है। अपने में अस्त निहित मुक्तारामाओं में से किसी एक^२ को जिज्ञासुओं की पिपसा शांत करने और ज्ञानक शक्ति माया के इतर दृष्टिपात हेतु प्रकाश—श्रोति प्रदान करने के लिए भेजता है। वह महामारमा ब्रह्म का प्रत्यक्ष अंग होने के कारण निश्चय ही ब्रह्म की समूची शक्तियों से विभूषित एवं सद्यक बलीकृष्ण पुषों से असंख्य होता है। संसार में

- १ एक महि सरज सरज महि एका एह सतिगुरु बेस दिखारि । १ ।
जिनि कीए संज मण्डस ब्रह्मगण्डा सो प्रभु लखनु न बाई । ९ ।
बीपक है बीपक परदासिजा निमबण जोति दिखारि । ७ ।
नचै ठकति संज महिनी बडे निरभठ ताई माई ।

५ ५ रामरसी पृ ६ ७ ।

- २ यह भावस्थक नहीं कि एक समय में केवल एक ही मुक्तारमा कार्य करे। देव और ज्ञान की परिधिओं के अनुधार कभी कई सन्त-महात्मा समकालीन अवतरित होते हैं ।

ने के लिये सर्वदास से मृत्यु तक का पत्र उसे भी भोगना पड़ता है। सृष्टि के कुछ क्षणों भी सहनी होती है परन्तु वह तन-मन के सम्पर्कों से फिर-मुक्त होने के कारण मृत्यु-लोक का समस्त कार्य भुगतावा हुआ भी भाव-जगत का बासी रहता है। मामिक जगत् वाला पाकर वह मटके हुए जीवों का सुपन पर मगाने आटा है अपना कार्य पूरा कर रही (सतलोक में) लौट जाता है और अपने साथ न जाने कितने विष्वासियों को भी उधार करता चलाता है। मृतलोक में आकर भी वह बस में मुग्धाभी की नाहें उसे समिप्त रहता है और जो कुछ भी करता है अकाल की आज्ञानुसार उसी के रूप में करता है। वह प्रभु का सच्चा प्रतिनिधि होता है माया के विमिरात्म्य हृदयों में स्वस्व की ज्योति जलाता है। इमनिम अन्वकार-विच्छेदन-कर्ता अर्थात् 'मुक्त' कहलाता है। कुछ मानक से स्पष्ट सिद्धा है।

शुभ माह मायु रक्षिता करतारे । पुरमुनि कोटि असंख उचारे । ६ । १ २

(क) जीव-ब्रह्म में सम्पत्त्व—जीव और ब्रह्म एक ही तत्त्व हैं, परन्तु जीव प्रकृति की परिसीमाओं—देह और काल के अन्तमत्त जा जाने से पार्थिव स्थिति में आत्मा देहवादी बन गया है और माया के आवरण में अपने को ऐसा भ्रूता है कि निज के परम रूप का भान तक भी उसे नहीं रहा। ऐसे में ज्ञानावरण की स्थूलता यदि कहीं से शीली पड़ जाए और सतसंमति एवं भर्म-सर्षों के अन्वयन से जीव में मासिक के महत्त्व सत्य का जानने की जिज्ञासा जागृत हो तो वह किसी ऐसे महापुरुष की शोच में निकलता है जिसकी अपनी रसाई परम-तत्त्व तक हा और जो दूसरे को भी वही अनुभव करवा सके। पीछे कहा जा चुका है कि तत्त्व-चित्त किसी चेतन मार्ग प्रवसन के बिना सम्भव नहीं और परम योग्य हमारे पूर्व-जन्म के भले कर्मों से ही प्राप्य है। तो निश्चय ही जीव की वह पूर्व शोच कई सच्चा गुद पालने को लक्ष्य बनाये रखेगी। योग्य प्राप्ति की स्थिति में उत्तर-शोच गुद-निर्वहण में परम-तरब से सम्बन्धित होगी। इससे सिद्ध है कि जीव और ब्रह्म के मिनन अथवा जीव द्वारा ब्रह्म की प्रायकारी प्राप्ति

१. मार्क म० १ पू० १०२५ ।

२. बाइबिल में भी स्वीकार किया गया है कि स्वयं जन्म देह रूप में हमारे जीव जाया और सत्य का निर्देशन किया ।

The word was made flesh and dwelt among us full of grace and truth.

३. माया के आवरण के शीनेशन से हमारा अविग्रह उसके प्रभाव की कमी एवं आध्यात्मिक जिज्ञासा के प्रसफुल्य से है। पुनर्जाती के अनुसार यह सब अच्छे कर्मों (भारण्य) से ही सम्भव है ।

करने में गुरु प्रथम सोपान है।^१ इसका कारण स्पष्ट करते हुए गुरु नामक लिखते हैं कि जब तक जीव सांसारिक बियम-वासनाओं से मुक्त न हो पाय और उसके अहंकार में (हठमें) विनम्रता का उदय न हो, तब तक वह ब्रह्म रूप को नहीं समझ सकता। गुरु यह लिखते हैं जो जीव की इन अदम्य बुद्धियों को हृष्यानेत्रों से दूर कर, उसे ब्रह्मेक्य का एक-मात्र साधन नाम-रहस्य समझाता है। गुरु के उन शब्दों से ही मन्वत्प्राप्ति होती है अन्यथा जीव कहीं भी मटक कर रह सकता है।^२ अग्निप्राय यह कि गुरु जीव और ब्रह्म में मध्यम्य का कार्य करता है। एक ही तत्त्व के दो पृथक् रूपों का एकीकरण मध्यम्य की स्वामाबिक विशेषता है। इस सम्बन्ध में गुरु मनु नदेव तो पृथक् कर कहते हैं कि ब्रह्म से बिलकुल हुए जीव को पुनर्मिलन की स्थिति तक पहुँचाने के लिए गुरु ही योग्यतम साधन है। यह उनका सैद्धांतिक कथन नहीं व्यावहारिक अनुभूति है।^३ गुरु नामक स्वयं भी इसी भाव को प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार व्यापार या वैवाहिक सम्बन्धों में मध्यम्य-जन दो बसों का मेल करवा देते हैं, वैसे ही गुरु नामाबल-ब्रह्म (जीव) तथा निरंजन-ब्रह्म (अकाल-गुरुप) के मिलन का कारण बनता है। सीधी-सी बात है कि उसे जीव में से माया के परों को हटाना होता है और तत्त्व स्वतः ही तत्त्व में मिल जाता है। गुरु साहित्य करताते हैं कि उस सच्चे पापक द्वारा निमित्त प्रत्येक-जीव सत्य है। ब्रह्म स्वरचित है इसलिये अपार महिमामय है। परन्तु जीव उससे बिलुप्त गया है और केवल गुरु ही उन जुबा हुए तत्त्वों को बोधारा जोड़ सकता है। जागे मिलते हैं कि जीव उस सूर्य-बोध के रश्मिता कुसमानिक का बिचार चाहे दिन-रात क्यों न करे, बिना गुरु की ज्योति के वह आत्म-तत्त्व को पहचानने में अयमर्थ ही रहेगा।^४ कहते

१ द्वितीय सोपान गुरु ब्रह्म का पावन एवं उपदेशानुसार भजन-स्मरण एवं नाम की कमाई है। बड़ी गुरु-सेवा भी कही जासकी। तत्रोपरान्त तीसरा सोपान है आत्मा का केन्द्रीकरण आत्मज्ञान और ब्रह्मिक्य।

२ बिनु गुरु रोमु न तुटई हठमें पीड़ न जाई ;
गुरु परसाधी मन बसै नामै रई समारई ।
गुरु सबदी हरि पाईए बिनु सबदैं भरमि भुसाई ।

१ २४ ३७ राग सिरि म० १ ।

३ वैसे सतिगुरु सुणीबा ठसोही मैं बीठ ।
बिभुदियाँ मेगे प्रभु, हरि दरगाह बसीठ । बार रामकृती म० ३ ।

४ सधु सिरंदा सचा पापीये सचबा परवरवपारो ।
जिन भागीरै भापु साजिवा सचड़ा बसल अपारो ।
दुईपुङ्ग जोड़ि विद्यादिअनु गुरु बिनु जोर अपारो ।
मूरतु चंदु सिरविअनु अहिनिधि बसनु बीचारो ॥

१ १ बडईस पृ० २०० ।

का तात्पर्य यह कि गुरु जीव प्रबोधक होता है और जीव तथा ब्रह्म के मध्यमन में अधिकारी पुरोहित का काम करता है ।

मकिन नहीं वह केवल मध्यम ही नहीं वह तो जीवों की पुकार में सहायक रूप में पठाया हुआ स्वयं ब्रह्म का प्रतिनिधि होता है ।^१ वह जो कुछ भी करता है प्रभु की ओर से करता है और सब तो यह है कि प्रभु को गुरु की कीर्ति प्रत्येक बात मजबूर है । गुरु द्वारा भेजाए जीव का बमराज की बरामत में कोई प्रसन्न नहीं उठता, बस जिसका गुरु ने अप्त दिया क्रिया-कर्म से कुडाकर मुक्तान्पाओं की सूची में जिसका नाम प्रविष्ट कर दिया वह मुक्ति पा गया । स्वयं करतार को भी उनमें कोई आपत्ति नहीं होती । ठीक जिस प्रकार वैयक्तिक-मन्त्री या प्रतिनिधि के स्वीकृत काम का उच्चाधिकारियों को कोई शोक नहीं होता उसी तरह "ओ गुरु क्रिया मो हरि मानिया" की इति माकोत्तर आध्यात्मिक क्षेत्र में भी मान्य है ।^२

(ख) गुरु और ब्रह्म में अमेद — नामक-वाणी गुरु को केवल ब्रह्म का प्रतिनिधि मानकर ही संतुष्ट नहीं । ज्यों-ज्यों विम्वन का क्षेत्र विस्तृत होता है गुरु ही वह रूप में दिखाई देने लगता है और नामक की वह अवस्था भी दूर नहीं रह जाती जब वह गुरु को साक्षात् ब्रह्म स्वीकार करता है और दोनों में अमेद की स्थापना का मुदमप हो जाता है । गुरु मानक ने स्वयं गुरु को अपरम्पार पारब्रह्म और परमेस्वर कह कर पुकारा है ।^३ गुरु अर्जुनदेव ने तो अर्थात् विचारोपगन्त यह विषय दिया है कि गुरु और गोविन्द में कोई अन्तर ही ही नहीं मरता ।

१ जैमा मतिगुरु सुधीरा संयोही में कीड ।

बिबुहिमा मने प्रभु हरि दरगाह बसीठ ।

बार रामकसी म० १ ।

२ राम नामु पनु तिरमनो जो देवे देवगहाह

वासी पूष म होबई जिस बैसी मुठ करतार ।

भापि छड़ाए छुटीये जाये बससपहाह । ११, राम सिरी पृ० ६ ।

३ अपरम्पार पारब्रह्म परमेस्वर मानक गुरु मिसिदा छोई जीव । सोरठ म १ ।

नोट— इस पर के अमृषार कुछ विवेचकों के नामक-वाणी में उनके गुरु के प्रति विचार करने का उपक्रम दिया है और परिग्रामस्वरूप सिद्ध किया है कि नामक का कोई गुरु न था । स्वयं प्रभु उनका गुरु था । इन विचारों में हम महमत है कि नामक के किसी दीरान-गुरु का पता नहीं बसता परन्तु प्रस्तुत परिदृश्यना की आवश्यकता ही क्या है जबकि वाणी गुरु और प्रभु में भेद मानती ही नहीं । गुरु मानक ने स्वयं भी तो सिद्धा है—
हहि गुरगुरवि एका बरती मानक हरि गुरु भादजा । ६ भाक पृ० १०४३

समुच्च विरोध सटीक हम बेसिजा इक बसतु अनुप दिखाई ।
गुह पोबिम्ब, पोबिम्ब गुह है गालक भेद न भाई ।

१८ भासा पृ ४४२ ।

और भी कुछेक स्वार्थों पर यह निर्णय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

गुह परमेसब करने हार सपल सुसदि को बे भाचार ।

१२, सूही पृ० ७४ ।

और भी—

गुह परमेसब एको जान । जो तिसु भावे सो परबाल ।^१

११ नॉड म० २, पृ० ८१४ ।

स्पष्ट ही गुरुवाणी गुह और अकास पुरुष में कोई भेद नहीं मानती । मेरा विश्वास है कि पीछे 'गुह और बुद्धमुख' के अध्याय में इस बात पर पर्याप्त बल दिया जा चुका है यहाँ पुनरावृत्ति करना अपेक्षित न होना ।

६ ब्रह्म का जीव से सम्बन्ध

ब्रह्म और जीव दोनों एक ही तत्त्व के दो पहलु हैं एक परम-वच पर आसीन है तो दूसरा उसी का परिचर्तमनीय अन्न । अन्न जो सम्बन्ध सागर और उसमें उठने वाली तरंगों अथवा मरुत्तल तथा उसमें उड़न-गिरते और टकराने बासु-कणों में होता है, वही स्थिति ब्रह्म और जीव की भी है । प्रत्येक जीव में बैठना रूप में ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान रहता है । उस परम-तत्त्व का नष्ट होना ही मृत्यु है । स्पष्ट है कि दोनों का सम्बन्ध चिर-अविच्छेदनीय है । गुह गालक ने प्रस्तुत सम्बन्ध को समझाने के लिए अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं और कहीं-कहीं स्थिति को सांसारिक नातों-सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में भी सामोका किया है ।

(टिप्पणी—ध्यान रहे ऊपर सागर और जल-बिन्दु या मरुत्तल तथा रत्नकण की उपमा नहीं दी गई । विशेष कारण यह है कि जल बिन्दु या रत्नकण के घाबर अथवा मरुत्तल से कुछ समय बुझा भी रहने की सम्भावना हो सकती है लेकिन उपर्युक्त उपमा में गुरुवाणी सिद्धान्तों के अनुसार यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि

१ कहीं-वही हिन्दू धर्म-शास्त्रों में भी ऐसी उक्तियाँ उपलब्ध हैं यथा
गुरुव ह्या बुद्धिबन्धु गुरुर्बो महेश्वरः । गुरु सासात् परब्रह्म तस्मिन्धी मुञ्जत
बाइबिस में बाइबिस ने भी कहा है—

I and my father are one.

दोनों रूप कभी एक-दूसरे से जुड़ा नहीं होते। जीव ब्रह्म में ही जीत होता है तो भी परिवर्तनशील होने के कारण भ्रमग दीखता है और यदि जल की सहर्ष तरंगित होता छोड़ दें तो वे जल (मातर) ही कही जायेंगी सहर्ष नहीं जैसे ही यदि जीव महामात्र छोड़ दे तो वह स्वयं ब्रह्म कहलायेमा जीव नहीं। नानक बापी के इस सिद्धान्त पर उनके दार्शनिक स्वरूप को भेदाभिधी कहा जा सकता है।)

(क) रचयिता रचना सम्बन्ध (जीव ब्रह्म का अंश है) — पीछे बताया जा चुका है कि जीव ब्रह्म का अंश है यहाँ केवल दोनों के सम्बन्ध का स्वरूप शुद्ध मानक द्वारा दिखे उपदेशों के आधय प्रस्तुत किया जायेगा। ब्रह्म यामिभु सृष्टि का बमर शक्ति-सम्पन्न रचयिता है। उसने स्रष्टों-ब्रह्माण्डों प्रकृति तथा पदार्थ की रचना की है। मानव-देह के स्वरूप अबगु ठन के साथ ही उसने उसमें मजीबता और सजगता के महान बुधों का प्रतिदान भी दिया है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन उस कलाकार की ऐसी कृति है जिस पर वह सदैव नूची और रग मिये मिसा रहता है और अपनी रचना का मानव लेने के लिये निरन्तर उस पर सुनिका पकाता ही जाता है। कभी बनाता है कभी बिबाइता है और मनोबधि के अनुसार मानव-जीवन की उन्नति अधनति या उत्थान-मदन का कारण बनता है। अन्तिम रंग (Finishing Touch) तो वह किसी विशेष रूप-यात्र कृति को ही देता है जग्यया उसकी प्रत्येक रचना अपने में अधूर्ण है (इम दि मेनिग)। परिपुषता (ऐगनेस्सूटनेस) केवल उसी की धाती है या फिर उसकी जिसे वह अपन में मिलाकर अर्थात् अन्तिम रंग भर कर पुर्ण बनादे।^१ जीव और ब्रह्म का प्रस्तुत सम्बन्ध सुमों-सुबों म बना जा रहा है।

(ख) शरीर में चेतन-अंश परमात्मा (जीव ब्रह्म का अंश है) — पदार्थ शरीर में माग्मत् की उपस्थिति ही उस मनुष्य की संज्ञा दितान में समब है। शरीर के अन्दर प्राणों का संचार, स्वात प्रबाम क्रिया, मनोभावों की तरंगें एवं मग्निष्क की विचार-शक्ति सब एक तिमन्त्र में बंधे हुए हैं। जब तक मनुष्य जतन है उसके अन्दर सजीवता है तब तक उपयुक्त सभी बिमार्य अबाध यति एवं अनुभासित बिधि से चमिठ है परन्तु अन्दर की चेतना के मंग होने से सब मानसिक क्रियाओं का अकस्मात् नविरोध हो जाता है और मनुष्य अब मात्र रह जाता है। जैसे पर में मेन म्बिच के बन्द कर देने से सब बिद्य त्-वीरक बुझ जाते हैं बिजसी द्वारा होने वाली नव बिमार्य ग्य हो जाती है वम ही चेतना के मुख्य-मोन से यदि शरीर का सम्बन्ध कट जावे ता मनुष्य को मृत कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि मानव शरीर में जो चेतना की सहर्ष रह रही है उसका उदगम कही परम-चेतन ब्रह्म है अर्थात्

१. उर्दु बाहि उचार भाये जिठ निम्न भाई निरी कर ।

करि करि वेग हुअमु अभाण तिस निघताने वा कज नदरि करे ।

ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध आध्यात्म और भाषित का है। गुरु नानक ब्रह्म की स्तुति में लिखते हैं कि यह कृपामु दाता स्वयं सृष्टि के बीजों में प्राण-शक्ति बना बैठा है। ज्ञान-म्याग से रहित मनुष्य उसे नहीं पहचानता। झूठे बेशक़ारण करने भ्रमने-सोबने या हठयोग की असाम्य क्रियाएँ करने से अन्तर-निश्चित ब्रह्म को सोबने में मनुष्य असमर्थ रहता है उसकी प्राप्ति केवल सतपथ पर चलने से ही सम्भव है।^१

(घ) दोनों में तत्त्व-भेद कोई नहीं—ब्रह्म परम-सत्य या चेतन तत्त्व है और जीव उसका साधारण सा अंग। दोनों की यथार्थता बराबर है दोनों का स्वस्व एक है और दोनों एक ही तत्त्व का स्वभाव सिये हैं। 'ब्रह्म बीजो नहीं कछु भेदा' का लोक कथन इसी तार्त्विक-एकता की पुष्टभूमि पर प्रवसित है।^२ 'चितने जागदार हैं वे सब उमी तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं जो प्रभु का है। इनका अंशही सम्बन्ध है। इस तरह सृष्टि के सब जीव उसके बालक हैं। जिस प्रकार मासक माँ के माँस का भाग है उसके गर्भ में रहता और पसता है उसी तरह हम प्रभु से पैदा होते हैं तथा उसी से हमारा पोषण भी होता है और उससे भँसे ही सम्बन्ध रहते हैं जैसे बालक अपनी माता से हमारा सम्बन्ध मानिक है वीर भी अधिक है हम उसके अवयव हैं हमारा और उसका अंश-अंश सम्बन्ध है। सागर और उसकी सहरो में अन्तर नहीं सूर्य और उसकी किरणों में कोई भेद नहीं। हम मानिक है कनी खुवा नहीं हुए और वह हमेशा हमारे अंग-संग वीर अन्दर-बाहर मौजूब है।' गुरु नानक फरमाते हैं—
 बरिमाज बाला बीजा में मछुली कैसे अंतु लहा। (सिरी म० १ पृ० २३६)^३।
 तार्त्विक-साम्यता के सम्बन्ध में गुरु अर्जुनदेव ने जस एक तरंग का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जीव के मानक ब्रह्म में प्रकट होने से किसी प्रकार प्रभु से कोई अन्तर पैदा नहीं होता। जीव नहीं रहता है जो उसका परमात्मा—

हरि का सेवक सो हरि बोहा भेदा न जाबहु मापस वैहा।

जिउ जल तरंग ऊठहि बहुमत्ता फिर सलसै सलल समाइवा। (माक्योमई)

१ किरपाम दाता ब्रह्मानु दाता बीजा अन्दरि तू बीजों।

मैं अचक गिजामु म बिजानु पूजा हरिनामु जलरि बसि रहे।

भेतु भवनी हठ न जाना मानक सभु गहि रहे।

१ बिलावत छैन दपतनी पृ० ८४३।

२ कबीर ने लिखा है—कहु कबीर इह राम की अंस।

१ राग गौड़ आदिपन्थ पृ० ८०१।

३ गुरमत निदान्त—मम्याचिन एवं प्रकाशित महाराज शाबबनिह बी।

पृ० १११२।

४ क भेदाभेदवाद का निश्चित रूप यहाँ उपलब्ध है।

(घ) पति-पत्नी सम्बन्ध—संसार के मोक्षे जीवों को ब्रह्म और जीव के गहन सत्त्व को समझाने के लिए पुरुष नानक निकटता के सार्वभौमिक भावे पति और पत्नी के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पति-पत्नी के आवृत्त के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे दो शरीर और एक प्राण (आत्मा) होत हैं। उनमें परस्पर किमी भी यथार्थता का मेघ नहीं रहता बोधनीयता का प्रसन्न ही नहीं उठता और वे आपस में इतने सम्बन्ध हो जाते हैं कि एक के बिना दूसरा अपूर्ण और अस्तित्व हो जाता है। यही स्वयं ब्रह्म और जीव का है। दोनों दो शरीर और एक प्राण हैं अर्थात् पृथक्ता अनुभव की जाती है परन्तु तब एक ही है। ब्रह्म पति है तो जीव उसकी पत्नी। पत्नी हर क्षण पति का संयोग चाहती है परन्तु पुनियाहारी के बन्धन सामाजिकता के 'सुसंस्कृत' आदेश और घर के अन्ध संस्थों के प्रति सञ्जानुभव सब मिलकर पति पत्नी मिलन के मार्ग की बाधाएँ बन जाते हैं। इस पुरुषत्व में माया-आत्म कहा गया है। जो जीव (पत्नी) इन बन्धनों को छोड़कर मा इनकी उपेक्षा करते हुए प्रभु (पति) के मिलन को कटिबद्ध रहता है वह अन्ततः सफल होता है दोनों का संयोग होता है—जीव और ब्रह्म (पति-पत्नी) मिसकर एक हो जाते हैं। पुरुष नानक इस सम्बन्ध को विप्रसन्न शृंगार के अन्तोग रूप में प्रस्तुत करते हैं। आत्मा कभी पत्नी परमात्मा-पति से बिछुड़ गई है (माया-आत्म के कारण) कोई उसका रक्षक नहीं स्वामी नहीं अकेली मारी मारी फिरती है और अपने उद्धारकर्ता मात्मिक को प्राणाय पुकारती रहती है। कहती है "ऐ मेरे बेपरवाह पति-प्रभु मैं तेरी अनुपस्थिति में इस अद्वयारण्य में अकेली क्योंकर जीव धारण कर सकती हूँ? पति के बिना पत्नी कम्भी अन्धेरी और मूनी रातों को सुक-सुक कैसे काट सकती है? हे प्रभु तरे बिना मुझे नींद भी नहीं आती। तेरी याद सदाती है तू ही मुझ भाषा है। क्योंकि अपने प्रिय स्वयं के अतिरिक्त इस दुनिया बिचिहणी की सार और कौन से? यहाँ तक सांसारिक रंग में पति-मिलनार्थ पत्नी की पुकार का चित्रण कर अन्त में पुरुष नानक इसे आध्यात्मिक पुरुष पेश करत हैं 'आत्मा अपने पति से बिछुड़ कर तिस-तिस बिच्छु विदाय हो रही है मिलन चाहती है परन्तु साधन के बिना सक्य-साधना क्योंकर सम्भव हो? स्पष्ट ही संकेत आत्मा-परनात्मा के मिलन-साधनों (सतिचिंतन मतिबुद्ध और नाम-स्मरण) की ओर है। पुरुष नानक आध्यात्मिकता के इस सांसारिक चित्रण

१. मुनि नाह प्रभु जोत एकसड़ी बन माहे किठ बीरिनी नाह बिना प्रभु बपरवाह ।
 पन नाह बासहु रहि न साकं बिलस रणि बपरीया ।
 नह नीद आवै प्रभु राबै मुनि बेनति मेरीमा ।
 बासहु विबारे कोइ न मारे एकसड़ी कुरमाए ।
 नामक मायन मिमै मिमाई बिनु प्रीतम बुल पाए ।

की पूर्ति में प्रेम की सम्बन्धता को अपेक्षित मानते हैं। यदि पति-पत्नी में प्रेम ही न हो या पति अपनी पत्नी को पसन्द ही न करे, तो क्या पत्नी-जीवन कभी सुखकर हो सकता है? कदापि नहीं। ऐस में स्त्री को पति को आकर्षित करने वाला युग अपने अन्तर में उत्पन्न करने हूँ। अपने को पति की प्रेम-यात्री बनाना होना और वह सभी सम्भव होगा जब स्त्री (आत्मा) पति (ब्रह्म) की इच्छाओं को समझ कर अपने में अपेक्षित परिवर्तन लाने का सङ्प्रयाम करेगी। तब वह अपने प्रिय के घर को गुप्तोचित भी कर सकेगी। कुछ मानक सिद्धांत हैं कि 'पिब घब सोहे नारी ओ पिब भाबे बीड'। (बनासरी पृ० ६८६) यहाँ पति-पत्नी प्रतीक को आत्मा-परमात्मा के स्पष्टीकरण में कुछ और बलपूर्वक समझाया गया है। सिद्धते हैं कि यदि नारी (आत्मा) गुरु के शब्दों-उपदेशों का विचार कर अपने को पति के रंग में रंग से तो निश्चय ही वह पति की प्रेम-यात्री हो जायगी क्योंकि जब तक पत्नी को ही पति से प्रेम नहीं पति के मन में उसके लिए स्थान क्योंकर बन सकता है? अर्थात् जब तक बीच ब्रह्म से मिसने का आतुर नहीं होता ब्रह्म उसकी उपासना ही किये रहता है। परन्तु जब गुरु-कृपा से स्त्री (आत्मा) पति (ब्रह्म) का सतत ध्यान करती है, भक्ता और भक्ति के लक्ष्य में अति-विनम्र हो उससे मिलन की प्रार्थना करती है साधारण बन्धनों को त्यागती और मोह माया का अन्त करती है तब वह पिया मिलन के परमानन्द में रंग जाती है- विबोम समय में परिवर्तित हो जाता है और वह (नारी आत्मा) अपने पति (ब्रह्म) का प्यार प्राप्त कर उसके सत्सहस्रों में निवास करती है और वास्तविक रूप में सुहागिन होने का गौरव उसके पद चुम्बन करता है।^१ सिद्ध है कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिये बीच का आत्म-समर्पण करना हावा ठीक जैसे ही जैसे पति को प्रसन्न करने के लिये पत्नी किया करती है। पति-पत्नी का यह पुष्टतर सम्बन्ध का दृष्टान्त बीच और ब्रह्म के सम्बन्धों की गुप्ती को सुमझाने में पर्याप्त सफल कहा जा सकता है। अन्त में जैसे पति की प्रेम-यात्री बनने वाली नारी धन्य होती है चिर आनन्द एव महत् सुख की भागी बनती है, ठीक उसी प्रकार मार्ग की बाधाओं (मायाबन्धन) का मर्दन कर जो बीच ब्रह्म के चरण पकड़ता है, सत्सङ्ग-प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करता हुआ महापप का अनुगामी बनता है, वह ब्रह्मधन को प्राप्त करता है। स्वयं तो वह विरह सिन्धु को तिरछा ही है अपने सानियों एवं

१. पिब घब भाब ता पिब भाब नारी बीड ।
 रमि प्रीठम राही गुरु के सबदि बिचारी ओड ।
 गुरु सबदि बीचारी ताहु पिचारी निबि निबि भगति करेई ।
 माइया मोहु जलाए प्रीठमु रव महि रंगु करेई ।
 ब्रह्म साबे मेठी रंग रवेठी साम भई मनु माठी ।
 मानक साबी बसी सोहाबिपी विर सिड प्रीठि पिचारी ।

सम्बन्धियों-भातेदारों को भी मुक्त करवा सेवा है।^१ यह सब उस जिज्ञासु आत्मा (छात्री नारी) की महात्मता का द्योतक है।

(४) जीव और ब्रह्म की पृथक्ता—(मायाजाल नामाभास, विषय-वासना, मनोबिचार एवं सांसारिक बन्धनों का कारण)

जीव और ब्रह्म में तात्त्विक अन्वेष और पूज्यतम ऐक्य सम्बन्ध होते हुए भी आत्मा परमात्मा से पृथक् रह कर विषयिणी तड़प रही है। दोनों के मिलन पत्र में भ्रम की घमासक खाई खुद गई है। स्वभूतता का आवरण छाया है और जीव भ्रम सुखों का चक्र में मग्नता को भूल कर विषय पर ही अपना धुमा खा रहा है। कभी प्रभु मिलन की बिसाता होती भी है, तो भ्रममूलक अपराधों के कारण वह अन्तर्मुखी अनुसंधानता बनने की अपेक्षा विचर-विचर तीर्थों-पहाड़ों में उसे खोजने लगता है। परन्तु पश्चिमी मार्ग पर जैसे पूर्व के अन्वेषक की भाँव जीवन भर टोकरो खाता पन्तम्य से दूर ही बना रहता है। उक्त दूरी का कारण है—अन्वेषन विषय काष्ठता नाम-स्मरण का अभाव और माया का भ्रम। आत्मा परमात्मा-सत्त्व होने के कारण अपने में कभी निस्तेज नहीं होती परन्तु देह धारण करने से उस पर सांसारिक सम्बन्धों के स्वभूत आवरण बढ़ जाते हैं जिससे पृथक्ता का उदय होता है।^२ वेद का विषय तो यह है कि जीव बन्धियों और दुष्कर्मों के इन पदों में ही अपनी मग्नार्थ स्थिति समझने लगता है और ब्रह्मास होते हुए भी उससे भिन्न बना रहता है। उसका दुर्भाग्य। सञ्चारी को छिपाकर मूठ की ओर किवी का प्रवृत्त करना ही मायावी-कृत्य है और अन्वेषन इसी मायावी-कृत्य के प्रतीक है। प्रस्तुत स्थिति का महत्तम कारण है संसार (मूठ) से प्यार तथा नाम (सत्य) की अपेक्षा। मूठ नामक मिलते हैं "विष्णु" नाम भ्रम सुनिषा, इति मुक्ति इच्छिमात् ब्रह्म। १ १ (ग्रहो म० १ पृ० ७३१।) अर्थात् सत्यनाम स्मरण के बिना जीव ब्रह्म में चारों ओर से टका खा रहा है और फिर भी भ्रमित हुआ सञ्चारी से कोसों दूर संतुष्ट पड़ा है।

१ हरि वह किनि पाइया धन नारी हरि छिठ राती सबहु बीचारी।
भावि तर संसति कुनु तारे संतिपुत्र खेवि तनु बीचारी।

१ १८ आशा पृ० २३३।

२ उदाहरणतः बिसु-दीपक जब तक बिजली की लहरियों से सम्बन्धित रहता है अपने में कभी निस्तेज नहीं होता। स्वयं प्रकाशित हुना है दूसरे की ज्योति का देता है। परन्तु यदि उसी पर कुछ योग्य आवरण बात दिये जायें तो वह प्रकाश देने में असमर्थ हो जाता है। ध्यान रहे उसका अन्तःप्रकाश क्यों का क्यों तक भी बना रहता है और समयानुसार स्वयं क्यों को उद्यत देन से वह पुनः दीप्यमान बिसने लगता है। टीक ऐसे ही आत्मा पर दुष्कर्मों और विषय वासना के चर्च बढ़ जाने से वह अपनी ज्योति मोकर ब्रह्म से जुदा हो गई है, क्यों-क्यों के पदों हटाए जायें, प्रकाश स्वयमेव दीप्त हो उठेगा।

(ब) कर्म-सिद्धान्त—यद्यपि प्रस्तुत भावना कारण-कर्म कृति पर आधारित मानी जाती है तथापि गुरुमत का स्पष्ट निर्णय यह है कि कारण भी कर्म का सम्बन्ध विधी-वैतन-सत्ता के द्वारा है।

कारण कारण समरथ है कतु मानक धोधारि ।

कारण करते बलि है जिन कर्म रची धारि ।

२ स्मोक सद्सङ्कति म० १ ।

कर्म अपने आप फल पैदा नहीं कर सकते। हुकम ही कर्मों का फल-प्रदाता है तथापि वह फल हमारे ही कर्मों के अनुसार होता है—

हुकम बलाह आपनै करमी बहै कसाम ।

२, स्मोक म० १ वास धारंग म ४ ।

जीवन में दुरे कर्म हमें बड़े स्वभाव में बलाते हैं और जब तक जीव मनमुब रहता है, वह न तो उस स्वभाव को बदल सकता है, जो कर्म-संस्कारों से बन जाता है और न ही उन कर्मों को छोड़ पाता है जो अवनुओं में प्रतिफलित होते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि जीव को बार-बार कर्मफल भोगार्थ जन्म लेना पड़ता है। हर बार वह गुरु-मत-विरोधी कर्म करता है इसलिये अपनी मजिस से दूर रहता है अर्थात् ब्रह्म से उसकी पूषकता यनी ही रहती है। यथा—

हजरी मन बुध फिर मरि कर्म बारो बार ।

बहरे किरति कमाबना कोई न भेटनहार ।

१९, १० गृही म ३ अल्पदिया ।

७. मिसाप

जब प्रश्न उठता है कि जीव और ब्रह्म की यह आत्म-पूषकता क्योंकर दूर की जा सकती है? मान लीजिए पप भ्रष्ट जीव का अन्तःप्ररणा सं भाभास^१ मिसता है कि वह समस्त माय पर चल रहा है तो भी ठीक मार्ग कौन सा है? यह उसे ज्ञात नहीं होता। अतः उत्पन्न के प्रदर्शक की आवश्यकता पड़ती है। इससे मिसाप की सम्भावना आप्त होती है एवं जब तक पप प्रदर्शक के आदेशों का पालन न किया जाये जन्म सम्भावना मात्र-सम्भावना ही रहती है, सत्य में कदापि परिवर्त नहीं हो सकती। अस्तु, कहना न हुआ कि माया के बन्धनों में बँधे मनोविचारों के विमोक्ष जीव को परम पद की प्राप्ति के लिये एक गुल्मर जम लाना पड़ता है जिसका स्वकन कष्ट विभाजन मुक्त आयामी पंक्तियों में प्रस्तुत किया जाता है।

१ दुरु बानी के अनुसार सत्कर्मों (पूष जन्म के) के बिना ऐसा आभास नहीं होता। प्राप्ति के साधन है अष्टौ भोगों की संनि पम-आस्थों का अध्ययन एवं अन्तःकरण की शुद्धि।

(क) विकारों का अन्त—जिज्ञासु जीव को सर्वप्रथम अपने मानसिक विकारों का अन्त करना अन्यायसम्बद्ध है। अज्ञान मन को स्मिर करना, मोह-माया के बन्धनों को काटना एवं सांसारिक आकर्षणों को त्यागना ऐसी क्रियाएँ हैं जिनमें घटका हुआ जीव स्मिरता प्राप्त करता है। मन की बगता के अभाव में मनुष्य दुनियाँ के विषय विकारों में फँसा माया के हाथों की कठपुतली बना नाचता रहता है। ऐसी स्थिति में प्रायः जिज्ञासा भी गप्ट हो जाती है।^१ जीव अपनी पतित स्थिति में ही संतुष्टि लाभ करने समया है। उसकी गिरावट यहाँ तक सीमित नहीं हो जाती बल्कि और भी दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है तथा अपने हाथों अपनी भलाई का परमरोध करता है। गुरु की शाली में विकारी मन को ही इस द्वैत स्थिति के सिये अपना भी ठहरोया गया है और इसके बश कर लेने को विरत-विजय सरोखा महत्व दिया है।^२ गुरु मानक लिखते हैं कि मन को समझाने और बश में करते से ही स्वामी-अभयत (धिय मिलत) सम्भव है—

कोले कोले अस्तबिद होवे किउ करि अलखु लखाए ।

सुनि सुखामी सखु मानखु प्रखरे अपने मन सख्याए ।^३

आये लिखते हैं कि मन को समझाने के साथ साथ पंच-विकारों (काम मोह, लोभ मोह, अहंकार) का अन्त करना भी परम-सात्य की प्राप्ति में अनिवार्य है। कृत्रिम आडम्बर (मोघ-मारम बटा-बट्टेय मपना-पहुनावा बर-बार का त्याग भादि), जीव की निष्क्रियता का छोटक होना। उसे तो किसी अनुभवशी महापुरुष के बरग पकड़ने बाहिर और उसके उपदेशों-आदेशों से मानस की पावनता प्राप्त कर अपने को प्रभु के समीप लाने का उपक्रम करना चाहिये। गुरु की मुञ्ज और सिद्ध बाध परल लेने से मन की अज्ञानता तो भाँट होगी ही, साथ ही परम-पद प्रभु की अति निकट जानकारी भी मिल सकेगी।^४

१ जिन प्रकार नाली का कीड़ा कन्डी बगल में प्रथम तथा और पतता है; वह कीड़े-कीड़े अपने बाठावरण का इतना अन्तस्त हो जाता है कि नाली की "सुगन्धि" छोड़ कर वह उद्यान की "दुर्गन्धि" में भी खूना नहीं चाहता।

२ सखु कोठे सखु कीनु—सखुजी ।

३ पर ११, राम रामकमी म० १ पृ० २४४ ।

४ अंतर्नि सबकु निरंतरि मुखा हजमै बमता हरि करी ।
 काबु भोषु अहंकार निवारि गुरु के सबरि मुक्तमस परी ।
 बिषा मोषी मरिपूरि रहिवा मानक तार एक हरी ।
 माया माहिः काबी नाई परखे गुरु की बाउ खरी ।

प्रिय-मिसन के पक्ष पर मनोविकारों के अस्त के सिधे रखा गया प्रथम-धरण ही 'गुरु की आत्मिकता' की ओर संकेत कर रहा है। यद्यपि ऐसा प्रतिभाषित होता है कि गुरु की प्राप्ति के बिना कोई भीष मिलन-पक्ष का अनुगामी नहीं बन सकता। (पीछे इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है) अतः किसी सन्धे गुरु की खोज आवश्यकता ही है वह सचेतना से पूर्व की जाय या बाद में परन्तु मान का ठीक निर्धारण उसके अभाव में असम्भव प्राय है।

(स) गुरु की सहायता ज्ञान-प्राप्ति एवं सत्य की जानकारी—यह जानते हुए कि गुरु की सहायता के बिना भीष प्रमु-मिलन के पावन उद्देश्य में कमी सफल नहीं हो सकता चरित्रिता के साथ ध्यान मानव-कृतस्य हो जाता है कि वह सन्धे और अनुभवही महापुरुष को पहचानने खोज और उसका सामन साम है। गुरु नामक ने संत मत के इस विश्वास पर पर्याप्त बल दिया है—

पुरि मिलिये असमु पछापीये कहु नामक मोखु दुआर।

५ २ मारु अष्टपही पृ० १०१०।

तथा—

गुरमति खोजि लहुतु पर अपना बहुदि न परम मझार है।

४ १० मारु पृ० १०१०।

यहाँ प्रश्न उठता है कि गुरु खोज लेने मान से ही क्या भीष और ब्रह्म का मिलाप हो जाता है? नहीं तब भी यह एक महत्वपूर्ण है। गुरु अपने में एक ऐसी ज्योति है जो माया के स्थूल आवरणों में भी सत्य की जानकारी करवा सकती है। उसके संपर्कों से सद्ज्ञान की प्राप्ति होती है, यथार्थता भीष के सम्मुख स्पष्ट हो जाती है। गुरु की सहायता से भीष अपने और ईश्वर के भीष की खाई को पहचानता है तथा गुरु-निर्बलित मार्ग पर अग्रसर हो उक्त पहलुओं को पाटने के सत्कर्म करता है। उसके प्रकाश में रंजन में निरंजन को देखता है। प्रमु-आशन का मुष्वांजन करने लगता है तथा परमात्मा का धुम-मान करता हुआ भय भ्रम एवं धम्म-भरण के दुकों से मुक्त हो जाता है।^१ बर्हान्य के लिए गुरु-प्रबोधन की अनिवार्य ठहरते हुए गुरु नामक ने ओर ईकर कहा है "ततगुरु साचा मन बसै, साजन उत ही काई"^२।

१ सेवी सतिगुरु भाइ नाम निरंजना। गुरु बसै ठिबै रबाइ धरमु भज भजना। ३।
अनमत ही दुखु भाई भरणा जाइके। अनमु मरमु परवानु हरिगुन माइके।

४ ३ सूही ७३२।

२ गुरी घुमी मैं फिरी पाबठ कही न कोई।
पूछतु जाइ बिबाजिजा दुखु काटे वैरा कोई।
सतिगुरु साचा मनु बसै साजन उत ही काई।
नामक मनु तुपतासीये सिकरी मार्ये नाई।

अभिप्राय यह है कि जब तक गुरु की खोज कर ज्ञान प्राप्त न किया जाए, गुरु खोजी को हृदय में रख यथावता जो न पहचाना जाय तब तक सत्य सिद्धि असम्भव से भी परे की वस्तु बनी रहेगी।

(घ) नाम-स्मरण—कोई हम पाक-भाजन पर प्रबचन सुनाए, सुन्कर, सरस भोजन बनाने की विधियाँ बताये, तो क्या उन विधियों के अनुसार भोजन बनाने और खाने के बिना मृतक मान से ही हम जनका आस्वादन कर सकते हैं? कदापि नहीं। बातों से पेट नहीं भरता पेट भरने के लिये उक्त बातों को व्यावहारिक रूप देना होगा। ठीक इसी प्रकार गुरु को खोज लेना उसके उपदेश सुनना एवं उसकी सही बातों को निष्क्रिय भाव से मस्तिष्क के किसी कोने में छिपा रखने से भगवान नहीं मिस जाता। आवश्यकता है गुरु के उपदेशों को व्यावहारिकता प्रदान करने की तथा उसकी बतार्ह बातों पर अम्नास करने की। गुरुवाणी अम्नास के सिद्धांत को स्वीकार करनी है। निर्विवाद ढंग से कहा गया है कि जीव जब तक भगवद्भजन नहीं करता प्रभु का नाम-स्मरण नहीं अपनाता तब तक प्रभु से उसका मिलाप नहीं हो सकता। गुरु का कार्य है मार्ग सुझाना एवं नाम के स्वरूप का परिचय देना। इसके अन्ते के मार्ग पर योग्य परिश्रम प्राप्त-जीव को गुरु के प्रति आत्म-समर्पण कर स्वयं ढग-ढग बनना है। इतम सम्बन्ध स्थिरता अहिंसा और संमम की आवश्यकता है—और उसका महामंत्र है गुरु द्वारा बताया हुआ नाम-रहस्य तथा उसका अम्नास। गुरु मानक ने नाम को लय और अक्षर (मखर) भी कहा है और उसके स्मरण एवं रहस्य ज्ञान का महत्व प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

तिम साधक जोगी अब जंगम एक सिधु जिनी विमलभा ।

परतत वैर तिसत ते सुमभी मखर जिन कउ भाइभा ।

५ रामकमी म० १ पृ० ७७८ ।

यहाँ स्पष्ट हा जाता है कि गुरु मुक्ति का माय सुझाता है और जीव उसमें विद्वान बन कर प्रभु का स्मरण करता हुआ मन्-मिन्नु से पार हो जाता है—

हरि नाम जेति हिर पवहि न कूनी ।

गुरमति साह होर नाम बिहनी ।

रामकमी म० १ पृ० २३२ ।

नाम का जानकार ही तो उचित पथ प्रदर्शन कर सकता है दूसरा कोई नहीं। इसीलिये गुरुवाणी में नाम-स्मरण के विषे भी गुरु द्वारा सुझाव को अविनाय माना गया है। वह आध्यात्मिकता के इन पथ का सुझाता होता है और उसके सुझाव

वास्तविकता के सामने में सुस्थित ।^१ विशेष विचारणीय बात यह है कि बीच-बड़ा मिलन में एकामी कार्य सफलतावायी नहीं हो सकता । मात्र गुरु की प्राप्ति या केवल गुरु-बिहीन भक्त्युपासना दोनों ही अपने में अपूर्ण हैं । बीच की सफलता तभी सम्भव है जब उसे सच्चा गुरु मिल जाय वह उसमें विश्वास बनाकर आत्म-समर्पण कर दे और फिर उसके द्वारा शुभाये मार्ग का निष्ठ अनुगामी बने । तद्योपरान्त जब औचित्य की सीमा प्रभु बुधगान तक पहुँचे तो मिलन अविषाद होगा । गुरु मानक मिलते हैं 'प्रभु-मिलन के क्रम में सर्वप्रथम अचल-बुद्धि (मनोविकार) का त्याग करने से ही भ्रम और मय का नाश और तब से अनुरक्ति का उदय होता है । तब हरि रस का गुप्तान करने से बीच की मुर्गो-मुर्गो की व्यापारिक कृपणा शान्त हो जाती है ।^२ परन्तु यह सब कब सम्भव होता है ? उत्तर में कहते हैं 'जब कोई सतिगुरु बीच पर अति क्या कर उसे उपदेशामृत प्रदान करता है चाचार्य उसकी पुकार सुन कर कृपा-निदान प्रभु का बरह हस्त उस पर उठता है और उसका मन परमात्मा के रंग में रंगा जाता है ।'^३

(घ) सेवा-भक्ति और भ्रष्टा—प्रभु-मिलन के पठम्य तक पहुँचने के लिये उक्त समपणात्मक मुर्गो की भी विशेष आवश्यकता है । हरिनाम-स्मरण जब तक उच्च कोटि का नहीं हो सकता जब तक कि उसमें भ्रष्टा और भक्ति की प्रवाह्य पुट न देयी जाय । 'भ्रष्टाचारं नश्वते फलम्' के कथन को चरितार्थ समझते हुये सेवामात्री श्रुत-हृदय में परम-सत्य के निवास की बात सम्भवतः गुरु मानक ने इसी निश्चित दृष्टिकोण से कही होगी ।^४ और वही आधार होता उनके द्वारा अपने मन को आवेक्षित करने का 'ये मन तू सतपुरुष में अवच्छिन्न निश्चान रखना कहीं थोटा न या बँटना (विमुक्त न होना) । उसी के पुन बाते हुए तुम्हें उसमें मीन होना है ।'^५

१ इस स्पष्टीकरण का उद्देश्य उन भ्रष्टामुर्गो की संका समाधान करना है जो प्रभु नाम का गान करने के लिये मध्यम रूप में गुरु को अनावश्यक समझते हैं । सत सिद्धान्तों में गुरु केवल मध्यम ही नहीं वह स्वयं ब्रह्म है (पीछे बताया जा चुका है) परन्तु एक विशेष दृष्टिकोण लिये वह पद-प्रवर्धक बनकर अवतरित हुआ है ताकि भटके हुये बीरों को बाध मिल सके ।

२ अचल मति विभागी मन्त्र मंत्रनु पाइया एक अक्षरि सिव जायी ।
हरि रसु जासि कृपा निवारी हरि मैलि सये ब्रह्मात्री ।
अमरत सिधि भए सुमर सर गुरुमति छाबु निहासा ।
मन् रति गति रते निहकैवल आदि बुमदि परासास ।

३ २, चारंग अष्टपदी पृ० १२१२ ३३ ।

४ मूर्ख भाँडे छाबु समाई बिरसें सूबा जायी ।

सत कब परमलतु मिसाइया मानक सरधि तुमारी ३ ६ सोरठ, पृ० ३६७ ।

पर ३ ६ पाग तुबारी पृ० १११३ ।

(क) लौकिक-वासनाओं और मनमुक्क कर्मों का त्याग—प्रभु कृपा के लिये लौकिक-वासनाओं का त्याग करना ही है। ये सब चीजें प्रकृत्याधीन किसी न किसी मैनविक परिधाम द्वारा अनुचित होती हैं। तथा फल मोक्ष के लिये मनुष्य को आकाशमन के बन्धन में पड़ा रह कर संतुष्ट (हरि मित्र) हो देना पड़ता है।

जीव की कर्म-सीमा गुण-मत्तानुसार हो जानी चाहिए, ताकि वह निष्काम-चित्त में रह कर कर्म-बन्धन में फँसने से बचा रहे। ऐसा होने से कर्म-फल प्राप्त का प्रयत्न उपाय हो जाएगा और जीव को सौकर-व्यय-मरण के चक्रवर्त में नहीं आना पड़ेगा।

(ख) उपसर्ग—ईश्वर कृपा से—जीव और कृपा के मिश्रण में जिन उपसर्ग काव्यमकताओं की अपेक्षा दर्शायी गई है वे क्योंकर प्राप्त हों? उत्तर में गुरु नामक पुनः विश्राम का माध्यम लेकर 'ईश्वर कृपा' की ओर संकेत करते हैं। उनके मतानुसार जब तक जीव के गुण कर्मों पर प्रयत्न हो स्वयं संतुष्ट अपने बरत-हस्त की छाया न करे, न पुनः प्राप्त हो सकेता है न जीव नाम-स्वरूप का सामर्थ्य पाता है और ना ही उसमें यज्ञ-भक्ति सहीसे समर्पण-आत्मिक गुण उत्पन्न होते हैं। अतः संसार में जाने वाले प्रत्येक जीव का सर्व-प्रयत्न कठम्य अपने में सात्त्विक गुणों की वृद्धि होना चाहिए, ताकि वह शिव तत्त्व के योग्य स्वयं समर्पण की कृपा-दृष्टि का सहक-भाव बन सके।

(घ) जीवन-मुक्ति एवं जीवित करना—विज्ञान के सोपान की कड़ियाँ गिनता हुआ जीव उपर्युक्त प्रत्येक स्थिति से होकर अन्ततः जीवन-मुक्ति तक पहुँचता है। श्री गुरु ब्रह्मसंहिता 'सुखमयी' में जीवन-मुक्ति का स्वरूप दर्शाते हुए लिखते हैं 'प्रभु की आशिषा आत्म-हितार्थ, जीवन-मुक्ति सौत्र कह्यार्थ।' उसके लिए ह्य-भोग-आनन्द-विषय स्वयं-मिष्टी विषय या अमृत-मात-अपमान सब बचकर हैं। जिसके अन्तर में प्रभु स्वयं निवसित रहता है वह जीवन-मुक्त है वह तो "माय-मुक्त-मुक्त कर संसार, मानक तित्त बन कर सब नमस्कार।" गुरु नामक न तो दोष-दूक निर्णय देते हुये माक-अप्ययी में लिखा है—

जीवन-मुक्त तु आशीष-जिन्नु-विबन्धु-हजम-आइ।

जबान्-पुरस्कार-अद्वय-विज्ञान-एवं-मक्ति-से-सुसंज्ञित-तथा-सात्त्विक-गुणों-से-अमंजित-हो-जब-जब-रदाय-वा-त्याग-करता-है, तो-जीवन-मुक्त-बहु-भावा-है। वह-जीवित-ही-मरना-ही-सक-सकता-है। उसके-लिये-गुरु-अनु-न-का-प्रस्तुत-पर-परिचाय-हस्ता-है—

आह-वह-प्रभु-अपना-विभाइये, गुरु-प्रसारी-मउ-तरीये।

आप-विज्ञान-होइये-समरेखा, जीवित-जीव-दउ-मरीये।

(ब) नीलता—इस मार्ग की अन्तिम संवित्त बीज का ब्रह्म में लीन हो जाना है। क्रमिक प्रवृत्ति करते हुए वह अपने कुछ मन से कुछ की खोज करता है। प्राप्ति के उपरान्त उसमें अबाध विश्वास से बीज छायी जाज्ञानुसार नाम स्मरण करता हुआ ईश्वरीय-रूपा का भाजन बनता है। तभी भक्ति का उदय होता है और अपनी लौकिक-इच्छाओं तथा अनादिकर्मों का त्याग कर बीज अपने प्रत्येक कर्म का हेतु वही 'एक' को मानने लगता है। प्रस्तुत भावना "निष्काम कर्म" का आकार बनती है और उसका वैश्याता मुलता जसता करना आदि सब भौतिक-हेतु स हटकर परामीतिन तक पहुँच जाता है। वह बीजित-मरणावस्था को पा जाता है और ईश्वरीय-आज्ञा को पहचान कर अपने स्वामी में ही लीन हो जाता है। यथा नुरु अयक कहते हैं—

अज्ञी बासहुँ वैखना बिनु कनं मुलना
 पैरा बासहुँ जलना बिनु हर्षा करणा ।
 बीरै बासहुँ बोलना इउ बीहित परना,
 मानक हुकमु पद्दानि के लउ जलमें मिलना ।

श्लोक चार-भास पृ० १३१ ।

४

जीवात्मा

आत्म महि रामु राम महि आत्मु चीनसि गुर बीषारा ।
अमृत बायो सबरि पक्षामी कुच फाई हडमारा ।
(१ १ भंरउ)

मानव का वैज्ञानिक युग स्वीकार करता है कि मनुष्य जो सर्वोच्च-सम्राट कहा जा सकता है, एक दीर्घ विकास का परिणाम है। प्रस्तुत विकास के अन्तर्गत आवश्यकता आधिष्कार की बननी है जो चतुर्मुख करते हुए, पत्थर-युग से लेकर अब तक उच्च-विचार शक्ति, अनेक अनुसूतियाँ उपकरण जुटाने का साहस आदि कई सुविधाँ मानव-जाति की शृंगार बनीं। कुछेक विचारकों ने इस सम्पूर्ण विकास को स्पन्दन का परिणाम माना और यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मानवीय चेतना की उत्पत्ति भी उक्त आरम्भिक स्पन्दन से ही सम्भव हो सकी है। (यहाँ भारतीय विचारधारा का तीव्र विरोध है)। ऐसा ही क्यों न हो? परन्तु यह मानने में कभी किसी को आपत्ति न होगी कि चेतना की जिस पूर्णता तक मनुष्य ने विकास प्राप्त किया है, और कोई प्राणी नहीं कर पाया। साधारणतः प्राणियों के चेतन प्रतीकों में अनुसूति और बुद्धि का समावेश जिस स्तर पर मनुष्यों में हुआ है, और किसी में नहीं। इसलिए मनुष्य को सर्वोच्च प्राणी स्वीकार किया जाता है।

जीव क्या है ?

जब मनुष्य के स्वरूप का प्रश्न उठता है। भारत की लगभग सभी दार्शनिक-विचारधाराएँ मनुष्य में पदार्थ तथा चेतना का समन्वय स्वीकार करती हैं। शरीर पदार्थ है उसकी उत्पत्ति कुछ प्राकृतिक-नियमों में सम्बद्ध पदार्थ से ही होती है। धीरे धीरे रज के मेल से शरीर ही शरीर उपजाता है। अर्थात् पचास बाह्य प्रकृति की उत्पत्ति है, जबकि चेतना परम-चेतना ब्रह्म का अंग। भीमद्भुगवद्गीता में सर अरुण तथा पुरुषोत्तम जिन तीन प्राकृतिक-तत्त्वों का वर्णन उपलब्ध है, उसमें अरुण तत्त्व (अविनाशी) को ही जीव या ब्रह्म की परा-प्रकृति कहा जाता है। (गीता ७-१) शरीर की समूची-चेतना यही है—यह जगत् को चारण करता है, भगवान का अंक (गीता १३-७) है और यही भगवान् की वह प्रकृति है जो मरने पर एक शरीर को छोड़ दूसरे में प्रवेश करती और विषय-भोग का आधार बनती है। अंगीसी सम्बन्ध होते हुए भी भगवान् से इसकी मिश्रता का कारण दर्शाते हुए संकराचार्य ने शीता तत्त्व (१३-७) में बताया है कि अविद्या के कारण जीव भगवान् से मिश्र होत पड़ता है और भगवान् के सभी गुणों की उपलक्ष्य उसमें सम्भव होने पर भी अविद्या ही के कारण जीवित-रूपा में इन गुणों की अभिव्यक्ति जीव में नहीं होती। अभिप्राय यह

कि जीव प्रभु का बंध है परन्तु भविष्य क सम्बन्ध में अपनी ज्योति को सांकर मणि रक्षित सप नी मार्ग बटक रहा है ।

क्योंकि महात्मा बुद्ध आत्मा परमात्मा तथा उनसे सम्बन्धों पर सील रहे हैं इसलिये शौद्ध-विचारधारा को भारतीयों ने नास्तिक माना है । तो भी महायान सम्प्रदाय के योगाचारी या विज्ञानवादियों ने आसयविज्ञान के तथापत कर्म या 'चित्त' में चित्त विक्षेपताओं को समाहित किया है वे जीव की चेतना तथा सत्ता की ओ पूर्ण संकेत करती हैं । 'चित्त' की ही प्रवृत्ति और मुक्ति की कल्पना आत्मविज्ञान क व्यावहारिक बीजारमा की कोटि में पहुँचा देती है ।

सांख्य-मतानुसार त्रिबुजासीत और निर्मित 'ज' का ब्रह्म रूप ही जीवात्मा है जो परोक्ष है । 'ज' स्वयं भी परोक्ष है । 'ज' के समस्त कर्म जीवात्मा में उपसम्भ है परन्तु गुणों के तन्तु-आस मं ब्रह्म होने के कारण उसमें जनेकत्व के साव-साव सांसारिक वृत्तियों एवं विषय-वासनाओं आदि का जन्म होता है । इन्हीं प्रवृत्तियों से बचना तब निष्काम-भाव से कार्य रत रहना ही गीता का मुक्तिमन्त्र है ।

सांकर ने अद्वैतवाद में ज्ञानमय कोष^१ से चिरे परम चेतन को जीव कहा है यही जीव भोक से परलोक जाता है । ध्यान रहे यह जाना-आना उस परम चेतन क विक्षेपता नहीं वह तो स्थिर है । अत नास्तिक में चेतन्य के प्रतिबिम्ब को पाक विज्ञानमय-कोष^२ में किया उपसभ होती है । इसी से हमें ज्ञान-ज्ञान का भ्रम होत है । यह जीव कर्ता-भोक्ता मुषी-मुषी होता है । यही इस मसार में रहकर भोग करता है—यह जन्म-मरण में पड़ता है ब्रह्म है, अत मुक्ति की अपेक्षा रखता है दूसरे मर्थों में भविष्य या अज्ञान से बाधन ब्रह्म को जीव कहते हैं । मेराभैर्भास्कराचार्य का मत भी यही स्वीकार करता है कि अज्ञान और कर्म के कारण ही जीव जन्म में पड़ता है और जब तक उसकी संसाररूपसा रहती है वह जीव रहत है मुक्ति की रक्षा में तो वह परमात्मा में सील हो जाता है ।

रामानुजानुसार चित्त-रत्न ही जीवात्मा है, जो देह इन्द्रियों मन प्राणादि से मिल है । यह ज्ञान का सामय है, ईश्वर उसका नियामक है, तथा वह ईश्वर क अन्वभूत भी है ।

मध्यकास में बुद्ध मानक के सम्मुख भी 'जीव क्या है ? का प्रश्न आया । परन्तु वे महारमा तर्कों और आस्नार्च में न पड़कर प्रत्येक दार्शनिक-उत्तर का व्यावहारिक

१ अन्त करण के निम्न अंशों मन बुद्धि चित्त और अहंकार की वृत्तियाँ प्रकाश स्वल्प हैं जिन उनकी उत्पत्ति सांख्यिक अंश से मानी जाती है । इनके उत्पन्न होने के बाद बुद्धि और पांच ज्ञानेन्द्रियों के सम्मिलन से कोष के समान एक कार्य-वस्तु तर्पण में पैदा होती है । उसे विज्ञानमय कोष कहते हैं ।

रूप देखना श्रेयस्कर समझते थे। अतः उन्होंने अपने पूर्वजामी विचारकों के मतों को समन्वित किया और तत्कालीन परिस्थितियों के सन्धि में बाधकर उद्ये तथा रूप दे दाला। ब्रह्मसूत्रियों के अनुसार गुरु मानव ने जीवात्मा को भवबाध का अंग स्वीकार किया और मकर की तरह आत्मा और परमात्मा में अन्तर्भाव माना। बाह्यी भेद का मुख्य कारण उन्होंने भी अविद्या और अज्ञान को ठहराया। पुनः सांख्यमतानुसार विपुल बन्धनों के कारण जीव में सामारिक-प्रवृत्तियों और निपय-विकारों का अन्तर्भाव एवं भेषाभरी नास्कराचार्य की तरह कुछ-जीव की परमात्मा में भीतत्रा स्वीकार की गई। इन सबको संश्लिष्टता की कोटि से बाहर व्यावहारिकता प्रदान करने के लिए गुरु मानव ने जीवात्मा का विमुक्त सत् चित् और आनन्द ब्रह्म का अंग स्वीकार कर कर्मबाध की कल्पना के अन्तर्गत अज्ञान का अभाव घोषित किया। यदि जीव इस अभावमुक्त अंग को भी प्राप्ति कर ले तो वह ब्रह्म में अपना अन्तर्भाव देखने की योग्यता पा जाएगा। आनन्द की प्राप्ति का एक मात्र साधन है, सत्कर्म और सत्स्विक्रमा। यदि जीव भोग-कार्यों की ओर प्रवृत्त हो बुराई और दुःखों का त्याग कर अपने कर्मभार को अन्तर्गत सत् तथा चित् में अपने व्यवहार को केन्द्रित करे, तो सृष्ट आनन्द भी प्रकट हो जाएगा और वह मायजामी जीव कर्मों के पङ्क से मुक्त हो अविद्या या अज्ञान के अन्तर्गत में स्वयं एक ज्योति बन जाएगा। उसकी यह स्थिति जीवन्-मुक्ति कहलाएगी। ऐसा जीव कर्मव्यवहाररहित या कर्मवृत्तबाध के रूप में जीवन् का ह्यधिकोच बरस लेगा और प्रभु-भजन में लक्ष्मीन रहता हुआ मृत्यु पश्चात् जन्म-मरण में मुक्त हो जाएगा।

स्पष्टीकरण हेतु कहा जा सकता है कि मनुष्य के अन्दर की प्राण-ऊर्जा का चेतना पराधीनिक स्वरूप की वस्तु है जो उस प्रभु की ओर से प्रदान की गई है। वह सत्ता की ज्योति (परम-ज्योति या ब्रह्म) का कृपण मात्र है जिसके योग्य प्रकाश और अपेक्षित उज्वला में शरीर अतिनील और चेतन बनता एवं संसार में आकर जीवित प्राणी कहलाने की क्षमता पाता है। तीसरी पाठभाही गुरु अमरदास जी ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

ऐ शरीरा मैरिजा, हरि तुम महि भोति रबी ।

ता तु अप महि जाइभा ।

रामकृष्ण मनुषु वसोक ३३ पृ० ८२१ ।

अर्थात् आत्मा या जीव शरीर नहीं वह परम-ज्योति का अंग है और जैसा कि विद्येने अन्वय में बताया जा चुका है कि वह ज्योति चिर-प्रकाशित है-आत्म की सीमाओं से बाहर एवं अपरिचरनीय है। अतः अंग जीव भी अविनाशी है। शरीर को हीन करने के लिए वह ज्योति प्रभु की ओर से रखी गई है अतः शरीर के अन्तर्गत होने पर ही वह अन्तर्गत है और जिस अन्तर्गत में वह अन्तर्गत

इधर-उधर फैसते भीर अन्तत उसी में समा जाते हैं वह ज्योति-अंध भी शरीर के माघ होने पर परम-ज्योति में विलीन हो जाता है।^१ मान यह है कि भीर मनस्वर है तो शरीर नाशवान्। बुद्ध अर्जुन लिखते हैं

(क) मरणह्राव इह भीमरा नाही।^२

(ख) ठंडी लती मिट्टी छाही। उह न बासा बूबा भाई।^३

गुरु नानक ने भी ऐसे ही विचार को व्यक्त करते हुए लिखा है कि बीबलमा बीतरामी की भाई प्राकृतिक-बन्धनों से मुक्त है वह मरता-बन्धता नहीं। वह प्रभु का मंत्र होने के नाते केवल उसी की आज्ञा में कर्मशील है।^४

साधुनिक मनोविज्ञान की भौतिक-अनुभूतियों से इतर अन्य सब प्रकार की विचारों का निर्णायक आरामा बीब या शरीर की प्राण-ऊर्जा अथवा आन्तरिक शक्ति है। 'शरीर में बैठना तथा निर्णय करने का मुझ नहीं वह आरामा की बात है। प्रकृत उठता है आत्मा क्या है? कई विचारकों का कहना है कि आत्मा ही बड़ा है। परन्तु बुद्धमत इसके विपरीत है। गुरु नानक मठानुसार बीबलमा जिस बला में है बड़ा नहीं। इसे निरंकार ने अपनी ज्योति से उत्पन्न किया है अतः यह उसका रूप ही सफ़्टी है। उत्पन्न-अभेद होने के नाते आत्मा निरंकार से भिन्न सफ़्टी है परन्तु प्रभु पूर्ण है तो बीब अपूर्ण अस्तु निरंकार में बीब होने पर भी परम परम ही रहेगा जबकि आत्मा का अस्तित्व उसमें विलीन हो चुका होया।^५ तभी गुरु नानक ने लिखा भी है—

तू पूरा हम ऊरे होधि तू गबरा हम हउरे।

२ ३, सोरठ, म० १ वृ० २२७।

बीब परमात्मा की अंक होता हुआ भी परमात्मा से भिन्न है। उसकी शक्तियाँ सीमित हैं वह विपुल चेतनता नहीं रह गया भौतिक शरीर में निवास करने से उसकी बहुत सी व्यस्तता परापूर्व-क्रियाओं की ओर प्रकृत हो चुकी है। भाई साहिब जोरसिंह जी का कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य की वर्तमान भौतिक-उत्पत्ति निरर्ण नियमों को समझ लेने में निश्चित है ठीक उसी तरह उसकी आध्यात्मिक-उत्पत्ति

१ तुझते उपजहि तुझ माहि समावहि। १६ २ १४ मारु लोसहे, पृ० १०३३।

२ पठई बहारपी पद ३ ४३ ११२ म० ३ वृ० १५८।

३ बासा पद १ ३३ म० ५, वृ० ३७५।

४ उह वैद्यनी मरै न जाह। हुकमे बाधा कार कमाह। ४ ३१ ५२ बासा।

५ मूकमत-निर्णय—भाई जोरसिंह जी। पृ० ४१।

भिरकारी-नियमों और आसामों पर आचरण करने से हो सम्भव है। वे नियम पूर्व-स्थित हैं, जीव में ऐसी कोई शक्ति नहीं कि वह नए नियम बना सके या पूर्व-नियमों को बदल सके।^१ मुद्द अर्जुनदेव सिद्धते हैं—

बिन्दु बिन्दु तावद्दु तित्तु तगद्दि हरिनाथ ।
नामक इनके कसु न ह्याप ।^२

छिद्र भी इसमें कोई सम्बन्ध नहीं कि जो सामान्य प्रभु की ओर से जीव को प्रदान किया गया है उसके प्रयोग में जीव को बहुत कुछ स्वतन्त्रता है। परमात्मा (Supreme Will) का बंधन नहीं भी रहता है। मुद्द नामक करमाते हैं कि प्रभु का बनाया वह जीव किसी विषय अवस्था में पहुँच कर भी स्वयं के अहं-भाव से कुछ नहीं कर सकता। सामर्थ्य शक्ति-श्रोत का अर्थ है, (दान बाधा की वस्तु है) जिस चाहे, उसे दे, कीते (बनाए हुए या जीव क) क कहने से कुछ बनता-बिगाड़ता नहीं।^३ पुन कहते हैं—

सर्वत्र जीवा तिरि लेखु पराद्दु, बिन्दु लेखं नहों कोई जीव ।
आवि अनेखु सुखरति करि देखै हुकमि बसाए सोई जीव ।^४

सार यह कि जीव शरीर के भीतर बह्य-शक्ति का अंश है परन्तु अपनी प्राप्त-शक्तियों में स्वतन्त्र होते हुए भी वह बद्ध नहीं। उत्प-जमेद के कारण उसमें परम-मीनता की विविधता विद्यमान है किन्तु प्रभु की निजी विशेषताओं को ग्रहण करने का सामर्थ्य उसमें नहीं। वह शरीर की प्राण ऊर्जा है। उसकी क्रियाएँ, इच्छाएँ या प्रवृत्तियाँ सब ईश्वर की परमात्मा के अधीन हैं। जब तक वह इतनी और कम तक में पड़ा रहता है तब तक एक शरीर के गण्ट होम पर क्या धारण करता रहता है निष्काम प्रवृत्ति होने पर वह मुक्ति का अधिकारी होता है अर्थात् परम-ज्योति में विलीन होने का सामर्थ्य पा जाता है।

१ जीव का ज वन-लक्ष्य—आत्मोपलब्धि सोनता

उपर्युक्त वक्तियों में लिखा जा चुका है कि आत्मा या जीव परम-सत्य ब्रह्म की

१ वही पृ० ४२-४३।

२ पद ८ १ बड़ई मुसमनी श्लोक प० ३, पृ० २०१।

३ कीता किहा करे पनि मानु। देवमहारे के हवि मानु।
आर्व देर न देई सोर। बीठ के कहिये किहा होर।

१ १ ३२ छिरी न० १ पृ० २५।

४ पद १ ११ मोरळ, प० १ पृ० १६८-६९।

ज्योति का अंत है। परन्तु मन बुद्धि एवं माया के स्वरूप पक्षों में आवरित होने के कारण वह अपनी यथार्थता को खो बैठता है। इसी कारण से उसके भीतर हृदय प्राप्त होती है जो परम-ज्ञान की सत्ता और चेतनता पर कुछ इस प्रकार छा जाती है कि जीव निजी सम्पत्ति को पर-बन समझ अपनी भौतिक-आवरणकृतियों में ही अपरिचित-सा खोया रहता है। आत्मज्ञान न होने के कारण जीव पुनः पुनः वेद भारण करता है। आवागमन-चक्र के अन्त की सम्भावना ही उसके जीवन-मार्ग का प्रमाण एवं ज्योति-ज्योति निजीनता की साक्षकता बनती है। गरमति-अनुसार अने शिव-मुक्ति हेतु मनुष्य-योनि ही सर्वोत्तम स्थिति है। बड़े ऊँचे साम्य एवं अच्छे कर्मों से इसकी उपलब्धि होती है।^१ यदि इस जन्म में भी लक्ष्य सिद्धि का प्रयास न किया गया तो पुनः जन्म-मरण के भ्रमण में पड़ना होगा। कुछ साहित्य फरमाते हैं कि चौरासी साक्ष योनियों के बाद प्रभु-रूपा से मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है। सचमुच यदि यहाँ थोड़ी सी श्रुति हाँ परी (सत्य की जपेसा की गई) तो पुनः आवागमन का दुःख सहना पड़ेगा।^२ इस जन्म के अन्य कर्म नाकारा और व्यर्थ हैं साक्षकता तो केवल साधु-संपत्ति एवं नाम-स्मरण की है।

यहाँ परापति मानुष वैदुरिभा । गोविन्द मिलन की इहू तैरी बरीमा ।^३
अबरी काज तैरे किते न काम । मितु ताप संपति भनु केवल नाम ।^४

अभिप्राय यह कि मनुष्य-देह न गोविन्द का अंत विद्यमान है। माया के चटकीलपन के कारण वह अपने को पुण्य-सत्ता अनुभव करन लगा है। जन्म-मरण के रूप में उसी का दण्ड भी मोक्ष रहा है। यदि वह अपने में ईश्वरत्व की खोज करन तो तद-अनन्द के कारण कुछ ही समय में वह अपनी आशिकता को परम-तत्त्व में लीन कर शिव-मुक्ति का अधिकारी बन सकता है। और फिर—

जिउ जस महि अनु भाइ खडाया । तिउ ज्योति संव ज्योति समाना ।
मिदि यए गजन पाए बिधाम ।^५

१ मायसु जग्मु मुरमुखी पाइभा । १ १ ३ सूरी म० १ पृ० ७११ ।

२ सख चउरासी ज्योनि सबारी साधस को प्रभु बीई बडिजाई ।
मनु पजड़ी ते जो मर चुई सा भाइ जाइ दुल पाइया ।

१ १ ३, माक मोसहे म० ३ पृ० १०७३ ।

३ पर १ २६, आसा म० ३, पृ० ३७८ ।

४ लिइकी है—नाचन है ।

५ पर ८ ११ गउड़ी मुजमती म० ५, पृ० २७८ ।

२ सक्षय-सिद्धि के साधन

आत्मोपमत्वि अथवा अपने को पहचानने के बाद नाम द्वारा बलि का निरकार में लयाकर उसी में लीन हो जाना जीव का अन्तिम लक्ष्य है। ऐसा कि बताया या चुका है जीव परब्रह्म का अंग है इसलिये आत्म ज्ञान ही बाप में बड़ा ज्ञान का रूप बन उसकी मुक्ति का कारण बन सकता है। प्रश्न उठता है प्रस्तुत ज्ञान या पहचान कर्मोत्तर प्राप्त की जाए ? उत्तर में वो दृक निर्णय नहीं किया जा सकता इसलिये एक समूचे विचार क्रम की अपेक्षा है।

(क) हठर्म का उन्मूलन—मनुष्य देह में निबसित जीव-सत्ता या चेतनता सामान्य ब्रह्म का अंग है। क्योंकि ब्रह्म अपरिवर्तनीय और अनन्तर है इसलिए जीवात्मा भी अनन्तर और स्थिर है। परन्तु हमारे जीवित होने का भाव हमारे अन्तर 'मैं' और मेरी की वृत्तियों का जन्म देता रहता है। बुद्धमत्त म उसे हठर्म याव कहकर पुकारा जाता है। हठर्म के आचरण ने जीव-सत्ता या चेतनता को बन्दी बना रखा है। यदि उसे बन्धन-मुक्त कर दिया जाए, तो ऐसा विश्वास किया जाता है कि हठर्म के कारण जीव और ब्रह्म में जिस पृथक्ता का अनुभव होता है वह न रहेगा। उदाहरणतः जल में रखा 'भरा हुआ बरत' भीतर और बाहर जल-तत्त्व अपनाए होता है। तो मी बातों अंशों के बीच बड़े की मिट्टी की तरह का आचरण रहता है जो उन्हें एक-दूसरे से पृथक् रखता है। यदि बड़ा टूट जाए तो जल-जल में समा जाएगा और अंशोंभी जाव की अपेक्षा वहाँ पूर्णता का साम्राज्य होगा।^१ ठीक इसी प्रकार हठर्म के आचरण में जो चेतना बन्ध है वह सर्वम्थापक चेतनता से इसलिए भिन्न है कि उन दोनों में पर्व पड़ा है और यदि वह पर्व (हठर्म) हट जाए, तो स्वयंमय समान तत्त्व परस्पर एक हो जायेंगे। बन्दी-तत्त्व अपनी विजासता और महत्ता को पहचान सेवा। ईश्वरत्व के पथ पर बढ़ने के लिए हठर्म का अपनत्व का वहाँ तक कि निजी भाव का भी पीर उदारता आवश्यक है। सबपुत्र यदि मनुष्य अपने को सूर्य और उसको सर्वस्व मानकर अहंपर हो तो उसकी अपनापे की पीड़ा की आन्ति के साथ-साथ उस वह विचार-शक्ति भी भिन्न सकेपी जो उसे आत्मज्ञान की अवस्था निधि से समृद्ध कर सके। गुरु मानक परमाणु है—

अथ नाथी तत्र शुषुद्रु केसा मनुकी पौड़ि निजारी।

मानक माने भावि पछार्थं गुरुपुत्रि ततु जीवारी।^१

१ जैसे कृम उदक पूरि आगिओ तत्र उहु मित्र हुसटो।

कहु मानक कृमु अर्थ महि डारिओ अंभ अंभि मिओ।

४ ३, चारंग व० ३, पृ० १२०१।

२ १४४ ४ राव तुपाठी पृ० १११२।

(घ) नाम-स्मरण—हृदय का उन्मूलन तथा पूर्णता की प्राप्ति का उच्च और सरल-मार्ग है—नाम-स्मरण। प्रभु-नाम के मनमें बासा व्यक्ति अपने अन्तर की हृदय को त्यागकर आध्यात्मिक-सत्य के पथ का राही बनता है। उसका चिर-मसिन् मन हरि-नाम की आभा से रीप्य हो उठता है मुह हो जाता है।^१ इतना ही नहीं नाम अपने बासा प्राणी धीरे-धीरे अपने दृष्ट का ही रूप धारण कर लेता है। यह साहित्य परमाते है—

बिगुहा न बिसरै नामु से कियेहिबा ।

भेद न जानहु मुनि तार्ई जेहिबा ।

१ ६ १०८ आता म० २, पृ० ३६७।

कहना न होमा कि 'नाम' मानव-मन की चञ्चलता को बाँध कर उसके अन्तर परम शक्ति के प्रति ऐसा विश्वास उत्पन्न करता है कि मनुष्य की हृदय-वृत्ति का नैसर्गिक ह्रास होने लगता है। मन की पूर्ण विमुक्तता एवं उक्त विश्वास समन्वित रूप में प्रारब्ध का अन्त कर क्रियमान को निष्काम रूप देने में सार्थक होते हैं। अमिप्राय यह कि कर्माभिसेस बुझता होकर बीचारमा के बोधि भ्रमण से मुक्त होने का कारण बनता है। यह नामक का कर्म है—

हरि नाम जेति छिदि पबहि न कुरी ।

पूरमति साब होर नाम बिहूनी ।

२० रामकवी वक्तवी पृ० ६३२।

भाये परमाते है कि मनुष्य यदि ईश्वर से प्यार करे तो वह हृदय के फंदे से बचकर प्रभु की गोद में चिर सुखी हो सकता है। ५ सम्मति देते हैं कि सर्वत्र हरि चर्चा करो उससे अमित प्यार उभरता उसका स्मरण-ध्यान करो और उसी का आश्रय लेकर अपने परम-सहय मीलता का आनन्द-नाम करो।^२

ध्यान रहे, यदि हृदय का नाश कर मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर ले तो उसका

१ जि प्रभु साताहे वापया सा सोमा पाए । हृदयं बिबहु हरि करि सनु मनु बसाए ।

× × ×

मन मसा इव मुहु है हरि नाम बिभाए । १७ नुही सलोक म० १ पृ० ७६१ ।

२ नामक पुरमुखि पाएँ हरि मित्र प्रीति विभाए ।

हरि बिनु किति मुहु पाइजा बेबहु मनि बीचार ।

हरि पढ़ना हरि बुझना हरि मित्र रखहु विचार ।

हरि जपीये, हरि बिबाएँ, हरि का नाम जावाए ।

२१ रामकवी वक्तवी पृ० ६३७।

बड़ा भाव हुकम में बसने का 'अम्मास' होता है। वह सब बातें उसके हुकम की परिसीमाओं में छाड़ कर निश्चिन्तता अनुभव करता है, और बहिर्मुखी कृतिओं को ज्यों ज्यों मन्तव्यही करता बसता है, त्यों त्यों सत्यता स्वभात्मक होती रहती है।

जोहा सेबं तेही हीरं जे बर्म सित रवाह ।

मानक सम किछु जापि है भवब न हूजी जाह ।^१

(ग) शुद्ध-श्रवण — जीव है कि नाम-स्मरण से हृत्में का उन्मूलन और पूर्णता की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु नाम रहस्य बताने तथा उसकी ओर प्रेरित करने वाले का महत्त्व महत्तम है, और वह है मुख। सच्चे पुरुष का जन्माया जीव ही बाल्य में नाम-स्मरण का अधिकारी बनता है। मुख ही नाम की सत्ता से जीव का परिचय करवाता है। सटके हुए जीव को यथार्थ एवं सपक्षित माया दिखाता है, जिसे जीवात्मा अपने बाल्यविक्र-पर को पहचान कर जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पा जाती ।^२ हृत्में का अन्त करने के लिए नाम-स्मरण से भी पूर्व चित्त-शुद्धि एवं मात्त्विक-गुणों की समिवृद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इसका एक-मात्र माध्यम साधु-संपत्ति है। शरीर के स्पर्श पित्रर में रहने वाले इन जीवात्मा-कीर को प्रभु प्रेम की टैर, सत्यता के प्रति आकषण एवं विपुलता के प्रति सौहार्द बनाए रखने की अपेक्षा है। सरगुरु की संपत्ति या यही पुण्य-श्रवण है, केवल तभी जीवात्मा अपने विद्यामत्तम-स्रोत ब्रह्म को पहचान सकती है और मोक्ष की असुख-सम्पत्ति ग्रहण करने में समर्थ होती है। मुख मानक मिळते हैं—

सूहट पित्ररि प्रेम जे बोल बोलगहाह ।

सधु ज्यं अमृत पीये उड़े त एका बाह ।

गुरु मिलिऐ ललम बझानीऐ कहु नानक भोबु दुबाह ।

५ २, पारु अष्टपदी पृ० १०१० ।

बहा या बुधा है कि आत्मा परमात्मा का अंग है, किन्तु देहधारी होने पर अपनी बाल्यविक्रता को मूली मौलिकता में ही निमग्न हो गई है। जब कभी विरह के प्ररक उपकरणों से उसके भीतर विद्याया बसती है, तो वह अपने को पहचानने का अप्रयत्न करती है परन्तु पदार्थबाह के अंधकार में पुनः ओकर का जाला कोई अप्राकृतिक

१ पद १ ३ श्लोक म० ३ बार विद्यागहा म० ४ पृ० १४१ ।

२ उन नाम गुरुबानी बासह । मंड नामा महि दहु रनु टोसह ।
पुरुयति मोक्षि महहु बर अपना । बहहि न परम ममादा है ।

४ १० पारु पृ० १०३० ।

स्थिति नहीं। ऐसे में मत्तम्य की ओर निरन्तर अग्रसर होने के लिए उसे ऐसी ज्योति की आवश्यकता होती है जो सतत उसके मांस को प्रदीप्त किए रह सके। ज्योतिव ज्योति की प्राप्ति कितनी अनुमत्ती महात्मा अथवा सच्चे-मुख के माध्यम से ही सम्भव है। अस्तु कहने का अभिप्राय यह कि अपनी ही यथार्थता को जानने या अपने भीतर के ब्रह्म-रस को पहचानने हेतु मुख को फिर प्रदीप्त ज्ञान-ज्योति की आवश्यकता है। मांस रहस्य उससे स्वतः ही प्रकट हो जाता है। मुख मानक का कथन है—

मांसम महि रामु राम महि आतमु चीतसि गुर बीचारा।

अमृत बाणी सबरि पछानी बुस काटै हजमारा।

१ १ मंत्र अष्टपदी पृ० ११५३।

गुरबाणी में प्रायः स्नान-स्नान पर बाणी और नाम के मास मुख के उष्ण महारस को स्वीकार किया गया है। फरमाते हैं कि नाम-रहस्य की जानकारी से आरमो-पसम्भि हो सकती है परन्तु मुख-लक्ष्यों की अनुपस्थिति में उक्त रहस्य फलना ही बना रह जाता है। मुख-ज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञेय का नाश अपने आप हो जाता है और आत्मा-स्त्री गारी को प्रसु स्त्री पति प्राप्त होता है।^१ यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि विज्ञान की ओर 'गुरु में विश्वास' पर आधारित होनी चाहिए। कर्मकाण्ड में जैसे ही वह वास्तविकता से दूर हट जाएगा—कारण कि वह अस्तु की वस्तु है बाहर की नहीं। सच्चा मुख बीब को अन्त प्रेरणा से ही भीतरी-ज्ञान का सामर्थ्य प्रदान करता है, और बीब सत्य-सिद्धि पाकर सबै के लिए जन्म-मरण के दुखों से मुक्त हो जाता है। निश्चय ही—

बनु-बनु फिरती बूझती बसति रही घरि बारि।

सतिमुख मैली मिलि रही जनम-मरण बुझ निवारि।

१६, रामकृष्ण दसखणी म० १ पृ० ६१४।

सतिमुख की विशेषता ता यह है कि वह सब तक जीवात्मा का साथ देता है, जब तक वह परम-पिता सतगुरु की ओर में न पहुँच जाय। गुरु चाहिए तो गुरु की रक्षण प्रवृत्ति की तुलना माता-बालक सम्बन्ध से करते हैं। जिस प्रकार माता अपने बालक की रक्षा में सबकुछ धारण करती है, पर में इपर-उपर काम करते हुए

१ कड़ि बाणी हरि पाइआ मुख सबरी बीचारि।

आनु नइआ बुनु कर्मा हरि बर पाइआ गारि।

४० रामकृष्ण दसखणी म० १ पृ० ६१६ १७।

भी उसका ध्यान करने में रहता है ठीक वैसे ही गुरु जीव को पालना स्वास-व्वास पुनकार कर एवं दूर से भी ध्यान केन्द्रित किए रहकर करता है। यथा—

बिड बनगो धुनु अचि पामती राखँ मरि मसारि ।
 अंतरि बाहरि मुक्ति दे गिरासु बिनु बिनु पोषारि ।
 तित्त सतिगुरु गुरसिद्ध राखता हरि प्रीति विभारि ।

१ ७ ११ ११ राग मउड़ी बैरागणी म० ४, पृ० १६८ ।

(घ) ईश्वर-रूपा—भारमोपसम्भि क सत्य की प्राप्ति हेतु ईश्वरीय-रूपा का भी उच्च स्थान है। बिना प्रभु की दया क कोई जीव बिबुध-सिन्धु तिरने का एच्छित्त सत्य प्राप्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि गुरु मानक ने कर्म साधन एवं भय से भी ऊपर 'करम' को स्थान दिया है। बड़े-बड़े ज्ञानी योगी संन्यासी आदि आकाश मण्डलों के निम्न-स्तरों पर सक्त माउते रह जाते हैं जबकि बूसरी और किसी माधारण मक्त पर भी यदि उसको महत् दयाइछि पड़ गई तो वह उत्सुक मं प्रभु की गोद में पीड़ा करने लगा। गुरु मानक फरमात है—

माये मरि करे जा लौह । गुरुमुखि बिरता बुमे कोइ ।^१

सम्भवतः यही कारण है कि भारतीय-धर्म-शास्त्रना में भयबद्धजन को उच्च स्थान दिया जाता है। बिचारकों का मत है कि अपने को ईश्वर के आचारित करने वाले भयबद्धों पर उसकी रूपा भीम होती है और उसका प्रसार मिलता है ईश्वरक्य के रूप में। इमीसिये कम ज्ञान याव एवं भक्ति के अभावामपनों में भारतीय धर्म बलम्बी बक्ति मार्ग को सर्वश्रेष्ठ समझते रहे हैं उसके प्रति बिश्वास भवित करते हुए स्वयं पूरी तरह निश्चिन्त रहना सीकते रहे हैं। गुरु मानक भी इस मान्यता पते हैं।^२

पुन गुरु की प्राप्ति भी तो ईश्वर-रूपा स ही सम्भव है। किरपा करे जो आपनी ठा सतिगुरु मनि मिलावा का भाव कथन की पूछि करता है। अत्र कहना न हमना कि जीव के जीवन-सत्य की प्राप्ति में हृदय के अन्त के साय-साय नाम-स्मरण गुरु-प्रसाद एवं प्रभु-रूपा का समान महत्व है। जीव क सत्कार्यों से उस पर प्रभु का बरक-इस्त उठे तो उसे किसी सतिगुरु की प्राप्ति हो पुन गुरु उसे नाम-रहस्य समझा कर भयबद्धजन की आर प्ररित करे और जीव उसमें अदिग बिबवास बनाकर हृदय का स्थान करेके सब कहीं आत्मोपसम्भि का स्थान पुन हो पाता है। निरंकार की बि बिब-बहिमा है कि जीव को जो बह है वही बनने में इतना परिश्रम-अनेतिउ है।

१ पद ४ ७ रामकृष्ण म० १ पृ० ८७८ ।

२ अयम अपोचर अमक्त जनारा बिन्ता करहु हमारी ।

पद २-२, बिनाबल म० १, पृ० ७२२ ।

सत्य तो यह है कि बीबारमा का मनुष्य-योग में जन्म सेना ही उस पर प्रभु कृपा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यही एक ऐसी योगि है, जिसमें जेतनचम स्तर पर मया अनुभूति एवं सहिष्णुता विद्यमान है और इसीमें रहता हुआ जीव आत्म-ज्ञान की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच कर मोक्षोपान पर विस्थापित होता है। इसी जीवन में मुक्त-प्राप्ति एवं नाम-स्मरण की सम्भावना हो सकती है। यदि इसे भी बेकार हो दिया तो निश्चय ही बेह-भारण के चिन्कार है।^१ यहाँ भी यदि किसी महत् मन्त्र की प्राप्ति न हुई तो जीव की पूर्व-संकेतित पूर्णता के उस तक पहुँचने में न जाने फिर कितने युग लभ जाएँगे। पौराणी साधु जीवन का एक काट कर मनुष्य जन्म मिला अब यदि इसे भी बिना साधन और उपकरण खुटाए मिट्टि के मोस बना दिया जाए तो निश्चय ही एक बार फिर जन्म-मरण के चक्र में पिसना पड़ेगा। नाम-स्मरण एवं मुक्त-सोच की अनुपस्थिति में न तो जीव को पूर्णता मिल सकती है न उसके क्रियमान-कर्मों का गण हो सकता है और अन्ततः यही संबन्ध बन-बन कर एक मोस के लिए जीव के जन्म-मरण का कारण बनते रहते हैं। तभी गुप्त मानक कहते हैं—

जैसा करे मु तैसा पावै । जाति बीजि जाये ही जावै २ ।

सार यह कि नुरबानी तो यही मत प्रकट करती है कि जीव को सौभाग्यवत् मिले इस मनुष्य जीवन का पूरा लाभ उठाना और संसार-सागर से पार हो जाना चाहिए। यही उसका अर्थ है।

१ हरि नामु न सिमरीह साधु संधि तै तनि उडे बेहि ।

जिति कीटी तिषे न जाणई नानक छिटु अरुनी बेह ।

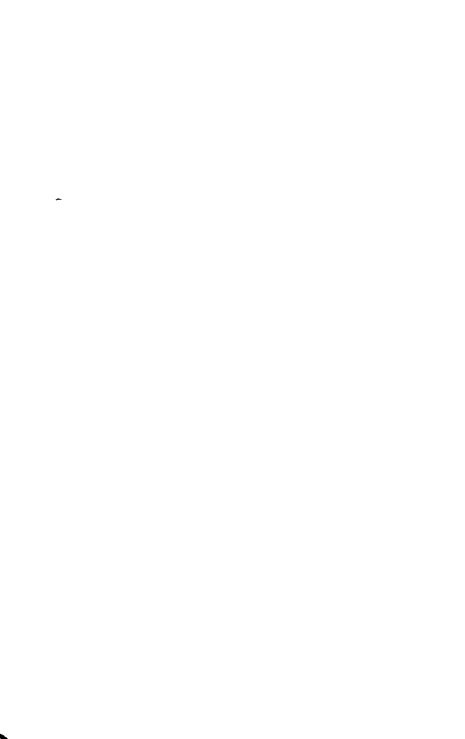
१ १४ श्लोक म० ३, बार विहापड़ा म० ४ पृ० ३२३ ।

२ पर ३ ४ ६ बनावरी म० १ पृ० ६६२ ।

५

माया

माइमा मोहि अणु बापा जमकालि ।
बापा पूरु मायु लमाकु ।
(२ ८ : ३ बापा)



माया मयजा नाम

रचना करने की इच्छा से अकाल की वह शक्ति अस्तित्व में आई जिसके द्वारा विश्व के मूलन पोषण और नाश की क्रमिक और सतत चार प्रवाहिन हो उठीं। इसकी यह शक्ति निम्न विचारवादाओं में अनेक मानों से पुकारा गई है और मुक्त मानक में इसकी रचना और क्रियाओं में विसमता तथा कुम्पिता देखकर ही इसे माया कहा है। कभी-कभी माया और काल को पर्यायवाची भी समझ लिया जाता है। परन्तु ऐसा नहीं है। काल माया के साधारण में विशेष राग्याधिकारी कहा जा सकता है जो माया रचित सृष्टि में संतुलन बनाए रखने के लिए बीजों को पुनराह करता है और कर्मचक्र में डालकर उनके पुनर्जन्म का प्रबन्ध करता है। इस प्रकार माया के गम में जीव कौन बीज को बनाए रखने का भोग (वही बीज जो माया को सतिगुण से मिला है अमृत की निरंतर चरना का कारण है) काल को ही दिया जा सकता है। इसी सीमाओं में प्राण अकाल हस्तजन नहीं करता। तो भी यदि कोई जीव इतना सत्तावाद् हो कि इसी सीमाओं में रहना हुआ मन को टहल सक तथा सतिगुण से नाम का बल लेकर उक्त सीमाओं से पार अकाल में प्रवेश करने पर अटिबद्ध हो तो सत्त्वगुण अपनी शक्ति को धीम होना देख काल और माया होवाने हो उठते हैं।^१ जब समय काय जीव का अनेक प्रकार से आर्त विग करता है। माया विभिन्न प्रसौमनों में उठे पुनः त्रिगुणात्मकता की ओर खींचती है। वह जीव की पटीला का समय होता है। अपने माय पर अधिक रहा तो विजयी हुआ विरक्त गया तो खींचती के बचकर में^२ सड़ने के लिए छोड़ दिया जायगा। जीव के बचन की एक ही मूल है। यदि वह समझ सके कि माया के प्रसौमनों का अस्तित्व अमरमुर और अम्पायी है तो वह इस आनममुरता का अनुमान कर इसमें बचने का प्रयास करेगा।

१ काल विनायु भये दीवाने मनु उच्चिया सुरि ठाये । १५, सूही म० १ पृ० ७६० ।

२ क काल विनायु नहे कहि बपुरे जीवत मुजा मनु मारी ।

१ रामचली म० १ पृ० १०५ ।

२ शास्त्राधारित खींचती काय मोनिनों में आवापमन ।

नासाधिकार की सीमाएँ बहुत विस्तृत हैं। सब उच्च भोक और महत्पूरियाँ बिनकी प्राप्ति के लिए भटके हुए धीब पुष्प बान कर्म-कर्म बाहिर करते हैं। काम की सीमाओं में हैं। इस कारण अस्थायी हैं। अपना अपना समय पूरा होने पर वे लुप्त हो जाते हैं।^१ पुरु साहिब ने फरमाया भी है—

इंद्रपुरी महि सरपर मरणा ब्रह्मपुरी तिहकसु नहीं रहणा ।
सिबपुरी का होइया कामा त्रैभुष माइजा बिलसि बिताला ॥^२

और भी—

बहुत भोक कर रह भोक भाई इंद्रलोक से भाई ।
साथि संगति कउ जोहि न साके मनि मनि बीने पाई ।^३

सब वैसी श्रेयता माया के बल में हैं।^४ उनकी शक्तियाँ और सीमाएँ भी बसिपर और कामिक हैं। संभवतः इसीलिए संत-मठ किसी वैसी श्रेयता की सबूरी पूजा-भारतना की अपेक्षा मानिष-ए-कुम उठिपुस्य को ही धरैव अपना सब बनाने रहा है। उसका विश्वास है कि गुह सेवा और नाम-स्मरण से हम कामिक सीमाओं को तोड़ सकते हैं। साथ ही साथ सांसारिक गुणों और काम के कर्म-बन्ध से ऊपर उठकर मुक्ति के भाग्य बन सकते हैं। निश्चा भी है—

काल न छोई विनु पुर की सेवा ।
२ ६ १४ गउड़ी म० १ पृ० २२७ ।

और भी—

सनु जग बयि काम की विनु पुर कालु भपाव ।
सबि रते से ऊबरे बुविपा छोड़ बिकार ।
पर २ ८ ४ सिरी म० १ पृ ३३ ।

तथा

माइया मोहि जगु बाबा समकालि । बाँपा छुई नामु समानु
२ ८ ३ बासा म १ पृ० ४१२ ।

१ पुरमति सिद्धान्त पृ० १३८ ।

२ पर २ ४ राग पउड़ी म० ३, पृ० २३७ ।

३ पर १ १३ २१ गउरी म० ६, पृ० ३०० ।

४ माइया मोहि वैसी सब वैसा । २ ६ १४ गउड़ी म० १ पृ० २२७ ।

आशय यह कि सत्पथ की पहचान किए बिना ज्ञान-ज्ञान से कोई नहीं छूटता। माया के मिस रूपों में फँसा हुआ जीव ज्ञान की सीमाओं को ही अपना वास्तविक धर समझने लगता है और भिन्न स्थितियों से मृत्यु प्राप्त कर बुद्धा योनियों में जन्म लेने का भविष्य ही होता है। माया के तीनों गुणों में मृत्यु के समय का प्रधान हुआ उसी के आधार पर नव जन्म की प्राप्ति ही जाती है। सत्त्वगुण प्रधानता में मृत्यु होने पर जीव स्वर्गादि लोकों (यह ज्ञान की सीमा में ही है) का आनन्द होता और पुनः उच्च ब्रह्म नामे मनुष्य के रूप में जन्म ग्रहण करता है। रजोगुण प्रधानता में मरने पर पुनः कर्मसिद्ध मनुष्य बनता है। तमोगुणी मृत्यु से नीचे पशु धादि मूढ़ योनियों में पैदा होता है।^१ ज्ञान के इस समस्त प्रसार से मनुष्य का बंधन त्रिगुणता से परे निर्णय ब्रह्म धरमाने में ही समझ है। अज्ञान जीव की स्थिति पदादि के मरकट की भाँति बनी रहती है। ज्ञान उसे जँसा नकाशा है ब्रह्मा ही वह नाशता है और नामी के कोरे ही भाँति जो ज्ञान की सुगंध से ब्रह्म निवृत्त होता है, जीव ही नामी म पड़े (ज्ञान ज्ञान में ही) छड़ना अपनी स्तुत्य स्थिति समझने लगता है।

ज्ञान मध्य का उपयुक्त अज्ञान के अतिरिक्त अन्य दो स्थानों पर दो अन्य अर्थों में भी प्रयोग होता है। मृत्यु और समय। जिसका ही ज्ञान ब्रह्म मायाही होने के कारण मृत्यु की प्रतीक है। इसकी सीमा प्रसार के अन्तर्गत जो भी माया या रक्षा उसका विनाश अज्ञानमायाही है। कहा जाता है "जो पड़ा सो पूटेगा" अर्थात् जिसने प्राकृतिक नियमों के बंधनों में आना स्वीकार किया है वह अनिश्चित उन नियमों के बिनाश में फट जाएगा। प्राणियों में नर और माया के संयोग से जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अटक है। केवल वही जीव जो स्वयं शरीर की उत्पत्ति के कारण रूप तीनों गुणों का उत्सर्जन करके जन्म ग्रहण वृद्धावस्था एवं सद्य प्रकार के दुर्घों से मुक्त हुआ इस ज्ञान सीमा से बाहर परमेश्वर की गोद में पहुँच कर परमानन्द को प्राप्त करता है^२।

ज्ञान समय का प्रतीक भी है। इसकी मूर्ति निश्चिन्त नियमों के बन्धन में बँधी हुई है। केवल सत्त्वगुण ही ज्ञान की सीमा के बाहर है। अज्ञान रूप सबस समय-विभाजन के भूत भविष्य या वर्तमान के किसी न किसी मोड़ान पर अपनी अस्थिरता का परिचय देता है। समय मध्य परिवर्तन का उद्भवस उदाहरण है

१ श्रीमद्भगवद्गीता अ० १४ श्लोक १४ १५।

२ श्लोक २० अध्याय १४ श्रीमद्भगवद्गीता।

दुष्पानेतातरीय मोदेही देह समुद्भवान्।

अथ मृत्युवरा दुर्धविमुक्तोऽमृतमश्नुते।

बीर कास की मृष्टि उसका व्यवहार क्षेत्र । कास की शक्ति ब्रह्मों ब्रह्माण्डों की रचना करती तथा विनाश का कारण बनती है । सबका नियम और समय में परिवर्तन का आधार बनाती है । चारों भुग कास के चक्र में है । उनमें वर्ष मास दिवस बड़ी पक्ष माप हों का विभाजन है । महाभारत में यज्ञ में युधिष्ठिर से प्रश्न किया 'वार्ता क्या है ?' युधिष्ठिर का उत्तर था 'महीर्षों और ऋतुओं की कड़खी बनाते हुए, सूर्य की अग्नि और ताप पर इस जगत् के मोहमय कड़ाहे में काल बीजों को पका रहा है । बस यही वार्ता है ।'^१ स्पष्ट ही समय के बंधनों में काम ने बीजों को ऐसा जकड़ रखा है कि वे 'अकाल' को जयमग भूम ही गए हैं । समय के परिवर्तन में ही भटके हुए बीज अपना विकास' समझ रहे हैं । यही कारण है कि विश्व का प्रत्येक अस्तित्व एक निश्चित समय के बाद अस्तित्व में प्रवेश कर जाता है । इनीलिए कहा है "सन्तु जगु कामे बसि है बाबा पूर्ये माह"^२ काल के पाठ बीजों को भरमाने के लिए विकास का ऐसा आकर्षण है कि सततपुन में मेधा एवं रबोगुण में लोभ धारण करने वाला बीज समय की बीड़ के घाब-घाब बीड़ना ही अपना मध्य समझ कर उस विकास' का भ्रामक नाम दे देता है । जब तक इन गुणों से परे सात्विकता के प्रेम और विकास सरीखे गुणों को अपनाकर बीज मृत्यु की खोज नहीं करता तब तक जन्म मरण की चक्की में पिघला और काल की सीमार्यों में बैठा झूठ पर पछाटा वर्तमान पर विचारता एवं भविष्य की चिन्ता करता हुआ इस असत्य में ही गठनाया रह जाता है । प्रभु हुना से बनि किसी मनुष्य की जरण मित मई तो मृत का संस्कार विधीर्षो हो वास्तविकता की फिरनों का प्रसारण होगा । तब कहीं बीज देहकाल और मृष्टि के खण भंगुर अस्थायी आकर्षणों से पार सत्-चित्-आत्म के रूप में जागे का सामर्थ्य पाएगा । वही बीज की सत्य सिद्धि होगी—

सन्तु जग बाजे काल को चित्तु गुण वान्तु अकार ।

माया का स्वरूप

भारतीय शास्त्रों में माया के विभिन्न स्वरूपों का बखत उपसङ्घ है । वेदान्त के अनेक भाष्यकारों ने उसे पुरा-पुरा दृष्टिकोणों से देखने का प्रयास किया है । संकराचार्य सरीखे महापंडित ने उसे ब्रह्म की शक्ति माना है । किन्तु वे इसे ब्रह्म का नित्य रूप नहीं मानते । यह ब्रह्म की एक ऐसी इच्छामात्र है जिसे चाहने पर परि-

१ महाभारत यज्ञ और युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तर, मुद्रित सिद्धांत के उद्धृत पृ० १३२ ।

२ पद १ ४ १६ ३६ नरुड़ी म० ३ पृ० १६२ ।

त्यान किया जा सकता है। शक्ति रूप में माया ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं है। कहीं कहीं शंकर प्रकृति को भी माया कहते हैं। वहाँ उनका अभिप्राय यह है कि यह एषानारिका शक्ति या माया ही उन लोगों के लिए विश्व की प्रकृति (वायि या मूल कारण) है जो इसे देख रहे हैं।^१ शंकर न इसे नित्य इसलिए नहीं माना है क्योंकि यह गुण मात्र ब्रह्म का है और यह अनित्य भी नहीं है क्योंकि इसकी 'आमकता' वास्तविक बीज पड़ती है। नित्य और अनित्य दोनों नाम एक ही वस्तु को देना मन्वेद्भास्य है। मठ शंकर इसे "अध्याय" कहते हैं।

रामानुज का विश्वास इसके भिन्न है। वे माया को ब्रह्म की नित्य शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं जो हर सभ वास्तविक सृष्टि का निर्माण वासन तथा विनाश करती चमती है। अर्थात् रामानुज के अनुसार माया ब्रह्म की नित्य अपेक्षित शक्ति है जिसमें वास्तविक परिवर्तन होता है। यहाँ दोनों मठ भिन्न हो जाते हैं। क्योंकि ब्रह्म की नित्य शक्ति में परिवर्तन होने से साम्प्रदाय ब्रह्म में परिवर्तन होना स्वीकार किया जायगा। किन्तु शंकर ब्रह्म में किसी प्रकार के परिवर्तन की कल्पना भी नहीं कर सकते।

सांख्य के भाष्यकारों ने सृष्टि की मूल उपजातक प्रकृति का माया रूप में वर्णन किया है। सांख्य प्रकृति त्रिगुणमयी (सत्त्व रज और तम इन तीनों गुणों का नाम प्रकृति है) कहीं गई है अतः भाष्यकारों ने माया का स्वरूप त्रिगुणत्मक देखा है। माया के मनुष्य का बंधन होने का वर्णन प्राकृतिक दृष्टिकोण से यों किया गया है कि ये तीनों गुण रस्सी के तीनों सूतों (रेशों) की तरह आपस में मिलकर पुद्गल के लिए बंधन का कार्य करते हैं।^२

भीमरुमदबद्दीता में भी भीरुप्य ने ब्रह्म की उत्पत्ति के बारे में उपरोक्त शैले हुए सांख्यिक दृष्टिकोण की तरह ही बताया है कि नाता प्रकार की घोरियों में जितनी भूतियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं त्रिगुणमयी माया तो एमें कारण करने वाली उन संबंधी माता है और मैं बीज की स्थापना करने वाला पिता है।^३ जीवात्मा यद्यपि अविनाशी है किन्तु प्रकृति स उत्पन्न मरब रज और तम तीनों गुण उसे शरीर में बाँधते हैं।^४

नानक वाली में शंकर और रामानुज की साम्यताओं को समन्वित कर दिया गया

१ भारतीय दर्शन चट्टोपाध्याय तथा दत्ता पृ. २३८।

२ The Essentials of Indian Philosophy : M Hiranya p. 108.

३ भारतीय दर्शन चट्टोपाध्याय एवं दत्ता पृ० १७२।

४ अध्याय १५ श्लोक ५ (बीता वेम गोरसपुर) भगवद्गीता।

है। वे रामानुज की नाई माया को ब्रह्म की नित्य-अचेतन शक्ति स्वीकार करते हैं। इसी शक्ति से सृष्टि की वास्तविक व निरन्तर रचना हो रही है।' गुरु मानक यहाँ ब्रह्म के विशार को सम्मुख रखते हुये यह भी मान लेते हैं कि उक्त शक्ति से ब्रह्म में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन तो अपूर्ण का प्रतीक है ब्रह्म पूर्ण है (Absolute) और यह माया उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित है। सृष्टि के मादि और अन्त की कल्पना इसके इच्छाधारित होने पर ही की जा सकती है।

(२) माया परम सत्य ब्रह्म की शक्ति है। इसलिए उसका निश्चित और आकर्षक अस्तित्व है। वह कदापि मिथ्या नहीं है। किन्तु मानक के मतानुसार वह उपेक्षणीय अवश्य है। यदि उसकी उपेक्षा न की जाए तो जीव भ्रमवश उसके ही आकर्षणों को अपना लक्ष्य समझ कर भटकते रहेंगे और परम लक्ष्य अकाल-मूर्ख के मह्य ऐश्वर्य को भूल बैठेंगे। सांसारिक जीवों को माया के आकर्षणों की ओर से उदासीन होकर ही परम की सोच करनी होगी। अन्यथा सफलता सन्देहास्पद है।

(३) गुरु मानक सांख्य प्रकृति की भाँति माया की त्रिगुणमयी भी स्वीकार करते हैं।

(४) श्रीमद्भगवद्गीता की नाई जीव का वर्नायमन तथा शरीर बंधन भी मानक ने कमजोर माया और उसके तीनों गुणों के कारण स्वीकार किया है। (अध्याय १४ श्लोक ४५।)

(५) गुरु साहिब इसे अविद्या अज्ञान तथा मिथ्या-तथ्य के रूप में भी देखते हैं। साध ही प्रसंगवश उस प्रत्येक वस्तु को माया कह बैठे हैं जो जीव के हृदि-मिस्रन में बाधक बनती है। (इसमें कहीं-कहीं रूपकों की सहायता भी ली गई है)।

(६) ब्रह्म की त्रिगुणरमक शक्ति—माया ब्रह्म की वह शक्ति है जिसने अकाल की इच्छा का पालन और सृष्टि-निर्माण किया है। यही कारण है कि मानक ने साधारण साधु-महत्तमार्थों की भाँति उसे बत हीनत बाध पुत्र मा मोह-ममता आदि कह कर अपना कर्तव्य पूरा नहीं समझ लिया बल्कि उसका बाधन दार्शनिक विश्लेषण भी यत्र-तत्र अपने पदों में प्रस्तुत करते रहे। श्रीमद्भगवद्गीता की नाई उनका विश्वास था कि माया प्रकृति के तीनों गुणों—सत्व रज और तम—के समन्वय से सृष्टि को बंधनयुक्त किए है। जीव इन्हीं गुणों के फँदे में फँदा माना प्रकार की सांसारिक क्रियाएँ करता है। तीनों गुणों में प्रकाश करने वाला निर्विकार सत्वगुण ही निर्मल होने के

कारण सुख की भासक्ति और ज्ञान की भासक्ति (ज्ञानाभिमान) से जीव को बाँधता है^१ जिसके कारण मनुष्य की विधाओं में आठम्बर पाखंड धर्म चेतना आध्यात्मिक तादृशिता और कभी कभी वगु भक्ति का समावेश होता है। इससे जीवात्मा कर्मों पर उनके फल की भासक्ति में बाँधता है।^२ परिणाम यह होता है कि मनुष्य सोम मोह और तदुपपन्न महंकार प्रसिद्ध हो जाता है और 'हम जुनी बीगरे नैस्त' क प्रवाह में गोठे लगता है। इसे वह अपनी ज्ञान मर्यादा या मान की पराकाष्ठा समझने लगता है। तमोगुण की उत्पत्ति अज्ञान से होती है। उसके कारण जीव प्रमाद भासत्य और निद्रादि में बद्ध होता है।^३ इन्द्रियों और अंतःकरण की व्यर्थ चेष्टाओं और क्लेश-कर्म में अप्रवृत्ति तथा निरक्षमता तमोगुण के मुख्य फल हैं। युद्ध साहित्य करमाते हैं—

तेरे तीनि पुषा^४ संसारि सनाबहि, असखु न सखना आई रे। (पहाऊ)
 सकर खण्ड माइया तनि भीठि हम तब पंड उचाई^५ रे।
 रात^६ मनेरी सुससि नाहि लखु^७ टूकसि पुषा^८ माई रे।^९

(यहाँ माया के तीनों गुणों की ओर संकेत किया गया है। 'सकर लखु का रसास्वादन-सुख सत्त्वगुण 'पंड उचाता' में भोग और बल का संकेत होना के कारण रजोगुण एवं रात अनरी' में अज्ञानता के कारण तमोगुण का स्वरूप चित्रित किया गया है।)

ब्रह्म की प्रस्तुत शक्ति-माया ('जीगुण माइया ब्रह्म की कीन्ही' पर २ १ ११० आसा म० २ पृ० ४०४) तब तक निष्क्रिय ही रहती है जब तक उसके भिन्न मूर्तों में विकार और विपत्तियाँ नहीं आ पाती। जब तीनों गुणमय दोनों से जुदा हो-होकर अपने में बँटते हैं और समरूप होकर निवृत्त-ये हो जाते हैं तो वह उनकी सक्रियता का अंत कहा जाता है। उसी से सृष्टि का भी अंत हो जाता है।

- १ श्लोक ९ अध्याय १४ श्रीमद्भगवद्गीता ।
- २ वही ७ १४ ।
- ३ वही ८ १४ ।
- ४ तीनों गुणों के जीवद में ।
- ५ उठाई ।
- ६ अज्ञानता का मूर्खानेय अंधकार ।
- ७ माया कपी रस्मी ।
- ८ नाम कपी ब्रह्म ।
- ९ वद १-२ १७ गठवी म० १ पृ० १२२ ।

वही प्रलय है। वही माया की रचना-शक्ति क्षिप्त पड़ जाती है। गुणों के इस परिणाम को 'स्वरूप परिणाम' कहते हैं। दूसरी ओर जब तीन में से किसी समय कोई एक गुण प्रबल होकर अन्य दो का अपने बल में कर लेता है तभी मायावास फलने लगता है। मृष्टि में श्वेतता घबिभता जाती है। इस विरूप परिणाम' कहा जाता है। इस प्रकार दोनों वसाओं में गुणों से गुणान्तर हुआ करता है।^१ अतिशय यह कि गुणांतर ही माया का विश्लेषण रूप है। जिसमें वह निरूप परिवर्तन का रूप प्रस्तुत करती है और निर्माण विकास एवं विनाश का चिर चक्र चलाती अनुभव की जाती है। गुण मात्रक के अनेक पदों में भिन्न गुणों की प्रबलता का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। सत्त्व की प्रबलता जीव में ज्ञान वृद्धि की स्रोतक है। इसमें मनुष्य ईश्वररूप का अनुभव करता एवं उसकी शक्ति त्रिगुणित-माया की वास्तविकता को पहचानने लगता है। बहने का तात्पर्य यह कि माया के विचार से केवल भिन्न होता है मुक्त नहीं (मुक्ति के सिद्ध पीछे कहा जा चुका है कि सत्त्व गुण द्वारा प्रयत्न अनुभव की आवश्यकता है।) जीव कह उठता है प्रभु की सत्यता के साथ उसकी शक्ति माया एवं धारण किए शरीर का प्यार सब सत्य है। उसकी कृपा से ही यह भूमि निर्मित हुई है। वह सुख-दुःख का प्रवर्तक है। गरी-पुरुष का सृजन माया स्त्री विष का विस्तार सब उसी का किया हुआ है। उसने आवासमन की रचना की है। वही मुक्ति प्रदाता है। वही जीव को माया के बल पर विषम विकारों की प्रेरणा से दिसक बनाता है। मलिन-मति श्लेष उसके नाम का विस्मरण कर सबवक माया सर में डूब चुके हैं। अतः वे गुणों का त्याग कर विप्रेत अवयुगों के प्राहक बने उपमयाते फिरेते हैं। मृत्यु निर्मलन ईश्वररक्षा से जीवम-भायी स्त्री-पुरुष का भी बुरा कर देता है और चाहे ता बिलकुल को भी मिसा देता है। यमदूत तो (मायिक की) आत्मा का पालन कर रहे हैं। उनके लिए मुग्धर रूप और बासक वृद्ध का कोई आकषण नहीं है'^२। ब्रह्म और उसकी शक्ति माया से सम्बन्धित जीव के ये विचार उसकी अन्तर्बतना है

१ भारतीय दर्शन बसधन उपाध्याय पृ० ३३६ ८०।

२ सचड़ा साहित्य सचू नू सचड़ा वहि पित्रारी। (खण्ड)

गुणु शिरवी मेदनी दुन मुक्त देवण हारो।
जमभु मरना जाइ महभा शक्ति जीऊ विकारो।
मु इई नामु विचारिजा बूझई किमा निमु चारो।
बुन छोड़ बिनु सदिजा अवनुन का बनवारो।
नरई भाए तिला बीनीजा हुनमी साधो करतारो।
गारी पुण्य विष्णुनिजा विष्णुकिमा मैलनहारो।
रुन न जाभी सोहूणीए, हुकनी बबी शिरिकारो।
बालक विरधि न बाचनि सोइनि हेनु पित्रारो।

अतः ज्ञानोदय का प्रतीक होने के कारण रजोमूत्र की प्रवणता है। इस स्थिति में जीव सच्चा विज्ञान ही तो निरूप्य ही सद्गुरु की आज्ञा कर सुपसगामी बनता एक मोक्ष का अधिकार प्राप्त करता है। अन्यथा बड़ी डाक के तीन पाठ अर्थात् माया के तीनों चुम्बों के उदार-अज्ञान व उदार में लिप्ट रहूँ अन्त-मरण के चक्र का बंध भोगता है। ज्ञानोत्पादक प्रस्तुत पुत्र का रग उलझता है अतः व्यवस्था उचित रही तो माया मलिनता को दूर कर उद्वेगपन धारण कर सकती है। अयोम्य स्थिति में जीव की दशा पक्षी फँसाने की फिरकी पर बैठ हुए तोठे के समान होगी जो मासिक के दिखाएँ शब्दों का तो रटता है—फिरकी पर बैठना नहीं बैठ जाओ तो छोड़ देना बिरले से शोच नहीं आएगी—आदि किन्तु फिरकी नहीं छोड़ता। माया का एक यही ऐसा गुण है जिसमें माया से छुटकारा दिलवाने का सामर्थ्य सदा विद्यमान है। शेष दो में फँसाने का सामर्थ्य अधिक है। तभी तो गुरु साहित्य ने मायावी रूप हठमें के विज्ञान में लिखा था कि रोपमुक्ति की औपधि भी उसी में है।

हठमें बीरघ रोमु है बाव भी इधु माहि।

किरवा करे को आपनी ता गुर का सबहु कमाहि।

श्लोक भासा बी बाट. म० १।

मातृक मन का अहं भाव माया का ही प्रतीक है, और प्रायः रजोमूत्र का स्वरूप प्रस्तुत करता है। कामना और आसक्ति सोम की उत्पादक है और सोम की निरन्तर उत्पत्ति हठमें की प्रवर्तक। कामना मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करती है और आसक्ति उस कर्म के फल की आशा को सजीव बनाए रखती है। कर्मयोग के अनुसार यही स्थिति अन्त-मरण और आवागमन का कारण बनती है। अतः हठमें (रजोमूत्री आपात) का यदि मूट्टि का आधार स्वीकार कर लिया जाए तो कोई अस्तित्व न होगी। गुरु मानक ने हठमें के द्विप बीज से इस द्विप वृक्ष (विष्या संसार) की उत्पत्ति स्वीकार की है। हठमें का द्विप बीज भी ऐसा विविध है कि मह बीज को पारने (निवृत्त करने) निष्कामता प्रदान करने) की अपेक्षा जिताने (प्रवृत्त करने) सकाम अनुभूति प्रदान करने का मुख्य कार्य करता है। लेकिन जो अविहित मरता ही सीख न उसके लिए इस द्विपरीत द्विप का प्रभाव अनुभूत नहीं रह पाता। शब्द के अतिरिक्त आत्मन से द्विप उदासा बुझ जाती है। तत्त्व-आरा का सीठन प्रवाह बहु निकमता है। अतः रजोमूत्री हठमें (सोम एवं सकामता) का विवेका-जीव समरीर ही मुक्त कहसाने का अधिकारी बन जाता है।^१ सार यह कि रजोमूत्र प्रवृत्ति बाता है और संसार के मोहमाया के कष्टों का कारण बनता है।

१ हठमें द्विप पाद जगगु उपादना सबहु बरै किमु जाह।

रजोगुण का बर्च रक्तिम है। सतोगुण के उज्ज्वल पर प्रायः यह छत्र जाता है। हठमें के आचरण में बास्तनिक छत्रा और चेतनता का झिंझा कर भीष और बह्य में मेघ बाकता है। धीरे-धीरे इनकी रक्तिम आभा वामसिक होते-होते तमोगुण को जगम देती है। और उक्त मेघ गहन और बिस्तृत होता जाता है। अब हठमें की स्वाभाविक प्रतिक्रिया (परों का दुर्विचक्षण तथा मानसिक दुर्विचार) उत्पन्न होती है जो कि तमोगुण का सजीव रूप कही जा सकती है। गुरु गानक सिक्ते हैं ?

सतु सोम कुरा मईदाव ।

साड़ी चाड़ी साइतबाव ।^१ सतुमुमु अंया पुपुपु पवार ।

साहे कारनि जाइमा जपि होइ मजुद^२ पइमा ठगाइ ठपि ।

साहा मामु पुंजी बै साहु नामक सवि पनि तबा पाति-साहु^३ ।

अर्थात् रजोगुण में शक्ति का काम (साहा) को जो प्रेरणा होती है वह प्राप्ति के उन्नत साधन अपनाने में तमोगुण का रूप कारण कर लेती है। तभी तो गुरु साहिब ने कहा था कि सब माया-मोह झूठ है और इसका परिणाम छत्रा मिथ्या और निराशाजनक रहना स्वाभाविक ही है। हठम ने छत्रा में एक ऐसा समर्पण पत्र कर दिया है कि समुद्रा छत्रा उसमें बँध गया है। अर्थात् रूप कैवल्य गुरु का उचक ही उस हठमें पर विजय पाकर एक समीप तत्त्व की पहचान का सामर्थ्य प्राप्त करता है।

अस्तु, ये तीनों गुण माया के स्वरूप पर्यायवाची हैं। इनका परस्पर संपर्क मुक्ति के निर्माण और परिवर्तन की अर्थवृत्ता को बनाए रखता है। पुनः यह त्रिगुणित माया बह्य की इच्छा शक्ति होने के नाते जाहूर की जाहुई माया की तरह अपनी दो स्वतंत्र शक्तियों का साम्य लेती हुई भीष और बह्य में अबास्तनिक मेघ का कारण बनती है। आचरण और विचार इसी मुख्य शक्तियों हैं। आचरण द्वारा यह

(विष विषयने पुष्ट का)

जरा जोहि न सवई सवि रहै सिव साह । जीवन मुक्ति सो जापीए निव
विष हठमें जाइ ६ २, माक अष्टपरी पु० १०१० ।

२ साड़ी=निवा चाड़ी=मूठी स्तुति साइतबाव=पुणसी ।

३ सभी पुषों का उचक ।

४ प० १३ रापु रामकली म० १ वपनी पृ ६३१ ।

५ साइमा मोह समु मुदु है मुदी होइ पाइमा ।

हठमें समया पाइमानु सपई मुदमा जगु बुदमुक्ति मगद पुकारमोनु इको रवि
रहिमा १६ मुदी म० १ पृ ७६० ।

ब्रह्म का वास्तविक रूप छिपा सेती है और विशेष की उहायता से उसमें ब्रह्मरी बनेकानेक सञ्चित बस्तुओं का बाराप करती है। इसी कारण जीव ब्रह्म को यन्मार्गता को देखने में असमर्थ होता है। बह इसके तीनों गुणों की रगीनियों में साया भ्रमबस असत्य का सत्य (जैसे जाडू का तमासा देखने वाले समझते हैं) समझता है। ध्यान रहे कि माया सत्य की इच्छा है। बह न असत्य में है और न ही प्रातिभासिक है। उसके द्वारा प्रस्तुत ब्रह्म का बिक्षिप्त-रूप संसार भी इसी कारण मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इसमें पुनो का बिचरण होता है और बिक्षिप्त-रूप को ही जीवों के सम्मुख वास्तविकता के साब प्रस्तुत किया जाता है। इस तरह माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण बनती है। यही अज्ञानावरण है।

(क) माया अज्ञानावरणके रूप में—स्वयं सिद्ध-सी बात है कि माया के आवरण के कारण जब जीव सत्य को बिक्षिप्त रूप में देखता है तो वास्तविक सत्य को भुलाकर उसी बिक्षिप्तता को सत्य समझने लगता है। यह उसका अज्ञान या प्रमाद है। इस कारण जीव असत्य को सत्य मानकर उसी में रमन करने लगता है और अनजाने ही उसके वास्तविक सत्य की उपेक्षा होने लगती है। तभी जन्म मोगों पर अपनी गमती का भी औचिर्य बनाने के लिए बह बाद-बिबाद और तर्क-बितर्क का सामय सेता है। इससे उसकी तामसिकता बढ़ने लगती है। और बह अपने प्रियतम को भुलकर विषय विकारों में डूबता उतरता है। यही उसके आवागमन का कारण बनता है। गुद नानक जीव की इस अज्ञानता पर खेप प्रकट करते हुए कहते हैं कि जीव प्राणी माया के बोधे में वास्तविक रामरंय से उदासीन हो मिथ्या सांसारिक रंगों में मूसा है और मन के संकेतों से कार्यागित होम से यथार्थ सत्य ध्वनि से विमुक्त होकर अपने जन्म मरण का क्षेत्र तैयार कर रहा है। यह उसकी अज्ञानता का धोतक है।^१ मनुष्य की स्थिति ऐसी है कि सरे को न पहचान सकने के कारण जोने को ही बारा कहता है। उसही भांसा पर माया का पर्दा पड़ा है अतः बह वास्तविकता को सम्येह नो दृष्टि से देखता है और यन्मार्गता को निरवधारक समझता है।^२ परन्तु ब्रह्म के अतिरिक्त क्या कमी जीहड़ के बस मंयन से भी माजन की उपसक्ति हो सकती है? नातक कहते हैं—

१ मयु मिड मूड प्रीति मनु बेबिया जन सिड बार रबाई ।
माया मयनु महि निनि मयु जोहू नामु न सेबं मरि बिभु साई ।
मयण बैवि एना हितकारो सबदं सुचति न भाई ।
रवि न एठा रनि मही बेबिया मममुक्ति पति मबाई ॥

२ १ सोरठ, पृ० १६६।

२ गडगी बीरापति पद १-६ २ म० १ पृ० २२६।

धेरी की सेवा करहि ठाकुर नहीं बीसे

पोकक नीक विरोधिए माखनु नहीं रीसे ।^१

अर्थात् ठविनि-माया मनुष्य का अज्ञान या अविद्या बन कर उससे अपना सत्कार करवाती है। साथ ही ईश्वर और जीव के बीच में भेद डाल देती है।

बाहरी ध्वज-रूप के अतिरिक्त माया मानवपन के भीतर हठमै का रूप बन जाती है और मनुष्य को सर्वत्र अहंभाव में प्रवृत्त रखने का प्रयत्न प्रयत्न करती है।

मनुष्य भी इसी चक्र में फँस कर आजीवन हठमै का श्रितबास बन जाता है।

गुरु नानक लिखते हैं—

हऊ बिच माया हऊ बिचु गइया । हऊ बिचु अमिभा हऊ बिच मरिया ।

हऊ बिचु दिस्ता हऊ बिचु लइया । हऊ बिच खटिया, हऊ बिच नइया ।

हऊ बिचु सखिभाक कुडिभाष । हऊ बिच पाप पुनं बीबाव ।

हऊ बिचु गरक सुरभि भवताव । हऊ बिचु हसे हऊ बिचु रोवै ।

हऊ बिचि भरीऐ, हऊ बिच बोवै । हऊ बिच जाती जिनसी खीवै ।

हऊ बिच गुरकु हऊ बिच सिजाया । मीक मुकसि का तार न जाया ।

हऊ बिचु माइया हऊ बिच छाइया । हठमै करि करि अंत उपाइया ।

हठमै हूसे तो बच सुसी । गिमानु बिहना कपि कबि सुसी ।

नानक ठुकमी लिखीऐ लैखु । बेडा बेकहि लैखु लैखु ।^२

माया के जल आवरण (हठमै) में मनुष्य अज्ञान से अंधा हो पल मंचन से तत्व को प्राप्त करना चाहता है। परन्तु मनमुक्क (हठमै आच्छादित) होने के नाते उसे लक्ष्योपसम्पि नहीं होती। उसका परिश्रम ही उसे बरफ़े चमता है। उसमें पुनस्राने के प्रयत्न में वह और भी जमस जाता है।^३ माया के भोके में उसकी अज्ञानता बढ़ती है। वह दुष्कर्मों और विषय-वासनाओं में प्रवृत्त होता है। गुरु नानक फरमाते हैं "इस अविद्या के कारण मनुष्य कुपई के बाल में फँस जाता है, तो भी अपने आपको संतुष्ट-सा अनुभव करता है। वह चोरोँ कुटिमों, म्मभिचारियों कुपयनामियों की संघति में अपना हित समझता है। पापियों से मित्रता रखता एवं अर्थियों के साथ भोजन पान करता है। ईश्वर स्तुति का तत्व उसके लिए महुर-हीन हो जाता है। सर्वत्र उसके अन्तर में काम बासना ही भरी रहती है। उसको कुछ समझाना

१ गउड़ी बेंचनबि पद १-२ २, पृ० २२६ ।

२ श्लोक १ आसा म० १ पृ० ४६६ ।

३ अमु बिसोवै अमु मने तनु सोई अमु अगिआना

मनपुन तउ न आअनी पमु माहि समाना ।

३ १ माक अइपरी म० १ पृ० १००६ ।

उसकी अभिधा के कारण चिकने बड़े पर जल-बूब की भाँति अप्रतिम होता है। जैसे घबे को चदन का सेप ही क्यों न लगाया जाय फिर भी वह राक्ष में तो मोटेया ही। अज्ञानाबता के कारण जीव का कर्म-अम, (काठना) मनन या उपासना (तनना), निरि ध्यासन (बिनना) तथा धारणा (पहिनना) का सपूर्ण मान कूड़ (मिष्या) है^१—जब तक जीव वास्तविकता को नहीं पहचानता तब तब माया द्वारा वह ऐसे ही खसा जाता है। माया अभिधा या अज्ञान के रूप में जीव और ब्रह्म की पृथक्ता का एकमात्र कारण है।

(ग) मिष्याहम्बर और मिष्या-तप्य—माया का अभिधा रूप ही माये पसकर जीव को हत्य से अनासक्त करता और मिष्याहम्बर की ओर प्रवृत्त करता है। प्राणी सत्पुस्य की यथापत्ता को खानने की अपेक्षा बाहरी कर्म-काण्ड में अधिक रुचि सेने लगता है।^२ अज्ञानाब होने के कारण वह इन भुटिपूर्ण आचारों में भी भुक्ति-रसन की सोच करता है। परन्तु बिस प्रकार घर में अन्धकार होने के कारण वहाँ खोई हुई वस्तु बाजार

१ १ सूही पृ० ७६०।

२ रामनाम बिनु बिरये जमि खनमा। बिनु खाने बिनु बोसी बोसे बिनु नाने निह फनु मरि भ्रमना। १।

पुस्तक पाठ बिनाकरम बलान संधिजा करम ठिकान कर दिन मुह सबद मुक्ति कहा प्राणी बंड कर्मबनु सिखा सुनु बोटी तीरथि गबनु अति भ्रमनु करे। रामनामु बिनु उरथि मरे। २।

रामनाम बिनु सीति न आने अपि हरि हरि नामु सु पारि परे। ३।

जग मुकटु तनि मसमि जवाई बसब छोड़ि तनि नमनु सइया।

रामनाम बिनु तृपति न आने किरत के वाने भेखु मइया।

४ ७ न राग भैरव म० १ पृ० ११२७।

तथा—

बोसी वेह रंगु बड़ाइया पसब मेस मिखाटी।

कापड़ फारि बलाई खिया बोसी माइया पाटी।

परि बरि माने जगु परबोबे मनि बर्मे पतिहाटी।

भरमि मुसाणा सबनु न पीने पूए बानी हारी।

मुह मुड़ाई जग सिख बाँधी मोनि रई अभिमानी।

मनुजा बोसे रहसिधि भावे बिनु रत भाठम गिभापी।

भमूत्र छोड़ महाबिख पीने माइया का बेवाना।

किरत न मिटई हुकमु न कुसे पसुमा माहि समाना।

हाब कर्मबम कापड़िया मनि तृसना ऊपनी भारी।

इमनी तत्रि करि कामि बिभापिया बिनु लाइया पर नारी।

सिख करे करि सबहु न पीने लंपट है बाजारी।

अन्तर बिग बाहरी निभराती ता जमु करे सुमारी।

१ १-७ मार्क मटपरी पृ० १०१२ १३।

(दिय अयसे पृष्ठ पर)

के प्रकाश में खोजने पर भी नहीं मिलती जैसे ही ऐसे जीव को तथ्योपलब्धि में निराश ही होना पड़ता है। माया-प्रवृत्त समस्त प्रकृतियाँ निश्चय ही जीव की बन्धन बन जाती हैं। तभी तो इस मिथ्या कम को संकेत कर गुरु मानक फरमाते हैं कि इस जीव ने मायाभी हनों के बिप से अपना जीवन-मोक्ष भर रखा है। और संसार सागर में आरुपाय के ज्ञान के बिना ही नावक और पतवार की अनुपस्थिति में इसे चलाने का प्रयत्न कर रहा है। किन्तु वह माया-जाल कभी भँवर में फँसा है और बच निकलने की कोई मूरत नहीं दिखाई पड़ती।^१

इसीका दूसरा पहलु अस्तित्वयुक्त संसार का मिथ्यापन है। प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाली प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील और नश्वर होने के नाते माया के घेरे में आती है। इस कारण सत्य नहीं हो सकती। आशा की बार' में गुरु मानक ने इस सांसारिक मिथ्या का मुखर विष प्रस्तुत करते हुए लिखा है— मह संसार उसके लक्ष्मणाजी राजा और अश्विनस्य प्रजा सब मिथ्या है। बड़े-बड़े मध्य भवन ऊँची अट्टासिकाएँ एवं उनके निवासी भी सब झूठे प्रसार के प्रतीक हैं। छोटा चाँदी और पहनने वाले प्राणी गठित शरीर, आकर्षक रूप तथा अद्वितीय शौण्डर्य सब नश्वर है, परिवर्तनशील है। पति पत्नी का सम्बन्ध और उनमें चलने वाली तु-तू मैं-मैं इस अनिश्चित विश्व का स्वल्प है। सब तो यह है कि यहाँ पर नश्वर जीव प्रभु की अनवरुदा से बेखबर नातवान वस्तुओं के आकर्षण में रँबा पड़ा है। आवागमन का बटूट चक्र चल रहा है। कोई स्थिर नहीं एक ही परम-शर्य है। मिथ्या किससे की जाए? एक ही परम-सत्य है। उससे अतिरिक्त शेष संसार के सब मानव्य भोग बिलास आकर्षक-विकर्षक अस्तित्व होते हुए भी मिथ्या है।^२

(शेष पिछले पृष्ठ का)

और भी—

पकि पुस्तक सभिधा बार । तिस पुत्रसि बचुम समाध ।
 बुझि झूठी विमुक्तन धारं । पैपाल तिहाल बिभारं ।
 गभि माभा तिलक सनाट । होइ धोती बसव कपारं ।
 जो जानसि बह्य कर्म । सम फोफट निघरै करमं ।
 कहु मानक निघरौ बिबासै । किनु पुर बट न पारै ।

पैवैचौरी सलोक सहस कृति म० १ पृ० १३३३ ।

- १ किन्तु बोद्धिया लक्षिमा दीजा समुद्र मञ्जारि ।
 कम्पी बिसि न आबई न उरवारि न पारि ।
 बंधी हाथ न सेवहु जस सागर बंधरामु ।
 बाबा जगु फापा महा जाति । १ २ मारु अष्टपदी पृ० १००६ ।
- २ कूड़ राजा कूड़, परजा कूड़ समु संसार । कूड़ भंडप कूड़, पाड़ी कूड़, शैलकहाह ।
 (शेष अगले पृष्ठ पर)

बपकों द्वारा माया का स्वल्प चित्रण—बहु शक्ति अज्ञानावरण तथा मिथ्या तर्कों के अन्तर्गत माया का रूप-चित्रण ऊपर किया जा चुका है। किन्तु पुरु-बाणी में ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं है जहाँ पर माया का स्पष्ट वर्णन कर संकेतों प्रतीकों और कवकों से काम चलाया गया हो। काबी मारी की तरह माया का रूपरमय चित्रण प्रस्तुत है—

माये त्रिकुटी हसति ककरी । बोलै कङ्का त्रिष्ठा को पूको ।
 सबा मूखी पिकु बाने गुरि १ । ऐसी इसत्रो इक राम उपाई ।
 उनि सनु जगु साइमा हम गुरि राखे मेरे भाई ।
 पाई टागडली सनु जगु जोहिमा । बह्या बिसनु महारेऊ मोहिमा ।
 धुरमुधि नाम लये सो सोहिमा । २ । बरत नैम कर बाले पुनह बरना ।
 तट तीरय भाये सब बरना । से ऊबरे त्रि सतिगुरु की सरना ।
 माइमा मोहि सनो जगु बाबा । हठमै पचै मनमुख मुराखा ।
 गुरु मानक बाह पकर हम राखा ।^१

अर्थात् प्रभु न माया के नाम से एक ऐसी स्त्री बनाई है जिसके नेत्रों में रौद्र और मास पर स्वीरियाँ रहती हैं। जो पति की (मन्तुदय की) उपेक्षा कर कटु बचन उचकती है और फूहड़ की भाँति विचरण करती है। इस भयानक मारी ने ठगिनी का सबको ठाड़ रखा है। बह्या बिप्लु और महम मरीच बचता भी मट्टू किए हैं। समस्त समार को मोड़ बचन में बाँध रखा है तोप वत नियम आदि प्रायश्चित्त इन्हीं के सीमांतस्थि छन हैं। कबस प्रभु का स्मरण करने वाला सङ्ग पर बबलबिड जीव ही हमसे चाम पाता है।

माया को एक ऐसी सविनी के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है जिसने जीव को बकड़ लिया है। उसके बचने के प्रयत्नों पर काटने की बमरी भी जाती है। और इसका काटा तो पानी भी नहीं मोगता। अनिप्राय यह है कि माया छन करने वाली है और सबको भरनी ही सीमाओं में भूला हुआ देखना चाहती है। वास्तविकता का स्मरण करने वाले के मार्ग की बह भयंकर बाधा है। मानक सिखते हैं—

(द्विप विछने पृष्ठ का)

भूङ्, भुरमा भूङ्, रपा भूङ्, पैतहणहाङ् । भूङ्, काइका भूङ्, बपङ्, मूङ्, रूप मयाङ् ।
 भूङ्, मोमा भूङ्, बीबी खपि हाइ खाङ् । भूङ्, भूङ्, नेहु माया बिसरिजा बरताङ् ।
 किसनाल कीरै बामती सब जगु बसमहाङ् ।

भूङ्, मीठा भूङ्, माखिङ्, भूङ्, डोले पूङ्, मानब बजाङ्, बैतवी तुपु बासि भूङ्, भूङ् ।
 माया की बार, पृ० ४६५ ।

इतु सरपति के बच बीउड़ा^१

बनेसु बीकम म जैसे सास बहू के मार्ग का काँगा बन जाती है। उठ नह पहुँचाती है तथा बहू को प्रियतम से मिलने का सबसर नहीं प्राप्त हो पाता। उठी उरखू माया बीबाय्या के ईश्वर से मिलन में बाधा उपस्थित करती है। मुब साहिव भिखते हैं—

सामु बुरी घट बासु न देवे पिर सिउ मिलन न देइ बुरी।^२

कई अन्य स्वार्थों पर भावा को भ्रम की बीबास भ्रमानाम्यकार या बीहड़ बंक्स भयबा आस आदि कहकर भी संबोधित किया गया है।

२ मन बीर माया

मानव-मन बृत्तियों और संवेदनाओं का पुंज है। हर मड़ी और हर पस इसमें कितने ही बसे-बुरे बिचार जागृत होते, पनपते एवं मनुष्य को सक्रियता बाध देत हुए मह होते रहते हैं। इस प्रकार एक येतना प्रबाह बहता है। यही मनुष्य को कर्मानुप्रवृत्त रखता है। प्रकृति की यह भावना जो मन के उद्धारों और भरमारों से परा होती है संसार में बीब की मायावी पृष्ठभूमि की चोख है। यदि मन तिकृति अपनामे तो माया हतप्रम हो मनुष्य को अपन बचन में रखने में बममर्ब हो जाती है। अतः यद्यपि मन की बृत्तियाँ ही वास्तव में माया-आस में फँसने का कारण बनती हैं तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि त्रिपुचारमक माया (बाह्य-प्रकृति) अपने में मानव-मन की छक बृत्तियों को प्रेरित उद्बलित और सजीव बनाए रखने में सकस है। इस प्रकार मन और माया दोनों बंध्यान्यामित ठहरते हैं। ऐसे में बीब का मन के बच होना या माया के दोनों परमावाची भी बड़े कार्य तो कोई अत्युक्ति न होगी। महारमाओं संत-कबीरों ने संभवतः इसीलिए 'मन के हारे हार है मन के जीते पीत या 'मन जीते बागु बीउ'^३ एववा मनुष्या जीते मिस तिहु सुरलनवैठ^४ आदि कथनों से सांसारिकों को संबोधित किया है। जैसा कि पीछे संकेत किया गया है कि हृदय में मनुष्य के उठार की मौपधि भी मौबुर है उसी प्रकार मानसिक बृत्तियाँ बाहरी प्रकृति से उठ भित होकर जहाँ मनुष्य को माया फँस में फँसने का कुरय करती हैं, वहाँ अन्तःकरसा की आबाब को सुन गुब आशानुसार शब्द का बंध्यास कर, माया-

१ प० ७ १५ सिरो कष्टपरी या म० १ पृ० ६१।

२ पद २ २२ आमा म० १ पृ० ३३३।

३ जपुजी।

४ मडड़ी बावन भयरी म० ५।

जास में मुक्ति का कारण भी बनती है। केवल एक बरतने की आवश्यकता है। तभी तो कहा है कि मानव मन अग्नि की तरह दुष्ट स्वामी किन्तु मत्ता सेबक है।^१ अतः पनोबुद्धियाँ एवं चेतन मायों को विमुख रखने की अपेक्षा है माया से तो स्वयं ही निस्तार मिल जाएगा।

गुरु नाटक फरमाते हैं कि मन की बुद्धि के बिना तीर्थ-यात्रा पुण्य-कर्म वाग पुत्रा-भक्ति व्रत नियम आदि सब निरर्थक हैं। मन में बुटाई हो शरीर में वासना भरी हो तो चाहे १८ तीर्थों का स्नान क्यों न कर लिया जाये माया से मुक्ति नहीं मिल सकती। पावन व्रत-भजन से यदि एक पाप उतरेगा तो विल की दुष्टता से न जाने कितने और पाप बढ़ते जायेंगे। बाहरी उज्ज्वलता मनुष्य को तब तक माया निर्मित नहीं बना सकती जब तक कि वह अन्दर से मानसिक विष अर्थात् दूसरों के अनुभवान्तरन की भावनाओं को दूर नहीं कर देगा। अन्तः प्रमे व्यक्तित्व तो बिना तीर्थ-यात्रा किये भी भले ही होते हैं—जन्होंने मन की बुद्धियों पर विजय पायी होती है, और उसके विपरीत दुष्ट तथा कुटिल-जन जब तक अपने मन की सद्भावनाओं से प्रेरित नहीं करते बाहर से कितने भी इत्ताम्बरी बनें सर्वैव दुष्ट और कुटिल ही रहते हैं।^२ अनिश्चय यह कि मन के भ्रम ही मनुष्य को ऐसे कर्मों में लीन करते हैं जिनके फल भोग के लिये वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ने को बाधित होता है। यदि मन को संयत कर उनसे निवृत्त हो लिया जाये तो हमारा विश्वास है कि माया (बाह्य प्रकृति) द्वारा फँसाने की बात तो दूर रही वह उसे प्रभावित भी नहीं कर सकती। अस्तु मन और माया दोनों जीव को परमने का कार्य करते हैं—माया बाहरी मिथ्या और अस्वायी आकर्षणों से तथा मन आन्तरिक-बुद्धिबलानों से। मन की ये बुद्धिबलानें क्योंकि बाहरी आकर्षणों की प्रेरणा से ही जागृत और विकसित होती हैं, इनलिये ब्रह्म का एतन्मात्र साधन मन का संयम ही हो सकता है बाहरी मिथ्या-आकर्षणों के प्रति उक्त संयम की प्राप्ति मात्र द्वारा एक आन्तरिक बुद्धिबलानों तथा वासनाओं के प्रति इसकी प्राप्ति अम्यास द्वारा सम्भव है और इन दोनों ज्ञान और अम्यास की उपलक्ष्य किसी अनुभवही पुरुष द्वारा सम्भव है। मन-मन को संयमित करना ही माया से निस्तार का वास्तविक रूप कहा जा सकता है।

जो लोग केवल बाहरी तराफन में ही विश्वास रखते हैं, कृत्रिम सद्भावना को बनाते हैं या कबल आशंकर करते हैं मुक्ति का मार्ग उनसे फोसों दूर है। गुरु नाटक निरूपते हैं जैसे सकेर-नोच जिनका मन मुक्त नहीं (भेड़ की जास में भेड़िये) सर्व

१ Like fire mind is a good servant, but a bad master Unknown.

२ मानव जन्मे तीर्थपी मलि छोटे तनि चोर।

इहू भाठ सपी गादिमा दुई मा चड़ी अनु होर।

बाहिर छोटी दूमदी अंदरि विगु निकोर।

साब भवै अगनादिमा चोर ति चोर चोर। २। इतोक सूही म० १ पृ० ७८१

ईश्वरोपेक्षा करते हैं और कुटिल होते हैं। क्योंकि वे कुनिम सौम्यता धारण करते हैं और निररन पहचानने का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं करते अतः पशु के समान हैं। निरस्येह मानव मन निरस्य नबीन हर्षोस्सास एव सुख-शान्ति की इच्छा करता है परन्तु प्रभु-भजन के बिना उस सर्वत्र सुख का सामना ही करता पड़ता है। यदि स्वयं सुख सुख-दाता—सतगुरुप—मन में आ बसे तो कामना मान का ही अन्त हो जाये मोह माया आर्तवित्त हो माय खड़ी हो और मन महारी के बन्दर की तरह आपके हतारों पर नाचने लगे।^१ अतः हम इस निश्चय तक पहुँचते हैं कि मन और माया इन दोनों से मुक्ति पाना बीज के लिए आवश्यक है। परन्तु यदि बीज आवश्यकता का अनुभव किए बिना विषय-विकारों में ही डूबा रहे तो वह जन्म-मरण के चक्र से कभी नहीं छूट सकता। वास्तविक सङ्गोपसम्बि मन-माया को संयमित करण में है जिसका सङ्ग मार्ग हृदय में प्रभु का नाम बारन कर अग्रपद होने में है। गुरु नानक के शब्दों में—

मनु-माइजा बंधियो सर जाति।^२

घटि घटि बियापि रहिओ बिभु।^३

जाति जो आई^४ सो बीसी जाति।

करमि सीपो^५ रिब सन्हाति।

बाबुमिक मनोविज्ञान गुरु नामक के उपर्युक्त विचारों से बहुत कुछ मेल खाता है। वह स्वीकार करता है कि मनुष्य के मन में अच्छी और बुरी जन्म-जात इतियाँ (इंस्टिक्ट्स) सर्वत्र विद्यमान रहती हैं। ये इतियाँ समय-समय पर बाहरी वातावरण की सुविधा प्राप्त कर सकर उठती हैं जिससे संवेदनाओं और संवेगों का जन्म होता है तथा मनुष्य की इतियाँ प्रकट होती हैं। इतियाँ से मनुष्य का व्यक्तित्व तथा चरित्र बनता है। बाहरी वातावरण में श्रेष्ठ और काम की सीमाओं में आने वाली प्रत्येक वस्तु जो परिवर्तनशील है अर्थात् माया है बाबुमिक वैज्ञानिक परिभाषा में प्रकृति कहलाती है।

१ चिट्टे बिनके कपड़े मेंले चित कठोर बीठ। गित सुख नाम न सपई डूबे बियापे
बोर चित मूल न बसहि आपणा से पसुआ से बोर बीठ।

नित-नित खुसीआ मनु करे गितनिग मंगी सुख बीठ।

कर्या चित न आवई फिरि-फिरि मपहि पुन बीठ।

सुख दुख दाठा मन बरी ठि तु तनि कंसी भुख बीठ।

१४ १ २ सूही म १ पृ ७११।

२ सर-जाति—जात की तरह।

३ विप-जाति—विषय-विकार कपी विप।

४ जाज—जाया है शर्मा है।

५ सीपो—मिष्ट होना है-नाम रूप।

६ पर ४१ बिलावत अष्टपदी म० १ पृ० ८११।

मानव-अंतःकरण पर (मन बुद्धि चित्त तथा अहंकार) प्रकृति के अस्वायी एवं सामयिक आकर्षणों का बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ता है। परिणाम-स्वरूप आहमी की क्रियाओं विचारों भावों एवं संवेदना में योम्य परिवर्तन होने से उसके राम विराग आकर्षण विकर्षण तथा आचरण विपर्यय में बहिर्मुखी प्रवृत्तता होने लगती है और मनुष्य अन्तर की नैतिक (एथिकल) शक्तियों से बीरे-बीरे दूर हटता पसता है। यह अस्तमुक्ती लगाव ही महात्मा-जनों के द्वारा माया के नाम से पुकारा गया है। पुनः मन और माया की बँटारठा के कारण योनि-बन्धन की जो बाँध गुरु मानव स्वीकार करते हैं उससे भाव पाश्चाप्य भिन्नत दूर नहीं। प्रवृत्ति एवं उत्पत्ति का आधार कारण काय भाव ही माना जा रहा है। प्रत्येक कर्मा कर्ता या परिवर्तन के घटित होने के पूर्व उसका कारण अस्तित्व में आता है और तदनुसार स्विति के अनुसार बाधाकरण के संघर्षों में उस कारण से काय का जन्म होता है। जाने बचकर बहुत सम्भव है कि वही कार्य किसी अन्य काय का कारण बन जाय। इसी प्रकार चेतना के उपर्युक्त संघर्षों, मन बुद्धि चित्त आदि की जो सक्रियता साधना भले या बुरे कर्मों की वृत्तियों आदि होती है वे ही जीव के प्रविष्य का कारण बनती हैं। कर्मों के निवृत्ति प्रमाण होने पर योनि-बन्धन के टूटने की आशा हो जा सकती है। अतः मन-माया के फँदे में पड़कर जिये मये हुनारे कर्म कारण हैं और उनमें जीवतोपसम्भिध एवं फल भोग काय—नये जीवन के कम आगाभी-जीवन के भिय कारण बन सकते हैं। इन इष्टिक्रमों से मुक्ति केबन निष्काम प्रवृत्ति में ही सम्भव होनी अत्यन्त कामना भिन्नत भिया और कल्पना एवं उसके बाद मया जीवन अतः यह आवागमन।

३. माया की आस्तबिकता की पहचान और गुरु का सहयोग

बाह्यार का तयात्ता देखकर क्यों आस्तबिकता से अतभिन्न सोग उससे प्रभावित होते हैं बँध ही माया (प्रकृति) का प्रचार हैल अपनी काममयी के कारण जीव उसकी ओर आकृष्ट होता है। वह माया की भीतरी वृत्तितता से परिचित नहीं जानता—केबन बाहरी चोख्य और अस्वायी ह्योम्प्रास को ही मयस्य स्वीकार कर लेता है। एक मयस्य ऐसा जाना है कि वह अस्त अस्वायी और मिष्या में ही स्वायी और सय्य का आरोप कर्ता है एवं कामनाओं विषय-विचारों में महरा डूब जाता है। वह सुना देता है कि माया के अन्तर भी कुछ है। जीव की यह मिषिति अत्यन्त दुन्दर और निराशाजनक है। उसकी भीतरी प्रेरक-शक्तियाँ सोई रहती हैं और बाहरी माया के प्रचार तथा अज्ञ-अज्ञान के कारण उसे ईश्वरिय-सत्ता का भी भास गयी होता। जीव विषय-विचारों के मये में आनी चेतना-गोप्ता-सा रहता है। अतः जो जानी सम्भवता है परन्तु हृदय में बने ब्रह्म से भी अपरिचित होता है। जीव की यह मूढ़-निद्रा केबन सगुरु के उद्धान से

४ माया से छुटकारा

माया विषय-बन्धन का प्रतीक है। आत्मापनन से मुक्ति एक सततपुरप-मिशन के लक्ष्यों की प्राप्ति इसके आचरण को विधीय किया बिना सम्भव नहीं। यह त्रिगुणात्मक-आचरण समष्टि-चेतन में एकभाव होने से ही हुटाया जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने गुणों की व्याख्या के बाद आत्मा के परमात्मा रूप की प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि त्रिस काल में द्रष्टा अर्थात् समष्टि चेतन में एकीभाव से स्थित हुआ साधी पुरप तीनों गुणों के विषय अग्य किसी को कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणों में बर्तते हैं ऐना देखता है और तीनों गुणों से परे मुक्तिदात्मबन्धन स्व रूप परमात्मा की तत्त्व में जानता है उस काल में वह पुरप मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।^१ तथा वह पुरप इस स्पून शरीर की उत्पत्ति के कारण रूप तीनों गुणों को उन्मत्तन करके अग्य मृग्य ब्रह्मस्वा और सब प्रकार के दुखों में मुक्त हुआ परमात्म को प्राप्त होता है।^२ प्रश्न उठता है कि इन तीनों से परे क्योंकर जाता जाय ?

गुरु नामक इच्छिकोन से यहाँ माया-मुक्ति के साधनों पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। गुरु माहिर का विरहाम का कि जीव इतना समस्त है कि बिना योग्य प्रहायता के वह माया-बन्धनों को काटने का सामर्थ्य नहीं रखता। इसकी सम्भावना किसी सद्गुरु की शरण में ध्याने नाम का प्राय करने अथवा पूर्व-कर्मों की मारिक्कता हेतु प्रमु-हवा हो जाने में ही अनुभव की जा सकती है।

(क) प्रमु-हवा—माया-बन्धनों से मुक्ति का मुख्य साधन स्वयं प्रमु निरवार की हवा है। त्रिसके सत्कर्मों पर सततपूर्य का बन्-हस्त उठ गया बहो माया की सीमामों के पार स्वयं सततपूर्य का ही हो गया। प्रमु के सम्मुख माया निरस्त है; चाहते हुए भी वह उस जीव को पक भ्रष्ट नहीं कर सकती त्रिस पर प्रमु की हवा से मायाकी रहस्यों का उद्घाटन हो चुका हो। कहा गया है कि गुरु बीजा मिशन के बाद भी यदि ईश्वर-हवा न हो तो मनुष्य का जय-जय अर्थार्थ ही जाता है। उसके निय सततलोक में स्थान पाना तो दूर ही बात है वह मोह नाम को काटने में भी असमर्थ रहता है। गुरु नामक कहते हैं कि बहो भी हवा-इच्छि की अनेका रहती है

(नेप निघने पृष्ठ का)

- वैमल मरनु विमार्त्तिमा मन्मुक्त मुगम् गवार्त्ति ।
- गुरि रात्र मे ऊबरे सबा मरनु बीचारि । ७ २ मारु पृ० १०१० ।
- १ गान्धेयं मुगम्ये कर्त्तारं महा इणानुत्तर्यति ।
- गुणम्यग्ग परवेत्तिमर्भावं मोजाक्यनि ।
- अप्याय १४ स्तोत्र १९ पीठा ।
- २ पुनातेतानपीप्य आग्नेही देह लमुद्भवान् ।
- अग्य मृग्य जरा कुर्बैविमुक्तोऽमृतममृतुने । स्तोत्र २० अप्याय १४ ।

ही दूर हो सकती है। माया-बन्धनों में पड़े जीव को अपनी स्थिति को पहचानने माया की कृटिमता से परिचित होने तथा उससे बचने और सज्ञान प्राप्त कर मायालोक को छोड़ सतलोक की ओर प्रयाण करने में कोई सच्चा महापुरुष ही सहायक हो सकता है। गुरु नानक साहिब ने इस भाव को यों प्रकट किया है—

बिनु माइया बिनु मोहिपा भाई बतुराई पति छोई ।

बिनु महि ठाकुर सधि बसै भाई जे गुरु गिमान समोई ।^१

आगे दिखाने हैं कि विश्व में रहते हुए जीव को राज्य सम्पत्ति रूप जाति या पीढत का बहुत मान होता है। परन्तु ये सब मायावी आकर्षण हैं (ऊन) इनके द्वारा समस्त जगत ठसा जा रहा है। केवल वही सीमाम्यन्तारी जीव जिसे गुरु-बन्धनों में बाध मिला है, इसकी ठसाई से बच पाता है। बाकी सब सत्कर्म-विहीन होने के कारण उक्त ठनों द्वारा उलपीड़ित होते हैं।^२ काम कोबाधि उन्हें बाध पहुँचाते हैं अति कष्ट का सामना करना पड़ता है—

अबदि पंच हम एक बना । किउ राखउ घर बाह बना ।

मारहि नुठहि पीत नीत । किनु जाम करी पुकार बना ।^३

बड़ा कठिन प्रश्न है माया के मुण्डों से क्योंकर बचा जाय ? पुनः स्वयं ही गुरु नानक सुझाव देस करते हैं—

गुरु परसाही उबरे सच्चा नामु समालि^४

गुरु की शरण में जाना और नाम-आप करना ये ही माया की कृष्टता की पहचानने के मुख्य साधन हैं। मनमुषी बना यह जीव दुनिया बंधों में फँसा है यह नहीं विचारता कि प्रस्तुत स्थिति माया है और इससे बचना श्रेयस्कर। वह तो काम-भरण के बन्ध में पड़ा परिवर्तनहीन विश्व के तथाकथित आकर्षणों में मूग्ध हुआ है। किसी उश्रुष की प्राप्ति और उसके शय्यो-उपदेशों का विश्वास और व्यवहारपरि ही जीव द्वारा माया की दार्शनिक पहचान के आधार बन सकते हैं।^५

१ पद २ ४ सोरठ बज्जपरी म० १ पृ० १३७ ।

२ राजु मासु रूप जाति बोबनु पजे ठप । एनी ठीं जगु ठगिमा बिनी न राजी सब । एना ठगिहि ठप से जि गुरु की पंरी पाहि । नामक करमा बाहरे होरि कैये मुठे बाहि । पद २ । मत्तार की बार, म० १ पृ० १२४४ ।

३ पद १ २ १४ पठड़ी म० १ पृ० १२२ ।

४ १ ३ माक बज्जपरी म० १ पृ० १००६ ।

५ धर्य बाबठ जगु बाबिजा ना बूसी बीचारि ।

४ माया से छुटकारा

माया विश्व-बन्धन का प्रतीक है। आवागमन से मुक्ति एक सततनृत्य-विषय के लक्ष्यों की प्राप्ति इसके आचरण की विरोधी किये बिना सम्भव नहीं। यह त्रिगुणात्मक-आचरण समष्टि-चेतन में एकभाव होने से ही इटाया जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने गुणों की ध्याना के बाद आत्मा के परमात्मा रूप की प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस काल में द्रव्य लक्ष्य समष्टि चेतन में एकीभाव से स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणों के निवाय अस्य किसी को कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणों में बँटते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणों से परे सच्चिदानन्दमय स्व रूप परमात्मा को तन्त्र में जानता है। उक्त काल में वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।^१ तथा वह पुरुष इस स्थूल शरीर को उत्पत्ति के कारण रूप तीनों गुणों को उन्मत्तन करते अन्न मृत्यु बुढ़ावस्था और सब प्रकार के दुर्बलों से मुक्त हुआ परमात्म को प्राप्त होता है।^२ प्रश्न उठता है कि इन तीनों से परे क्योंकर बसा जाय ?

गुरु नामक दृष्टिकोण से यहाँ माया-मुक्ति के आचरणों पर भी विचार करना सेना अनुचित न होगा। गुरु साहित्य का चिन्तामय या कि जीव इतना असक्त है कि बिना योग्य महायज्ञ के वह माया-बन्धनों को काटने का सामर्थ्य नहीं रखता। इसकी सम्भावना किसी संसुप्त की शरण में माने नाम का जान करने अथवा पुरुष-कर्मों की पारिष्कृता हेतु प्रभु-रूपा हो जाने में ही अनुभव की जा सकती है।

(क) प्रभु-रूपा—माया-बन्धनों से मुक्ति का मुख्य आचार स्वयं प्रभु निरकार की रूपा है। जिसके सम्बन्धों पर मनपुरुष का बर्तव्य उक्त यथा वही माया की मीमांसों के पार स्वयं मनपुरुष का ही हो गया। प्रभु के सम्मुख माया विभक्त है चाहते हुए भी वह उन जीव को पक्ष भ्रष्ट नहीं कर सकती जिस पर प्रभु की रूपा से मायाबी रहस्या का उद्गमन हो चुका हो। कहा गया है कि गुरु बीजा मिलने के बाद भी यदि ईश्वर-रूपा न हो तो मनुष्य का जन्म-जन्म अन्तर्ग हो जाता है। उसके विषे मतस्रोत में स्वात पाता तो दूर की बात है वह मोह जान को काटने में भी असमर्थ रहता है। गुरु नामक फलमार्थ है कि वही मी रूपा-दृष्टि की ध्येया रहनी है।

(देव विद्वान् गृह्य का)

अंगन करणु विमारिजा मन्मथु मृगणु गगारि ।

पुरि रात्र से ऊहरे लका नन्दु बीषानि । ७ २ मास १०१० ।

१ नान्तं गुनेस्य बर्तारं यदा दृष्टानुगमयति ।

युवम्यहं परबेतिमन्मार्थं मोजाब्दति ।

अध्याय १४ श्लोक ११ गीता ।

२ पुनातेमाननीय मीधेही वैह ममूरमवान् ।

अन्न मृत्यु ज्ञात दुर्बलमुक्तोऽन्यममृते । श्लोक २० अध्याय १४ ।

ही दूर हो सकती है। माया-बन्धनों में पड़े जीव को अपनी स्थिति को पहचानने माया की कुटिलता से परिचित होने तथा उससे बचने और सद्व्यंग प्राप्त कर मायाभोक को छोड़ सतभोक की ओर प्रयाण करने में कोई सच्चा महापुरुष ही सहायक हो सकता है। गुरु गानक साहिब ने इस भाव को यों प्रकट किया है—

बिन्दु माइभा बिन्दु मोहिया भाई अनुराई पति जोई ।

बित महि ठाकुर सचि बसै जाई बे गुब विमान समोई ।^१

आगे लिखते हैं कि बिस्व में खूबे हुए जीव को राज्य सम्पत्ति रूप, आति वा योवन का बहुत मान होता है। परन्तु ये सब मायावी आकर्षण हैं (ठाग) इनके द्वारा समस्त जगत ठपा वा रहा है। केवल वही सीमाग्यनामी जीव जिसे गुरु-परमा में मान मिला है इनकी ध्याई से बच पाता है। बाकी सब सत्कर्म-बिहीन होने के कारण उक्त ठ्यों द्वारा उल्टीकृत होते हैं।^२ काम-ओबादि उन्हें बास पहुँचाते हैं अति कष्ट का सामना करना पड़ता है—

अवरि पंच हुम एक बना । किउ रासउ बर बाव मना ।

मारहि नुठहि नीत नीत । किमु जाई करी पुकार बना ।^३

बड़ा कठिन प्रश्न है माया के गुणों से क्योंकर बचा जाय ? गुरु स्वयं ही गुरु गानक मुझाब पैस करते हैं—

गुब परसाबी उबरे सचा नामु समाति^४

गुरु की शरण में जाना और नाम-जाप करना ये ही माया की कुटिलता को पहचानने के मुख्य साधन हैं। मनमुखी बना यह जीव दुनिया बंधों में फँसा है यह नहीं विचारता कि प्रस्तुत स्थिति माया है और इससे बचना श्रेयस्कर। वह तो जन्म-मरण के चक्र में पड़ा परिवर्तनशील बिस्व के तत्कालित आकर्षणों में मूग्ध हुआ है। किसी संसुब की प्राप्ति और उसके धर्मों-उपदेशों का विश्वास और व्यवहारपरि ही जीव द्वारा माया की वास्तविक पहचान का आधार बन सकते हैं।^५

१ पर २ ४ छोट्ट बल्पबी म० १ पृ० ६३७ ।

२ राजु माहु रूप आति ओबनु पबि ठर । एनी ठमी अगु ठमिबा विनी न राजी लर । एना ठमहि ठम छे जि बुब की पैठी पाहि । गानक करमा बाहरे होरि कैठे मुठे आहि । पर २ । मत्तार की बाट, म १ पृ० १२८८ ।

३ पर १ २ १४ मजड़ी म० १ पृ० १३३ ।

४ १ ३ मारु बल्पबी म० १ पृ० १००६ ।

५. बंधे बावत अगु बाबिबा ना बुझी बीचारि ।

४ माया से छुटकारा

माया विस्म-बन्धन का प्रतीक है। आकाशमन से मुक्ति एवं सतपुरुष-मितन के सदर्थों की प्राप्ति इसके आचरण को विधीर्ष किये बिना सम्भव नहीं। यह त्रिमुक्तात्मक-आचरण समष्टि-चेतन में एकमात्र होने से ही हटाय जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने मुर्षों की व्याख्या के बाद आत्मा के परमात्मा रूप की प्राप्ति का बयान करते हुए कहा है कि जिस काल में द्रष्टा अर्थात् समष्टि चेतन में एकीबाध से स्थित हुआ छात्री पुरुष तीनों गुणों के विबाध बन्धन कित्ती को कर्ता नहीं देखता है अर्थात् पुण ही गुणों में बर्तित है ऐसा देखता है और तीनों गुणों से परे सच्चिदानन्दपन स्व रूप परमात्मा को तत्त्व में जानता है उस काल में वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।^१ तथा वह पुरुष इस स्पृश सरीर की उत्पत्ति के कारण रूप तीनों गुणों को वर्णन करके अम्म मृग्य, वृद्धावस्था और एक प्रकार के दुर्बलों से मुक्त हुआ परमात्म को प्राप्त होता है।^२ प्रश्न उठता है कि इन तीनों से परे क्योंकर पसा जाय ?

गुरु मानक दृष्टिकोण से यहाँ माया-मुक्ति के साधनों पर भी विचार कर सेना अनुचित न होगा। गुरु साहिब का विश्वास था कि जीव इतना अशक्त है कि बिना योग्य सहायता के वह माया-बन्धनों को काटने का सामर्थ्य नहीं रखता। इसकी सम्भावना किसी सरगुरु की शरण में जाने नाम का बाप करने अथवा पूर्व-कर्मों की मारिबद्धता हेतु प्रभु-कृपा हो जाने में ही अनुभव की जा सकती है।

(क) प्रभु-कृपा—माया-बन्धनों से मुक्ति का मुख्य आधार स्वर्ष प्रभु निरकार की कृपा है। जिसके सम्बन्धों पर सतपुरुष का बरह-हस्त उठ गया वही माया की सीमाओं के पार स्वयं सतपुरुष का ही हो गया।^३ प्रभु के सम्मुख माया निशक्त है चाहेते हुए भी वह उस जीव को पक भ्रष्ट नहीं कर सकती जिस पर प्रभु की कृपा से मायावी चक्षुओं का उद्घाटन हो चुका हो। वहा मया है कि गुरु बीधा मिलने के बाद भी यदि ईश्वर-कृपा न हो तो मनुष्य का जप-जप अकार्य हो जाता है। उसके निरै सतसोक में स्वान पाता तो दूर की बात है वह मोह जाल को काटन में भी बयमर्ष रहता है। गुरु मानक फरमाते हैं कि वहाँ भी कृपा-दृष्टि की अपेक्षा रहती है

(येप लिखने पृष्ठ का)

अमण मरगु बिसारिआ बनमुल मुगयु गजारि।

गुरि राय से ऊबरे सबा सबकु बीजारि। ७ २, मारु पृ० १०१०।

१ नाल्यं गुणैस्य कर्तारं महा इत्यानुवाचयति।

मुन्यमश्च परदेतिमर्माभं मोक्षकथति।

अध्याय १४ श्लोक १६ पीना।

२ गुणानेतानतीत्य श्रीदेही वैह समुद्रमवान्।

अम वृत्तु ज्ञया दुर्बलमुत्ताभुनमगुने। श्लोक २० अध्याय १४।

उसी से मोह बन्धन कटते हैं और वही जीव क हरि-मिलन का वाचक बनती है।^१ जब तो यह है कि पुत्र की प्राप्ति ही हरि-रूपा का परिणाम है। सद्गुरु की उपसन्धि बड़े उच्च-कर्मों से हानी है—अस्तु वे ही प्रसू-रूपा के आधार भी बनते हैं। ईश्वर-श्रेया से पुत्र मित्रता है जीव नाम जपन में समर्पण होता है और यही सब मिलकर माया के अन्त का कारण बनते हैं। गुरु नामक ने बड़े स्पष्ट शब्दों में इस माय को प्रस्तुत किया है 'जीव पक्षी की भांति माया-पिण्ड में बन्ध है और हर समय मित्र-मित्र इन्द्रियों के क्षेत्रों से झोका है। (ऐन्द्रिक विषय-विकारों में पड़ा) परन्तु पिण्ड से (माया से) मुक्त होने का सामर्थ्य नहीं रखता उसकी मुक्ति स्वामी (प्रभु) की इच्छा पर निर्भर है। यह यदि चाहे तो पिण्ड के द्वारा कोमल कर पक्षी को स्वतन्त्र कर सकता है। अर्थात् माया-पिण्ड से जीव की मुक्ति सतपुरुष की कृपा से ही सम्भव है।'^२

(क) पुत्र-धरण कहना—मोह-माय में डूबे इस संसार से पार भयाने वाली आध्यात्मिक शक्ति कोई सतपुरुष ही हो सकता है। जिज्ञासु जीव जब माया की पहचान करने के उपरान्त इससे मुक्त होने को प्रयत्न नील होता है तो उसे किसी सरसुत्र की धरण में जाना आवश्यक-सा समझता है। पुत्र नामक ने लिखा है 'एतु मोहि कृपा संसार गुणमय कोई उतरे पारि'^३ कोई सच्चे पुत्र का शिष्य ही माया के बन्धन काटने का सामर्थ्य प्राप्त करता है। पाँचवीं पाठशाही पुत्र अक्षुभ्य का कथन 'उन सभु जम जाइआ हम गुरि राखे धरे माइ'^४ इस विचार की प्रत्यक्ष पुष्टि का चोखक हो सकता है। पुत्र बिहीन जीव सतपण का उचित निर्वहन न मिलने के कारण कर्म-काण्ड एवं बाहरी ज्ञान-गुण्य (आइम्बर) को ही माया से छुटकारे का मायन मान लेता है। परन्तु हमने छुटकारा तो कृपा, बन्धन बढ़ते जैसे पाते हैं। कर्म-काण्ड में फस की मौल भासा बनी रहने के कारण प्रायः फस मुक्ति के लिये नया बन्ध होता है। यही कर्म यदि बसता रहे तो योनि-बन्धन का कोई अन्त नहीं। केवल पुत्र ही जीव के कर्मों का अन्त कर उन निष्कामना की ओर प्रेरित करता है। तभी गुरु नामक ने लिखा है 'ऐ भाई, इस बिचर को तो माया ने बघों विजाओं

१ पुत्र बीधिया से जपु तपु नमाहि मा मोहु तुई मा जाइ पाहि।

नबरि नई ना एहु मोहु जाइ नामक हरि मिठ रहै समोइ।

५, ६, २१ आसा म० १ पृ० १३६।

२ पिण्डरि पक्षी बबिया कोइ। छेरी मरम मुक्ति न होइ।

तउ छुटै जा तसमु सुबाये। मुरमति मैल भयति इकाए।

७ बिलावल पिटी म० १ पृ० ८३६।

३ पद ३ २१ आसा म० १ पृ० १३६।

४ पद २ २ ६६, आसा म० ३, पृ० १६४।

ये कर्म-सूत की गाँठें लगा-जमा कर बाँध रखा है। कितने भी भले बुरे कर्म कमाते रहो ये गाँठें बुरे की सहायता और कृपा बिना नहीं खुल सकती।^१

(घ) नाम-जाप—नाम-जाप या उस बाह्यगुह का भजन-स्मरण भी उच्च कोटि की मोह भँवर और माया से जाप-जापक शक्ति है। गुह द्वारा शब्द-रहस्य जान लेने के बाद यदि जीव भजन-साधना में मन लगाये तो उसके मार्ग के मायावी विघ्न स्वयं ही कटते और हटते चलते हैं। नाम-जन ऐसी आध्यात्मिक वीरता है जो आत्मा का वास्तविक असकार बन कर उसकी लोभा-ज्योति से आन्तरिक ग्रह-मण्डलों के अन्धकार में भी प्रकाश की लहरियाँ दीक़ायी करती है। जहाँ अज्ञानी-मुह उस अन्धकार में ही मार्ग-अप्राप्ति के कारण भटक कर रह जाते हैं वहाँ नाम जपन वाली आत्मा लोभा-ज्योति के प्रकाश में मार्ग लोभ कर सठपुदप की मोद में पहुँच जाती है। भुव नानक फरमाते हैं कि सोना-बाँधी बाँध घातुर्ण (वीरता) सब मिट्टी में मिल जायगी—और केवल सतिगुरु-प्रदत्त नाम की बीरता ही जीव का जन्त तक साब होगी। जो नाम के रंग में रंगे गये हैं वेही निरमल हैं और परम-निर्मल 'सत्य' में लीन हो जान का सच्चा अधिकार रखते हैं।^२ इसीलिये गुरु साहिब विशेष उपदेश देते हुए कहते हैं 'ऐ भाई तू मोह और भ्रम का त्याग करदे तथा सच्चे नाम को जपन हृदय में बसा। यदि तू सच्चे नाम की परम-बीरता को प्राप्त कर लेगा तो तुम्हारे मन और बुद्धि का मिथ्या संशय नाशित और निश्चिन्तता में बदल जायगा।'^३

सार यह कि माया से छुटकारा पाने के लिये सत्कर्मों के बाध्य क्रमशः हरि कृपा पुन-मिलन तथा भजन-स्मरण की अपेक्षा है। जो पाने उसका मय्य नाम्य है दीप की भुव नानक के उपर्युक्त आदेश का अनुकरण करते हुए वास्तविक-सत्ता की लोभ में कटिबद्ध होना चाहिये।

१ इहू बगु तागो सूत को भाई यह दिख बायो माह।

बिनु पुष गाठि न छुई भाई पाके करम कमाह।

१-२ सोरठ अष्टपरी म० १, पृ० ११२।

२ सुरता कृपा धम बागु है माटी रति जाई।

बिनु नाई बासि न चलई सतिगुरु बुसि बुसाई।

नानक नाम रते से निरमले साई रहै समाई।

२-३, माक अष्टपरी म० १ पृ० १०१२।

३ मोह अह भरमु तबहु तुम्ह बीर, साबु नामु निर्ई रई सरीर।

सबु नामु जो नबनिधि बाई रोई पुगु न कल्पे माई।

१-२ २३ बासा म० १ पृ० १२६।

गुरु-नानक का दार्शनिक-लक्ष्य

छोड़तु कामु कोषु कुरिजाई । हजमै धंनु छोड़तु संपदाई ।
 सतिगुरु सरनि परतु ता चबचु । इज तरीमे अबबल भाई है ।
 (८ : ६ पाक)

१ धर्म और दर्शन

सुन्दर वस्तु का नुस्खाकन करण हुए, केवल उसका भौतिक अस्तित्व ही नहीं देखा जाता। उसके सौंदर्य से एक अत्रात आत्म-सुखि का अनुभव भी होता है। यह अनुभव अतीन्द्रिय-सत्य कहा जा सकता है जोकि निश्चय ही सौन्दर्य-नुस्खाकन का वास्तविक आधार है। वैदिक-जीवन में ऐसे अतीन्द्रिय-सत्त्वों का आभास जगमग प्रत्येक कदम पर पाया जाता है। ऐन्द्रिक-जगत से परे के इन आकर्षक-सत्त्वों को पहचानने की उत्कण्ट इच्छा हमारे अन्दर की कुरेखती रहती है। और जब-जब मनुष्य की बौद्धिक-साधना, उक्त इच्छा से पराभूत होकर स्वयं से किसी सत्य का लाभने और भौतिक-जगत से उसका सम्बन्ध जानने का सराहनीय प्रयत्न करती है, तबो दर्शन का जन्म होता है। इसके विपरीत अतीन्द्रिय परम-सत्य की जानकारी के लिए मनुष्य के अज्ञान-मुक्त महान् प्रयत्न तथा उनके साथ में बसा हुआ जीवन-यापन धर्म के जनक है। आशय यह कि परम सत्य के आभास की बौद्धिक और सैदान्तिक प्रसाधना से दर्शन तथा उसे जीवन के वैदिक-स्मरण और मानसिक-उद्देक में बटा सेमे से धर्म का उदय होता है। इस प्रकार परिचयी विचारकों ने धर्म और दर्शन को पुदा नुरा दृष्टिकोणों से देखा है। वे कहीं धार्मिक के लिए धार्मिक एवं नैतिक जीवन की अनिवार्य रूप में नहीं देखते। परिचय में ही एक और विचारधारा उपर्युक्त धर्म का विरोध करती हुई बोल पड़ती है। हेबल और वाच सरीखे धार्मिक दर्शन और धर्म को केवल सैदान्तिकता और व्यावहारिकता के अन्तर्ग से नहीं देखना चाहते। उनका विश्वास था कि दर्शन की प्रत्येकव्यारथा वास्तव में धर्म का स्वरूप निम्ने रहती है। और धर्म की प्रत्येक साधना दर्शन के अन्तर्गत अपना निजी स्थान रखती है।¹ इन दोनों विचार-कोणों में अन्तर-अधिन विचार अधिक फुल्ल-संवत बीग पड़ता है। दर्शन और धर्म को पृथक-पृथक पृष्ठभूमि पर बैठाने का मतलब होना दोनों को स्थान फुल्ल करना। दर्शन वास्तव में ज्ञान का वह भाग है, जो अतीन्द्रिय अनुभवों तक पहुँचाने के लिए मनुष्य को अस्वायी रूप से जातव्य या स्वरूप प्रदान करने का भी सामर्थ्य

1 Philosophy only unfolds itself when it unfolds religion and in unfolding itself it unfolds religion—Philosophy of Religion by Hegel Vol. I p. 19

रखता है। इससे ज्ञाता आत्मिक और ज्ञान एक ही सूत्र में बँध जाते हैं और ईश का प्रश्न न रहने के कारण अतीश्रीय-सत्य जिज्ञासु की अनुसृत वस्तु बन जाती है। ठीक है कि पदार्थवादी दृष्टिकोण से हम वस्तु का वस्तु से भिन्न रह कर करते हैं, परन्तु आध्यात्मिक स्वरूप हमें इसके विपरीत एकीकरण की आधार-भित्ति पर ला जाता करता है।

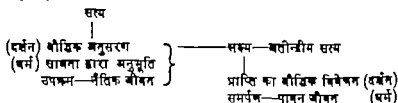
पश्चिमीय विचारकों के इन दो भिन्न मतों में से यदि हम पहला मत स्वीकार कर लें तो हमें कहीं-कहीं धर्म के क्षेत्र में भी आध्यात्मिकता से हाथ धोना पड़ेगा—जिससे अतीश्रीय-सत्य के आभास का प्रश्न ही बासांतर रह जायगा।

आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत अतीश्रीय-सत्य को सत्यम्, सत्त्वम्, सुन्दरम् का मधुर समन्वय स्वीकार किया जाता है और ईश्वर की कल्पना संसार के समस्त मीन्द्र्य के निर्माता तथा नैतिक-शासक के रूप में की जाती है। पदार्थवादी दार्शनिक जड़ पदार्थ का ही सत्य मानता है। उसके लिए नैतिक व्यवस्था हीन्दुदर्शन कुछ नहीं।' इसी प्रकार अन्य कोटि के दर्शन भिन्न प्रकार की विचारधाराओं का प्रवाह प्रस्तुत करते हैं। बीरे-बीरे ब्यावहारिक जीवन उन्हीं विचार-नीतियों का अनुसरण करने लगता है अथवा भिन्न धर्मियों की सम्भावना। आस्तिक विचारधारा से उपजित धर्म अतीश्रीय सत्य को व्यक्तित्व विशेष के रूप में देखता है। 'उक्त व्यक्तित्व में वह सत्य सत्व और सुन्दर की महान अनुसृतियों का आरोप करता तथा संसार की रचना ब्रह्मा और ब्रह्मा को उसी की इच्छा का परिणाम मानता है। इस व्यक्तित्व में जिसे हम ईश्वर कहते हैं, हमारी चेतना एक रहस्य मानना शोच नहीं है और हम उससे डरने लगते हैं कभी उसे अपने विश्वास और प्रेम का पात्र भी बना लेते हैं।' पदार्थवादी या नास्तिक विचारधारा से प्रथम तो सही ज्यों में धर्म का उदय ही नहीं होता परन्तु फिर भी जब ऐसी विचारधारा को व्यवहार में रखा जाता है तो अतीश्रीय-सत्य को जड़ लेकिन कमानुसृत प्रकृति का नाम दिया है। जड़ निर्माता का निर्माण निश्चित ही भौतिक नियमों पर आधारित होना अथवा पदार्थवादियों के मतानुसार जीवन में उन्हीं भौतिक नियमों से अभिप्राय प्राप्त करना महत्व धर्म की नींव कहा जायगा। आस्तिक विचार धारा क्योंकि सृष्टि के निर्माण को आध्यात्मिक और नैतिक नियमों से सम्बन्ध मानती है, इसीलिए (आस्तिक) धार्मिक जीवन की आध्यात्मिक और नैतिक नियमों से अभिप्राय को ही मनुष्य का सब्य स्वीकार करती है। एक अनुसृत ईश्वर का प्रसार देखता है दूसरा ईश्वर की व्यक्तित्व सत्ता को अमान्य ठहराता है। एक विश्व की एकता को परम-सत्य की महतीयता तथा नैतिक-धर्मियों को ईश्वर की उपस्थिति का प्रमाण मानता है तो दूसरा भौतिक शक्तियों और नियम-नियमों को ही संपूर्ण की एकता का कारण समझता है। दोनों अपने-अपने स्थान पर जाहे धर्म ही क्यों न रहे जाएँ

परन्तु उनकी क्रमशः दार्शनिक तथा वैज्ञानिक पृष्ठभूमि उनके स्तर में जाकाठ पातास का अन्तर प्रस्तुत करती ही रहेगी। परिणाम यह होगा कि दर्शन और धर्म दोनों का सत्य अतीन्द्रिय-सत्य माना जायगा परन्तु उनका स्वरूप क्रमशः सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रहेगा।

इन दोनों से इतर भारतीय विचारधारा अधिक मान्य कही जा सकती है। वह दर्शन और धर्म को अन्वेष्याभित्त मानने में यौरेक का अनुभव करती है। प्रस्तुत विचार-सरणी के अनुसार परम-सत्य की सत्ता त्रिधा-अस्तित्व के रूप में स्वीकार की जाती है। दर्शन उस सत्ता के अनुभव और अनुसरण का बौद्धिक उपक्रम पक्ष करता है। सामान्यतः सत्ता अत्यधिक अनुभव की ही वस्तु होने के कारण बौद्धिक पहुँच से बाहर रहती है और दार्शनिक को सत्य-सिद्धि के लिए भ्रष्टा पर आचारित साधना का आश्रय लेना पड़ता है। यह साधना धर्म है परन्तु क्योंकि बौद्धिक-गूर्णता (दर्शन) की उपलब्धि के लिए इसका अवलम्ब लिया जाता है अतः स्वयं दर्शन धर्म आचारित हो जाता है। इस प्रकार धर्म का पूर्व-रूप एवं उत्तर रूप दोनों दर्शन ही ठहरते हैं। क्रम इस प्रकार हुआ। मानव-मन में उक्त अतीन्द्रिय-सत्य का आभास तीव्र होता चलता है। वह बुद्धि द्वारा उसकी सम्पूर्ण व्याख्या नहीं कर पाता। पर्याप्त चिन्तन और मनन करने पर भी सत्याभास के तीव्रतर होने के अतिरिक्त कोई परिणाम उसके हाथ नहीं भवता। इस पर भी जब मनुष्य अतीन्द्रिय-सत्यों की स्वीकृति से विमुख नहीं होता तो मस्तिष्क की मेधा शक्ति से बसवती मनस् की थडा शक्ति का उदय होता है। जब विज्ञानु परिणाम बिहीन चिन्तन और मनन की नीमाओं का अतिक्रमण कर निर्विघ्नासन की ओर बढ़ता है। साधना का प्रस्तुत रूप मनुष्य को आध्यात्मिक और नैतिक नियमों से अभिप्रेता प्रदान कर, पृष्ठभूमि के आचार-सत्य को जानकारी का सामर्थ्य देता है। पुनः, साधना द्वारा प्राप्त सत्य के परिचय का बौद्धिक विवेचन किया जाता है। और इस प्रकार साधन-साधना और साध्य का भी सूत्र तैयार होता है उसमें कमी चिन्तन और मनन की ग्रन्थ मगाई जाती है तो कमी विज्ञान प्रेम और थडा की। सच तो यह है कि यदि किसी वस्तु के अस्तित्व पर हमें विश्वास ही न हा हमसे उमरा चिन्तन किये ही नहीं बनता। भावय यह कि भारतीय विचारधारा में दर्शन और धर्म दो बुदा पृष्ठभूमियों पर एक सत्य के गही नहीं अन्विक व एक ही आचार पर एक ही सत्य की खोज से परम्पर महयोगी बन जाग बढ़ते हैं। पश्चिमी विचारधारातः उन दोनों का सत्य तो अतीन्द्रिय-सत्य को पहचानता है परन्तु आचार क्रमशः सैद्धान्तिक और व्यावहारिक बुदा बुदा है। भारतीय चिन्तन इन दोनों के आचार रूप में बौद्धिकता और व्यावहा रिकता (चिन्तन और साधना) को पृथक-पृथक नहीं मानता। यहाँ बट्टेण रम्येन की याग्यता की तरह धर्म काई विकल्पित खेल नहीं है कि दार्शनिक उसे लस या न लेते यहाँ तो सत्य-सिद्धि के लिए दर्शन और धर्म दोनों महयोगी बन्पुर्ण हैं, जो नियन्त्रण कार्य

पूर्ति का श्रेय प्राप्त करती हैं। यहाँ धर्म से दर्शन का उदय होता है तो दर्शन की सीमाओं का अन्त धर्म के प्रवेश का आरम्भ माना जाता है। सार रूप में स्थिति इस प्रकार रहती है—



अर्थात् दर्शन और धर्म दोनों का आविर्भाव और अन्त एक ही है। जिस बाधा के कारण दर्शन का उदय होता है वही धर्म की जन्मदात्री बनती है। भारतीय पद्धति के अनुसार हमारा बौद्धिक और मानसिक स्तर बराबर साध-साध बनता है। इसीलिए, यथा सिक्के के मुख-मूर्त्यांकन में दोनों पाशों का सुबद्ध होना अनिवार्य है वैसे ही सत्य (परम-सत्य) के मूर्त्यांकन में दर्शन और धर्म कल्प से कल्प मिलाकर बनते हैं—एक की अनुपस्थिति में दूसरा अधूरा रह जाता है। परन्तु यह सब वही तक सत्य है जहाँ तक दर्शन को केवल पराभौतिक चिन्तन (Metaphysics) के रूप में देखा जाय। इसके परे क्रमानुगत-तर्कशील-विचारधारा (Logical Process) दर्शन को अधिकम्पित रूप से सत्य का बौद्धिक-अनुसरण तथा धर्म को सत्य प्राप्ति की राह में जीवन-यापन की विशेष प्रविधि मात्र बना देती है। विश्व के अनेक धर्म (मुस्लिम सिक्क आदि) उक्त तर्कशील विचारधारा से अछूते रहे हैं। इसीलिए यद्यपि उन्होंने पारम्पर्य दृष्टिकोण के अनुसार किसी बाह्यबाह्य विचार प्रणाली को जन्म नहीं दिया तो भी पराभौतिक-सत्यों का साधना-मुक्त बौद्धिक-विश्लेषण करने से वे प्रसिद्ध धर्मों की श्रेणी में रखे गए। सिद्ध-धर्म की कोई निजी विचार प्रणाली स्वीकार नहीं की जाती। धर्म प्रवक्तु कुर मानक शब्द के सीमित मात्र में शान्तिक न होकर अनुभवी साधक थे। उन्होंने पराभौतिक-सत्यों का चिन्तन साधना के माध्यम से किया। इसकी पृष्ठभूमि में विश्वास और प्रेम तो वाही साध में सात्विकता का समावेश हो जाने से जीवन की नैतिकता पराकाष्ठा तक पहुँच गई। सब अतीन्द्रिय-सत्य की प्राप्ति का आभास बौद्धिक-विश्लेषण का विषय बना जिससे दर्शन से दूर हट कर भी धर्म बचन का मात्र न छोड़ सका।

२ धर्म-शास्त्र (Philosophy of Religion)—समस्या का उदय

मानव-जीवन अनेक प्रकार की समस्याओं और उलझनों से संघर्ष करता हुआ प्रतिपक्ष अपसर हो रहा है। मार्ग में उसे ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से नैतिक अनुभूतियों की प्राप्ति होती है। आन्तरिक संवेदनार्थ उसकी मानसिक-अनुभूतियों का आभास बनती है। यहाँ विवेक की सहायता से मनुष्य अकटाई और कुरार का विश्वपन करता हुआ

सांख्यिक-अनुभूतियों का अधिकारी भी बनता है। जीवन की नैतिकता इसी पर आधारित है। ये तीनों स्थितियाँ जीवन के नैतिक या/और नैतिक निर्वाह का कार्य-क्षेत्र हैं जिससे मनुष्य को बाहरी-अनुभव का स्थायी कोप मिल जाता है। लेकिन इतना सब कुछ होने पर भी मनुष्य को आत्म-सुख नहीं होती। उसके अन्तर में एक जन्म-जात प्रवृत्ति पराधीनिक-क्षेत्र की किसी सच्चाई के प्रति उसे सर्वत्र प्रेरित करती रहती है। उक्त सच्चाई के परिचय-प्राप्ति की सम्भावना इतनी तीव्र होती है कि उसका कुछ भी ज्ञान न होने पर भी मनुष्य उसके प्रति विश्वास नहीं छोड़ता। इसी से धार्मिक चेतना का जन्म होता है। साधना रूप में चौबीस प्रकार की (पहली तीन—भौतिक मानसिक और सांख्यिक अनुभूतियाँ) आध्यात्मिक-अनुभूति की उपलब्धि के लिए उपक्रम पुढाए जाते हैं। स्पष्ट ही यहाँ धर्म मानव-जीवन और विकास का मुख्य तत्त्व दीख पड़ता है। बौद्धिक-क्षेत्र में इसी तत्त्व को विवेचना या उसकी सार्यकता-सिद्धि की अपेक्षा ही धर्म-दर्शन की समस्या को जन्म देती है। दूसरे शब्दों में मानवीय-अनुभवों के अन्तर्गत धर्म के सार्वभौमिक स्वरूप का विवेचन प्रतिपादन ही धर्म-दर्शन का मुख्य विषय है।

यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो धार्मिक-चेतना की पूठभूमि में भय और स्वीकृति की वृत्तियों का विघटन होता है। 'कुछ और की इच्छा' की इसमें सहायक है। विचार अनुभूति एवं इच्छा वास्तव में ये तीनों मानोवैज्ञानिक तत्त्व मनुष्य में धर्म-जड़ों की मीठ हैं। जब मनुष्य अतोन्नीय-मत्त्व के प्रति धोख-विचार करता है उसकी अनुभूति के लिए साधना का वाचन कामता है और उस तक पहुँचने की उत्कट इच्छा को बाध करता है ता स्वभावतः ही धर्म का उन्मूलन होता है। इसी का सांख्यिक-विवेचना धर्म-दर्शन का क्षेत्र है। लेकिन ध्यान रहे कि धर्म भावना को पुर्वम और अन्वेष्य मानुष्यता का पर्यायवाची न समझ लिया जाए। धर्म-भावना इससे बहुत ऊँची स्थिति है। उसके लिए इच्छा की सबलता अनिवार्य है। प्रस्तुत धार्मिक क्रम में तर्क और चिन्तन का अपना स्थान है। धार्मिक मान-दण्ड की उपलब्धि इसीसे होती है। आध्यात्मिक धर्म मूढ़ विश्वास के अतिरिक्त कुछ न रह जाएगा।

१ धर्म-दर्शन का ज्ञान-क्षेत्र

धार्मिक-चेतना मूलतः आध्यात्मिक प्रेरणा ही है। धारणा का साहित्यात्मक आधार स्वर्ग मन या आत्मा है। प्रायः हम लोग वेदसं ग्रहण को जान लेने को ही जानुर नहीं होते बल्कि उनका अनुभव करते हैं और उससे मिलना चाहते हैं। अतः धर्म-दर्शन को मनोवैज्ञानिक आधार पर हमारी उपर्युक्त धार्मिक-जागृति का विवेचन करना होगा है। धर्मोपलब्धि मनुष्य किसी व्यक्तिगत प्राप्ति तक ही सीमित नहीं होता। वह प्रायः एक सार्वभौमिक विश्वास की ओर बढ़ता है और इस भौतिक-जगत से परे के महोदय-क्षेत्र की कल्पना करने समता है। वह अपने से बाहर परमात्म की जानने

और उससे अपना सम्बन्ध जोड़ने का दम भी भरता है। सब प्रश्न पैदा होता है क्या उसका यह बचप भीति-संगत है? क्या मानव-मन की प्रवृत्ति और प्रशक्ति में यह सामर्थ्य है? अतः धर्म-दर्शन को धार्मिक-पारलामों सम्बन्धी (Epistemological Discussion) शास्त्रीय-वर्षा भी झपटाना होगी। विश्लेषण-विश्वास के स्वरूप का परीक्षण मूल्यांकन और चिंतन के साथ उसके सम्बन्ध की विवेचना धर्म-दर्शन के मुख्य कार्य है।¹

सामान्यतः धर्म के छ मुख्य अंग माने जाते हैं जिनमें विश्वास ज्ञान अनिर्धार्य है (१) शब्द जो संत-सहस्रनामों द्वारा अनुभव किया गया और जन-साधारण को उसके प्रति प्रेरित करने के लिए भाषा-बद्ध करके धर्म-अर्थों के रूप में प्रस्तुत किया गया। (२) पराधीनिक-शक्ति का अस्तित्व। (३) उस शक्ति-द्वारा प्रवृत्ति पर अनुशासन और कर्मानुसार दण्ड-पुरस्कार का आयोजन। (४) आत्मा का अस्तित्व। (५) साधना। (६) मुक्ति।² इन छ अंगों में से किसी भी एक के प्रति विश्वास का विचलित होना धर्म की अबाधित स्थिति का कारण बन सकता है। धर्म-दर्शन इन में से प्रत्येक की प्रयोजन युक्त व्याख्या प्रस्तुत करता है। वह सिद्ध करता है कि मध्य का निमित्त क्या है वह किन मंत्रियों से होता हुआ धर्म-अर्थों के रूप में उपसम्भ हुआ है। पराधीनिक-शक्ति क्या है? उसकी सत्ता की अतन्त्रता का अभिप्राय तथा उसका सविधेय और निर्विधेय रूप क्या है? विश्व-कर्म में धर्म का प्राथमिक रूप और उत्तरोत्तर उसके प्रभावानुसार मनुष्यों द्वारा दण्ड-पुरस्कार का भोग? इन सब प्रश्नों की विवेचना धर्म-दर्शन का विषय है। आत्मा का अस्तित्व शैतिक बन्धन छूटकारे के लिए साधना एवं स्वर्ग मुक्ति—सब धर्म-दर्शन के माध्यम से शैतिक-अनुशीलन का क्षेत्र है। अतः कहना न होगा कि धर्म की सम्पूर्ण पराधीनिक-स्थिति जब अनुभूति के दीप स तर्क के क्षेत्र में अवतरित होती है तो वही विशिष्ट-व्यक्त बन जाती है। इस प्रकार धर्म-दर्शन का क्षेत्र 'धर्म' से विस्तृत एवं 'दर्शन' से संकरा ठहरता है।

सुव मानक विचारधारा में उपर्युक्त छहों अर्थों का स्पष्ट स्वरूप उपसम्भ है। बाणों में प्रत्येक अंग पर पर्याप्त बहाव टासा गया है। सिद्ध-धर्म का मध्य प्रासाद हमी नीच पर सुनिमित्त दीप्त पड़ता है। नृणाणी इन अर्थों का व्याख्यात्मक या विश्लेषणमक चिन्तन नहीं सम्भूत नहीं करती—किस विश्वास रूप में इन्हें स्वीकार किया गया है। इसनिये कहा जा सकता है कि गुरुओं की असूय बाणी सिद्ध-धर्म है जीवन-साधन का एक मुहंग है सिद्ध-दर्शन नहीं। हाँ यदि मिग-गुरुओं के इन विश्वासों और नियमों का विवेचन किया जाए, उनकी सापेक्षता या निरर्थकता पर तर्क जुटाए जाएँ वा शैतिक-

1 Philosophy of Religion by Prof. Galloway

2 A critical Examination of the Philosophy of Religion Vol. I by Sadhu Santinath

विश्लेषण-प्रस्तुत हो (जो कि इस प्रकार का मुख्य विषय है) तो वह स्वरूप सिकन्दों का धर्म-दर्शन कहलाएगा।

४ गुरु मानक का दार्शनिक सत्य^१ और उसकी सिद्धि

गुरु मानक के मतानुसार मानव-जीवन का महनीय प्रयोजन है अपने अन्तर की चिरम्योति को साक्षात् करना और उसके साथ एकमेव-मात्र उत्पन्न कर उसी में सीन हो जाना। सीने क्षणों में गुरु मानक का सत्य आत्मा-परमात्मा के मिश्रण से कुछ भी कम नहीं। भारतीय-विचारधारा में इससे पूर्व कई प्रकार के सत्त्वों और साधनों के संकेत उपलब्ध हैं। विश्वमययात्मक-दृष्टिकोण से देखने पर उनमें स अधिकतर वा केवल भौतिकबारी होने के कारण शारीरिक-स्वास्थ्य और सांसारिक-सम्पदा तक ही सीमित मिलते हैं। उन जादसों में आध्यात्मिकता का किञ्चित्-स्पर्श भी सुझाई नहीं देता। वैदिक-काल में ऐसे सिद्धान्त भी दृश्य हैं जिन्होंने सांसारिक-कष्टों से तप भाकर किसी अत्यन्त रमणीक व सुखदायी स्थान की कल्पना करली है और उसकी प्राप्ति (स्वर्ग प्राप्ति) के लिए षण-तप-यज्ञादि का आशय लिया है। कर्मकाण्ड द्वारा स्वर्ग में पहुँच जाना ही उनका विशेष प्रयोजन था। इसका विरुद्ध अविश्वासियों को डराने और उन्हें भी कर्म की ओर प्रेरित करने के लिए उन्होंने अतिरिक्त प्रद स्थान (नरक) को भी कल्पना कर रखी थी।

कुछ दूसरे चिर-मुक्ती होना ही अपना लक्ष्य मानते थे। उनका विश्वास था कि मुक्त आस्तब में आत्मा का स्वभाव है। वह सत् चित्, तथा मानस्य का रूप है। अतः उसने सही-रूप को पहचान लेने मात्र स ही मुक्त-प्राप्ति सम्भव है। योपी समाज ने तो दुःख का कारण प्रकृति को माना था और प्रकृति जबवा माया को प्रकृति (सद्यार) का कारण। अतः वे सोम बाहर से अपने स्थान को हटा लेने मात्र को ही अपना लक्ष्य समन रहे थे। जन्तुमूर्ती होने के लिए वे साधन योग-साधना में प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों को निमित्त कर मनको एकाग्र करतें थे। उनका विश्वास था कि इस प्रकार समाधि में सीन होकर सत्ता के स्वरूप का भाग्यद सिद्धा जा सकता है। महात्मा-बुद्ध ने नर्मर के बुद्धों पर विजय पाता ही महद्-आत्म स्वीकार किया था और उसके सिधे निश्चित तथा बुद्ध-आवन-यापन (अष्टमार्ग) का उपदेश दिया था। संसृष्टों की दृष्टि हमका आचार बनाया गया था। वैशान्तियों ने अज्ञान को ही बन्ध का सबसे बड़ा कारण माना था। माया से इनर मत्य-ज्ञान की प्राप्ति और

१ ऊपर 'धर्म-दर्शन' में यह बताया था बुद्धा है कि गुरु मानक दार्शनिक न होकर अनुभव की साधक था। यह भी सिद्ध किया गया है कि भारतीय विचारधारा में आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता एक ही मूल की वा शाखाएँ रही हैं और उन पर एक ही जैसे पत्र मपते रहे हैं। इसलिये गुरु मानक के आध्यात्मिक-सत्य को ही उनका दार्शनिक-सत्य स्वीकार करने में कोई अत्युक्ति न होगी।

उसके माध्यम से ईश्वरैक्य समझा जाय या। इस प्रकार गुरु नामक से पूर्व अनेक धार्मिक-सिद्धान्त अपने-अपने आदर्शों की ओर संकेत करते हुए दर्शन का विषय बने। सबमें अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं और कमियाँ भी। गुरु नामक का सत्य सबसे ऊपर और सर्वतोपूर्ण कहा जा सकता है। स्पष्टता के लिए हम उपरिस्थानेकित आदर्शों का विश्लेषण करते हुए गुरु नामक के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करेंगे।

आध्यात्मिकता के प्रस्तुत विषय का विश्लेषण करते हुए भौतिकवाद से उसका कुछ भी तुलनात्मक अन्तर दिखाने का प्रयत्न करना धर्म में समय का अपव्यय होगा। अतः पदार्थ-ब्रह्म के इस अनात्मक विश्लेषण को यों ही छोड़ हम सीधे कर्म काण्ड द्वारा स्वर्ग प्राप्ति के स्वप्नों के आदर्श की ओर बढ़ते हैं। कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। परन्तु आध्यात्मिक-क्षेत्र में अब मनुष्य अप-तप यज्ञ वशिष्ठान् आदि कर्म करने लगता है और उसे कुछ सिद्धि का आभास होता है तो उसके अन्तर की पूर्ण स्थित अभिमान-वृत्ति सकल हो उठती है। धीरे-धीरे उसमें अभिमान (हठ) बढ़ने लगता है और प्रायः घायक अपने वास्तविक मार्ग से विचलित हो ब्रह्म-मुक्त होने की अपेक्षा अधिक ब्रह्मों में फँस जाता है। जिस प्रकार एक साफ़ वस्तु को ढोकर यदि मैंसे कपड़े से ढोखा जाए तो वह पुनः मँसी हो जाती है वैसे ही हठ की मँस के रहते हुए सच्चाई की ओर किए गए कर्म भी मँसे हो जाते हैं। फल यह होता है कि स्वर्ग-प्राप्ति की भांति क्षीण होती जाती है और विश्व-बंधन सुदृढ़ होने से आवागमन का अशक्य गति से चलता रहता है। अतः सिद्ध है कि वैदिक-काल का उक्त आदर्श जिसमें स्पष्ट हूँ नहीं न कहीं भौतिक-दृष्टा छिपी रहती है अपने में सम्पूर्ण नहीं। सामन भी आश्चर्य-मुक्त अधिक है साधना-मुक्त कर्म। गुरु साहिब कर्म के विरुद्ध नहीं लेकिन वे बीच को ऐसे कर्म की ओर प्रवृत्त देसना चाहते हैं जो हठ की बीमार को तोड़ सके। अप-तपदि से तो कमी-कमी अभिमान बढ़ने लगता है वैसे कि पौराणिक ऋषियों-मुनियों की गाथाओं से प्रकट है। गुरु साहिब ने भी लिखा है —

जापु तापु गियान सब भिजान । सट सातत्र सिधुति बसिमान ।
बोय अभिमास करम घरम किरिआ, समय तियागि बन मथे किरिमा ।

■

✕

✕

नहीं मुक्ति राम नाम बीबार । नामक मुस्तुकि नाम जपीये इक बार ।

१ ३ मउड़ी सुलमनी म० ३ पृष्ठ २६३ ।

हठ कोड़क कर्म 'रहित-कर्म' कहाते हैं। इनके द्वारा मनुष्य की अन्तरात्मा को विशेष-आर्य पर लपाया जाता है। भाई साहिब ओबसिंह जी का विश्वास है कि ये कर्म मनुष्य की अपनी बुद्धि की उपज नहीं होते बल्कि वे गुरु-शार्यों और उपदेशों की स्वामाधिक प्रतिभियाँ हैं। इनकी कमाई गुरु के हुकम में चलते हुए की

जाती है। ये बन्धित नहीं। इनसे मुक्त की उपसक्ति होती है। ऐसे कर्म बन्धन का कारण भी नहीं बनते क्योंकि इनमें मनुष्य की निजी मीनिक-इच्छा कुछ नहीं होती। गीता में श्रीकृष्ण ने जिसे निष्काम-कर्म कहा है उसी के पर्याय हैं ये। आगे चलकर इनसे कुछ सहज-कर्म उत्पन्न होते हैं जो मनुष्य को स्वभावतः सत्त्वियामों की ओर समाते हैं। अस्तु यदि जीव मुक्त-जाज्ञा में जसता हुआ ऐसे कर्मों का आशय न तो वह प्रभावहीन कर्मकाण्ड तथा हठमै के बन्धनों से पूरी तरह बच सकेगा और पृथ्वी पर ही स्वर्ग-सरीखे कल्पित सुख का भोग करता हुआ पूर्णता के सत्य को समझे और अपनाएगा। यही उसको कर्मनुसार विजय होगी।

जो विचारक आत्मा को सत् चित् तथा जानस्य रूप मानकर उसकी वास्तविक पहचान को ही जीवन-तत्त्व मानते थे व भी मुदमत में लपूरे-लपूरी ही कहे जाएँगे। निस्सन्देह निश्चय की पहचान अनिवार्य है इमक बिना जीव अपनी मार्पकता को ही समझ नहीं पाता लक्ष्य-सिद्ध की ओर क्योंकर जगनर होगा? परन्तु मिल विचार धारा लक्ष्य को इतना सीमित एवं निश्चय नहीं देखती। गुरु नामक आत्म ज्ञान को आश्चर्यक मानते हैं परन्तु यह उनकी लक्ष्य-मिद्धि नहीं। उनका विश्वास है, अपने को पहचानने के बाद निरंकार की पहचान करना वास्तव में परम-मद की प्राप्ति का मायार बन सकता है। प्रश्न उठता है निरंकार का ज्ञान क्या है? इस पर माई जीव सिंह जी उत्तर देते हुए मिलते हैं^१— 'निरंकार की न तो को शक्ति है और न ही उसका अस्तित्व विचार का विषय बन सकता है। उसके अस्तित्व में निश्चय विश्वास माना तथा अन्तरात्मा में सर्वत्र उसका अनुभव करना ही वास्तव में उसका ज्ञान है।

बाके रिर्ब बिस्वासु प्रनु आइमा । तनु गियानु तितु मनि प्रयटाइमा ।

२ १७ गठड़ी सुगमनी म० ३, पृ २८५ ।

तथा इस ज्ञान की प्राप्ति का तरीका नाम है—

नाम संप जिसका मनु मनिमा । नामक तिन ही निरंजन आनिमा ।

३ १४ गठड़ी सुगमनी म० ३, पृ २८१ ।

इसमिये निश्चय की पहचान के बाद नाम में मन रमाना वास्तविक लक्ष्य मिद्धि का साधन बन सकेगा—

आपि पछान रहै तिव लाग । जमनु जीति गुरमति बुनु भापा ।

९ ४ बर्मत जल्परीजा म० १ पृ० ११८६ ।

योकी भोग बाहरी प्रकृति (मामा एवं प्रकृति) को ही बुद्ध का कारण मानते

हैं इसलिए वे अपने ध्यान को उधर से हटा लेने मात्र को अपना लक्ष्य समझते हैं। उनके लिए माया संसार का कारण है। अतः उन्हें स्पष्ट ही यह कहेया कि कारण (माया) से छूटकारा पाने की इच्छा रखने वाले को कार्य (संसार) से भी छूटकारा पाना आवश्यक हो जाएगा। दूसरे-लोग हठयोग एवं प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों का निरोध कर अन्तर्मुख होने का जो प्रयत्न करते हैं वह भी कर्म-कारणियों की भाँति फसोत्पादक नहीं होता। कारण स्पष्ट है—इन क्रियाओं से अन्तर का मैल साफ नहीं होता। पुत्र चाहिये ने सिखा भी है—

बाह्य धोये अंतर् मनु मैला बौह ठगर अपुने धोये ।

ईहा कामि कोच मोहि क्रियापिया मानै मुसि-मुसि रोये ।

१ ३ ४२, भासा म० ५, पृ ३८१।

योगियों का यह विश्वास कि समाधि में लीन होकर सत्ता के स्वरूप का आनन्द लिया जा सकता है बहुत दूर तक ठीक है। परन्तु कुशल प्रस्तुत समाधि के लिए इन्द्रिय-निरोध की कोई आवश्यकता नहीं मानता बल्कि प्रेम और भक्ता का आश्रय से ब्रह्म के मुखों के साथ-साथ परम-पद की ओर बढ़कर होने की प्रेरणा देता है। कुछ नामक बुद्धों और सिद्धों के इस प्रकार के निवृत्ति-मार्ग के विरुद्ध रहे हैं। परम-पद की प्राप्ति के लिए बार-बार का कार्य-व्यापार करते हुए बुद्ध की शिक्षा का हड़ करों और सांसारिक कष्टों पर बिजब पाओ। 'गुरुमत-निर्णय' में प्रसंग से सम्बन्धित 'सिद्ध कोष्ठी' से एक उद्धरण प्रस्तुत किया गया है। सिद्ध प्रश्न करते हैं—

दुनिया सागर बुतब कहीऐ किज करि पईये पारो ।

बरपटु बोसै जाउपु नामक बेहु लखा बीचारो ।

४ रामकृती सिब कोसठी म० १ पृ० १३३।

इस पर कुछ नामक उत्तर देते हैं—

जैसे जल महि कमनु निरालनु गुरगाई नैसाने ।

गुरसि सबदि भब सापब तरीदे नामक नाम बजाने ।

रहहि इकांत एको मनि बलिभा भासा माहि निरासो ।

अगपु अशोचब देखि बिखाए नामक ताका वासो ।

५ रामकृती सिब कोसठी पृ० १३३।

अतः कुछ नामक के मतानुसार यदि जीव मिस्रु बन अंदलों में पटकने अपना योगी बन इन्द्रिय-निरोध करने की अपेक्षा ब्रह्म में रहते हुए जीवन में सत्य-संयम की हडि करे, बुद्ध के उपदेशों को व्यवहार में लाए और चित्त को एकाग्र कर नाम-जाप करे तो वह परम पद को पा सकता है। बर-परिवार त्यागने के बजाय,

काम क्रोध कुराह्यां तन्मयता आदि छोड़कर सतमुख की तरफ प्रवृत्ति चाहिए—
 ने में मध्य सिद्धि है ।^१

माया को संसार का कारण मानने वालों में वेदान्तियों का नाम भी पाया है ।
 सत्य ज्ञान को मध्य बना माया की उपेक्षा कर इस झूठे संसार से भागते हैं । उनका
 ज्ञान संसारेतर है समा-सम्बन्धित नहीं । बिना उनके लिए विष्णु-महत्त्वहीन
 हो जाता है परन्तु यह मानक इसे यथातथ्य स्वीकार नहीं करते । वे संसार को
 या वा नैस ठो मानते हैं परन्तु वेस से कथरान की उपेक्षा वे उसमें शक्ति रखते
 । उनके मतानुसार संसार के मायावी-श्रेणों से पीछे निर्दकार ब्रह्म का हुकम कार्य
 होता है अतः वे उपेक्षाधीन कल्पित नहीं । भाई जोषासिंह जी मिलते हैं 'ब कुवरत
 कसौटी जानकर इससे भागते नहीं । वे कुवरत में कादर का बसवा देकर प्रमद
 ते हैं—'बमिहारी कुवरति बसिभ्रा'—(१ १२ श्लोक म० १ आसावीषार,) वे
 बसे प्यार करते हैं । इसीलिए यह साहित्य ने गृह्य या कार-व्यवहार का त्याग नहीं
 किया बल्कि कर में खूकर, नाम-बाप और सब कमान से परम-पद की प्राप्ति
 हुई है ।^२ प्रस्तुत पद्य पर बसने कास जीव सांसारिक सम्पदा को अमानत समझते
 और हुकम में बिचरते हैं यही उनका त्याग है ।^३

हमने देखा कि मित्र नाम्प्रदायिक विचारकों ने समय-समय पर अनेक प्रकार
 जीवन-सर्वों की बसनाएँ की और उनकी सिद्धि के मार्ग भुलाए । परन्तु सिद्ध
 विचारधारा उन्हें आसिद्ध रूप में स्वीकार करती हुई भी किसी एक से पूर्णतः सहमत नहीं
 । पाई । कारण है मित्त-धर्म की सहज-वृत्ति तथा उच्चतम मय । भारत में जिस
 पद का संकेत दिया गया है यह आदर्श मित्त-धर्म की नीनता न होकर भारतीय
 विचार-मरणी की पुरानी मूल है । परन्तु फिर भी उसके प्रस्तुतीकरण का रूप यह
 मानक की साधना और निजी अनुभव की बस्तु बन चुका है । मानक का यह आध्या-
 त्मिक-सम्य को माना में बँटा हुआ है—(१) आत्मापसक्ति (२) बाह्यपुत्र में सीनता ।
 मय की वास्तविक सिद्धि सीनता में ही बिलगत है । आत्मापसक्ति ठो सीनता की ओर
 प्रपद होने का प्रथम सोपान है । अतः आदर्श को छोड़ करन वाले सब विज्ञानसुर्भों को धीरे
 धीरे निरदकार का पीछा करने के लिए प्रेरित नहीं किया जाता ना ही स्वयं और
 अरक का मोम या भय निगाया जाता है । हुकमत निराकार तक पहुँचने से पहले

१ छोड़हु काम क्रोध कुरिमाँ । हुकमं यं च छाड़हु सपगई ॥

सतिगुरु सरति परहु ता उबरहु इत तगीये मबजस भाई है ॥

८ १, माक सोमहे पृ० १०२६ ।

२ हुकमत निर्णय पृ० ११ १२ ।

३ सावि मित्तिये होई प्रगामु । ताठे बिनियमा यहि नई उदागु ॥

सतिगुरु की ऐसी बहिभाई । पुन कलत्र बिधि पति पाई ।

२ २ ४, मनासरी म० १ पृ० १११ ।

उसकी अधिक-सत्ता आत्मा से परिचय करवाता है। प्रस्तुत परिचय जीव द्वारा निरंकार को पहचानने में सहायक होता है। जिस प्रकार बड़ी परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए उससे पूर्व की छोटी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना अनिवार्य है वैसे ही ब्रह्म मिशन से पूर्व आत्मोपलब्धि आवश्यक है। सिद्धि हेतु गुरु नामक कर्म ज्ञान साधना आदि किसी एक साधन को यत्नवत् अपनाने के समर्थक नहीं। उनके मत्तानुसार-मनुष्य के अन्दर से जब तक अहं का नाश नष्ट नहीं हो जाता तब तक उसे किसी भी साधन को अपनाने से सफलता नहीं मिल सकती। कर्म मनुष्य का स्वभाव है और उसकी रचना हुई है मन के आश्रय। अतः जब तक मनामारण से स्वभाव न बचने तब तक वह उचित कर्म अपना ही नहीं सकता। ज्ञान बढ़ा लेने से तो मन के आश्रय वह भी रहन पापों में प्रवृत्त होता। इसलिए गुरु नामक पथ पर अप्रसर होने के लिए जीव को सबसे पहले मन मारना या हठमै का नाश करना होता। वास्तव में हठमै माया के प्रभाव का दूसरा नाम है और निश्चय ही अपने को पहचानने के लिए सर्वप्रथम माया का आधरण को हटाना होता। अब तो यह है कि निरंजन को पहचानने से पूर्व हमें जो भी पहचानना है वह उसी का प्रकाशित रूप है। है जो वह हमारे ही अन्दर^१ परन्तु हठमै ने इस पर पर्दा डाल रखा है।^२ मन व्यक्तित्व विचार से एकत्र हुआ है अतः इस विचार (अहंभाव) को त्याग देने से मन संयत हो जाता है। गुरु नामक हठमै के नाश या मन को संयत करने का एक रामबाण इलाज पेश करते हैं—गुरु के हुनम में चलना।

बिनु गुरु सबई मनु नहीं ठजरा। सिमरतु राम नामु अति निरममु।

अबर तिभावतु हजमै कजरा।

१ छ्वाठ १ अ आसा म० १ पृ० ४११।

माई माहिब जोबसिह मिलते हैं कि हठमै के नाश के लिए गुरु के हुनम में चलना और निरंकार के मुक्त-नाम ही मुख्य साधन हैं। इस पर हठमै का पर्दा दूर हो जाता है और अन्दर के प्रकाश को देख जीव अपनी वास्तविकता को पहचान लेता है। उसे ज्ञान होता है कि वह क्या है।

पहली संभिन लै करने पर अब दूसरी संभिन का सफर आरम्भ होता है। हठमै के त्याग के बाद की साधना संयत हुए मन को 'नाम'^३ की ओर प्रेरित करता है। गुरु शर्तों के आश्रय जीव का मन संयत होता और सबकुछों की ओर से हटता है। ऐसे निर्मल-मन से यदि जीव बाह्यगुरु का गुणगान करे, उसका स्मरण करे,

१ वीं कारनि छटि तीरनु जाही। एतन पशरब बट ही माही।

१ ४ गठई म० पृ० १५२।

२ पर ही माहि दूबै भाइ अनेरा। नामनु हाबै छोई हठमै मेरा।

परगठु सबनु है मुनबाता। अनदिनु नाम धियाबधिजा।

५ २७ २८ मास म० १ पृ० १२६।

३ 'नाम' के स्वरूप और महत्त्व के लिए आदामी अध्याय देखिए।

तो बिलत जमता है और नाम की व्यस्य-सम्पत्ता उसके करतल होती है। स्पष्ट ही जब 'नाम' में मन लगेगा तो फल होगा नामी से अनेक। यही परमपद है। यही सच्चा सत्य है।

मित का चित्तु जगु मरम न जानीये ।
गाहक पुनी अपार तु ततु पछानीये ।
चित्तहि चित्तु समाह त होई रंगु पना ।
हृदिहा बंभल ओरहि मारि त पावहि सधु पना ।

१२. पुनहे म० ५ पृ० १३६२ ।

इस अवस्था में पहुँचा हुआ व्यक्ति माया-राज्य (अकास-पुरुष के हुकम से विश्व का सम्पूर्ण प्रसार माया के नियंत्रण में है) की सीमाओं से ऊँचा उठ जाता है। उसके जन्म-मरण पतन या मनमुक्ती वगैरे की समस्याएँ लपट हो जाती हैं और वह सुयो तक वियोग बुद्ध भोगने के परचात पुन सतपुण्य की गोद में विश्राम पाता है। आत्मा परमात्मा में सीन हा जाती है। यही गुरु नामक विचारधारा की सत्य-सिद्धि है।

५ लक्ष्य सिद्धि के फुटकर साधन विश्वास और प्रेम

गुरु नामक शक्तिज्ञान से आत्मा परमात्मा के मिसन के महान लक्ष्य को पाने के लिये (१) हठम का नाश (२) गुरु के हुकम में बसना (३) निरंकार के गुण गाना तथा (४) नाम में तिर सयाता धारि साधना का बर्बन पीछे किया जा चुका है। इनके साथ कुछ फुटकर मार्गों को अपनाया तथा उन्हें उप-साधनों के रूप में स्वीकार करना अनिवार्य-सा शिखता है। सर्वप्रथम अपनी साधना तथा गुरु के सान्ध्य में अत्यन्त विश्वास बनाने की आवश्यकता पड़ती है। हठम के नाश के लिए, विश्वास की सहायता से लज्जता मानव-प्रेम और गुरु-आज्ञा-पालन सरीक मरुणों का उदय होता है। अतः जब तक जीव में विश्वास की शक्ति अनाद्य न बने तब तक वह आध्यात्मिकता की प्रथम सीढ़ी पर कदम रखने के योग्य भी नहीं माना जा सकता। गुरु नामक अपनी बाणी में विश्वास को पर्याप्त उच्च स्थान देते हैं—

१ लज्जता—मैं भोक्छुगीया भोक्छुगी (दामों का दास) हम छोड़ धार (जीत सब) तिर तू रापहि तिर रहा मुनि नामु हारे ।

१ १६ भाषा म० १ पृ० ४२१ ।

२ मानव प्रेम—ओ रते सहि आपने निग मारी समु कोई । बड्डूम म ? ।

३ गुरु-आज्ञा-पालन—नानद करमु होई जपीए करि गुरु पीर ।

महु समारै णहु सरीर । ४ ४ मत्तार, म० १ पृ० १२५७ ।

या

जगु नूना भरि मारी पाह । विनु गुरु सबद न सोसी पाह ।

१ रामरसी अष्टपदी म० १ पृ० ६०४ ।

तू ठाकुर तू साहिबो तू है मेरा मीरा । तूबु भाबै तेरी बखरी तू पुनी महीरा ।
भापे हरि इक रंगु है भापे बहुरंगी । जो तिस भाबै नानका सोई मत बंगी ।

२१ २२ २ तिसय म० १ पृ० ७२६ ।

सब कुछो तो मुब नानक की सम्पूर्ण विचारभारा ही विरवास की नीब पर स्थित है । आरम्भ में इसके निचे हूम 'हुकम की फिलासफी' का शब्द प्रयोग कर चुके हैं । 'तेरा भाभा मीठा भागे' जो तुब भाबे चाई भसी कार' भावि उक्तिवाँ सिद्ध करती है कि सिद्ध-धर्म में परम-सत्ता में विश्वास रखने को अपरिमित मान्यता दी गई है । यह मान्यता किसी भी 'धर्म की आचार मिति हो सकती है । इससे बिना पूर्व सांकेतिक धरगुर्षों की उत्पत्ति होती है, उनका अन्मास प्रायः सदा का रूप धारण कर लेता है । सदा विश्वास की पराकाष्ठा को कहा जाता है जिसमें उच्चकोटि का प्रेम समर्पणयुक्त मक्ति एवं अहं के निपट अभाव का समावेश रहता है । मुब नानक सदावसी में यही धारणा 'हुकम मानना कहलाती है । सदा प्राप्ति के पेड़ का बीज यही है

सिपा-धर्म प्रवृत्ति-प्रधान धर्म है । इसमें विश्वास की नीब पर सहज-भाव से सद्गुर्षों का प्रासाद सदा किया गया है । सतिगुरु में विश्वास सत्कर्म तथा बाद में प्रेमपूर्वक नाम-स्मरण ही इसमें ब्रह्मीय का आचार नामा है । सिद्धा मी है—

नानक सतिगुरु भेटिये पूरी होबे बुपति ।

हसंदिमा, जसंदिमा, वीरदिमा पारबदिमा बिचे होबे मुकति ।

२ १६, बार नुबरी म० ५ ।

कहीं निवृत्ति दुह-त्याग भवना तट-तीर्थ का उपवेश नहीं किया गया । संसार की विचित्रता कुल सुख की होइ तथा प्रकृति के अनुशासन का अनुभव कर सबसे ऊपर जिस परम-सत्ता की कल्पना प्रस्तुत धर्म में की गई, उसी का सबका 'गिरसी गिरबीर सूबहार मानकर, उसकी इच्छा के सम्मुख मत मस्तक होना योग्य समझा गया । विश्व की क्षुद्र और महान् बटगामों का उसकी इच्छा का परिणाम जानकर और उसके बड़े नियन्त्रण में हस्तक्षेप करन म अपने को असमर्थ देखकर उसके हुषम में विश्राम करने की आशा सदाग हुई जाती । यही कारण है कि मुब नानक ने केवल हुकम का अस्तित्व ही नहीं स्वीकारा बल्कि उसकी महिमा के स्वरूप को सहज-वृत्ति से बेसन के सिप, विश्व प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को उसक हुकम के अन्तर्गत मानकर ^१ उसी में उसका जसवा बेपाने मय । यही विश्राम की परम-सीमा

१ सो अंतरि सो बाहरि अनन्त । पटि बटि बिमापि रहिमा भगवन्त ।

बरिण भाहि आकास परवास । सरब मोठ पूरन प्रतिपास ।

बनि तदि परबति है पारबहनु । वीसी आनिमा तैसा करनु ।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

है। इसी से जीव को ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध होता है गुरु अर्जुन मिलते हैं—

बाके रिबे बिस्वासु प्रभु माइमा ।

तनु मिमानु तितु मनि प्रगटाइमा ।

२ १७ गठड़ी सुखमनी म० १ पृ० २८३ ।

गुरु नामक ने भी कहा है—

हुकम रखाई जो बलै सो पने प्रबालै ।

ओटे डबर न पाइनी रलै बूठारै ।

४ २०, वाखा अष्टपदीमा पृ० ४२१ ।

गुरु नामक की शिक्षा मुख्यतः परम-सत्ता की इच्छा (हुकम) में विश्वास बढ़ाने पर केन्द्रित है। उनके मत में प्रत्येक बटना हुकम के मुताबिक चटती है। वे कहते हैं "यह संसार मिथ्या नहीं यह तो परम-सत्य का निवास-स्थान है। इसमें जो भी होता है, वह उसी के हुकम से होता है। किसी को वह विश्वास देता है तो किसी को विमान। किसी को बया कर मुक्ति दान देता है तो किसी को माया-रूप में स्वयं ही फँसाता है। किसी को राम बताता है, किसी के बिरद बताता है। सब तो यह है कि उसकी सीमाओं का पूर्णतः समझ सकने की सामर्थ्य किसी ऐसे गुरुमुख में ही हो सकती है जिसे वह स्वयं ज्ञान का प्रकाश-दान दे।" इसलिए उसके परम-पर की स्वीकृति में हमें विश्वास कर लेना पड़ना है कि "उसने सब जीवों के जीवन का देना पहले से बना रखा है। आत्म-बिहीन कोई जीव नहीं। केवल वह स्वयं जीवन-देने की सीमाओं से बाहर है और अपनी कृपणता से विश्व का निर्माण करता तथा हुकम से संभालन करता है।" विश्वास से विचलित होने वाले का जीवन-योध किसी भी पवन की चट्टान में टकरा कर टूट सकता है। मर्य-निष्ठिक स्वप्न भंग हो सकता

(अप अगले पृष्ठ का)

पञ्च पाणी ईसंगर माहि । बारि कुट रह बिसे सयाहि ।

विषते तिनु नही को ठाउ । गुर प्रसादि नामक मूय पाउ ।

२ २३ गठड़ी सुखमनी म० १ ।

१ इहु जगु सबै की है काठड़ी सब का बिधि बागु ।

इकन्हा हुकमि समाइ माए इकन्हा हुकम करे बिमानु । १ ।

इकन्हा भागी कडि लए, इकन्हा माइमा बिधि निवासु ।

एब भि आति न जा परै जि कियै भागे रासि । २ ।

नामक गुरुमुखि जापीए जा कउ जापि करे परणामु । ३ ।

पठड़ी वाखा म० १ पृ० ४१३ ।

२ मरख जीमा सिरि जेनु बराहु तिनु मरुं नही कोर जोउ ।

बारि जगनु कुररति करि केरै हुकमि जमाए मोई जीउ ।

१ ११ माग म० १, पृ० ३६८ ६६ ।

है। क्योंकि संसार तो—

बहु ब्रिति हुकमु बरतै प्रभु तेरा बहु ब्रिति नाम पतारन ।
सम महि सबहु बरतै प्रस साधा करमि मिलै बेजारन ॥८॥ १ ।
बो किमु कीनो सुप्रभु रजाइ । बो पुरि लिखिजा मु मेठना न जाइ ।
हुकमे बाबा कार कनाइ । एक सबदि राखे सखि समाइ ।

७ १, ममार अष्टपदी म० १ पृ० १२७५ ।

इसीलिए गुरु मानक पुकार-पुकार कर मन को मुभाते हैं कि विश्वास न पोना । हमारा आवागमन सुख दुःख या उत्थान-पतन उसकी इच्छा पर निर्भर है । विश्वास पूरक उसका हुक्म मान लेना ही ध्येय है । लिखते हैं—

मनु, हरि के नाम भाई जाइ । सम महि एको कितु कहुनु न जाइ ।
समु हुकमो बरतै हुकमि समाइ । बुझ सुख सम तितु रजाइ ।

७ २, बसंत अष्टपदी म० १ पृ० ११८८ ।

अभिप्राय यह कि विश्वास की अनुपस्थिति में प्रभु-मिलन के प्रथम शोषण हृदय के भक्त की सम्भावना ही नहीं रह जाती । मरय कोशों बुर होता है । जीव हृदय के कारण बाहरी माया में भटभटा हुआ निरंकार की जानकारी तो बुर की बात है अपन को भी पहचानने का सामर्थ्य नहीं पाता । विश्वास का विकसित रूप प्रेम द्वारा उदीप्त हो शब्दा का नाम धारण करता है । शब्दा नाम और नामी की एतदा की पृष्ठभूमि बहो जा सकती है ।

मानक के दार्शनिक-संशय के दूसरे भाग—मिशन—की उपसर्गि का साधन नाम में निब लयाना बताया गया है । इसका सहायक-साधन है प्रेम । सब तो यह है कि विश्वास और प्रेम दोनों मिलकर ही भक्ति (नाम में निब या साधना) को जन्म देते हैं । पीछे विश्वास को हृदय (मिथ्याभिमान) के उन्मूलन का कारण बताया गया है और इस उन्मूलन की स्थिति से प्रेम का उदय तो सर्वमाय है ही । गुरु मानक लिखते हैं—

बहु तउ प्रेम वैसण का जाउ । तिर परि तली गली मेरी भाउ ।
इतु मारणि रैर बरीजे । तिर बीज कानि न बीजे ।

२० बचीक म० १ पृ० १४१२ ।

प्रेम का भाव उपजते ही नाम में अपने-आप निब भगती है सीमता प्रत्यक्ष होती है । वही स्मरण का प्रथम अनावश्यक-सा ठहरता है स्पष्ट ही प्रेमी अपने प्रेम पाव को पार नहीं करता क्योंकि वह उसे कभी छूटता ही नहीं ।^१ बीब सदा अपने प्यारे के नाम में सीन रहने लगता है बीरे बीरे बसीये रम में रय जाता है । अष्टप-

१ शब्देय—वेदर एक जीवनी ।

प्रेमी और प्रेम-भाव में अन्ध साक्षात् हो जाता है और बस यही चरम मध्य है जीव का वांछित गन्तव्य । अस्तु, निश्चय ही प्रेम भी सिद्ध-साधना का महत्वपूर्ण अंग है जीव की यह शिक्षा है जिस पर प्रभु-मिलन का प्रासाद लड़ा क्रिया जाता है । तभी तो गुरु नानक ईश्वर की धत्ता से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

मब तब अबब न मागछ हरि पहि नामि निरंजन बीजै पिमारि ।

नानक चातुक जमूत-अनु माने हरि अनु बीजै किरपा धारि ।

८ २ पूजरी मष्टपदिया म०१ पृ० १०४ ।

६ मध्य-सिद्धि के मध्य-साधन और उत्तमी सम्भावना

भारत में लगभग सभी आस्तिक धर्मों व दर्शनों का मध्य ईश्वर-मिलन ही रहा है । इसका मुख्य कारण है, यहाँ की संस्कृति में धीरासी-साध योगि चक्र के प्रति विश्वास और मनुष्य-अन्त को मुक्ति का द्वार समझने में आस्था । गंतव्य के समान होने पर भी मित्र परिस्थितियों और विचारधाराओं के अनुसार वहाँ तक पहुँचने के अनेक पथों की कल्पना की गई—(जिनमें से मुख्य-मुख्य की व्याख्या आयामी-अध्याय में की जाएगी) । एक मार्ग कई उपमार्गों में बटा हुआ था । उदाह-रन्तः भक्ति-मार्ग को ही भी बड़ा दृष्टिकोणों से देखा जा रहा था । भक्ति तो सब करते थे परन्तु हर कोई अपने भाव को उत्तम मानता था । इस कारण अहं की भावति हाँसी रहती थी । बस पथ भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना थी । तत्कालीन भक्ति-पद्धति में अज्ञान-विश्वास तथा प्रेम की परकाष्ठा के नियम तो उपलब्ध हैं परन्तु उस लक्ष्य में सब-सर्वस्व को एक-रूप देने की विचार-साधना मध्यकाल से पूर्व कहीं दिखाई नहीं देती । यहाँ तक कि भक्ति के कुछेक क्षेत्रों में सीपे प्रभु से सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा बेशकामों को मध्यस्थ बनाना उचित समझा जाता था । एक रूप भाव की अनुपस्थिति का यह भी एक कारण था क्योंकि भक्त-गण अपने दृष्टदेव की प्रार्थना में दूसरों के दृष्ट पर गामी प्रहार करना भी अनुचित न समझते थे । गुरु नानक भी भक्ति-मार्ग के ही अनुयायी थे परन्तु उनकी मध्यकालीन स्थिति प्राचीनता से बहुत अंधी और वास्तविकता के महत् दृष्टिकोण की अपनाए थी । उत्तम समर्पण के स्वरूप का प्रभाव स्पष्ट है । नाम में सिद्ध सगाने बासा हरि भक्त गुरु नानक मतानुसार, मौकिक बटनारों को मायोपबिधत मानकर उनकी उपेक्षा नहीं करता बल्कि उसकी पृष्ठभूमि में सबसक्तिमान् (जसका दृष्टदेव) के हुकम (बासा) के शासन का मनोरम दृश्य देखता है । इसीलिए सब से प्यार करता है । हरि के बनाए सब जीवों को बहु अपने रूपानु-दृष्ट की महिमा का स्वरूप मानता और उनके साथ कुछ जीवन बिनाने (प्रवृत्ति) में गौरव का अनुभव करता है । अस्तु, कहना न होया कि प्राचीन कालीन भक्ति और मध्य-कालीन साधना में बहुत अन्तर था । दोनों समय के सन्धि में हली थी । मध्य की दृष्टि से मध्यकालीन-भक्ति उत्तम थी ।

साधना रूप में ज्ञान का विचारार्थ्य सतबी-आठबी गताम्बी की देन है। इस का निजी महत्त्व है। तप्य का ज्ञान ही मनुष्य में अनुराग के जागरण का कारण बन सकता है। बिस्व में सत् और असत् का अन्तर जानना तथा असत् माया-बन्धनों से बूटकारा पाकर सत्-ब्रह्म में सीन होना सद्ज्ञान का शेष है। यों तो ज्ञान-मार्ग के बीच वैदिक-युग में ही उपसम्ब हैं परन्तु इसे सही और आकर्षक रूप वेदाधित्यों द्वारा ही मिला। मुठ मानक समन्वयकारी होने के नाते ज्ञान को भी महत्त्व देते हैं और इसका झोठ मुठ को स्वीकार करते हैं। पुष्-कृपा हो जाए तो मनुष्य को ज्ञान ज्योति उपसम्ब होती है जिससे वह सतपुनप की ओर करता है। वे पठन पाठन कर्म-धर्म को ज्ञान-इति का कारण नहीं मानते बल्कि ईश्वरीय-इच्छा द्वारा पुष्-प्राप्ति और उसकी कृपा ज्ञानोदय के आधार-स्तम्भ माने गए हैं।

कर्म-मार्ग वैदिक-काल से बना आता एव प्रौढ़ तावन है जिसे श्रीकृष्ण ने समय-धीमा में परिपक्वतास्वा तक पहुँचाया है। वैदिक काल का कर्म-कार्य कुछ और वस्तु (उत्तमनमयी प्रवृत्ति) थी जब कि मीठा का कर्म ऐसी प्रवृत्ति है, जो निवृत्ति का संदेह सुना रही है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते ना कस्तेषु क्वाचित्' का महा-वाक्य एक ही समय दोनों ओर—कर्म करना प्रवृत्ति परन्तु फल की आशा न रखना निवृत्ति—एकित कर रहा है। उक्त 'कर्म' में जीव के भौतिक मानसिक धारिक तथा आध्यात्मिक सब प्रकार के व्यवहार सम्मिलित हैं। मुठ मानक विचारधारा इस से बहुत कुछ भेद खाती है। उनके दृष्टिकोण से जीव को प्रत्येक स्थिति में सतपुरण के हुकम में रहकर कर्म करते रहना चाहिए। यहाँ कर्म-प्रसाधन कर्तव्य का पर्याय है। अठ अपने कर्तव्य की पूर्ति जो सिद्ध-धर्म की पुगी है आकाशयक मानी गई है। फल की कल्पना यहाँ भी बजित है। परम-सम्ब प्रभु-मिलन है जिसकी सम्पादना जीव के कर्तव्य-मासन (हृदय के मन्थ तथा नाम में निब बगाने) में निहित है। परन्तु क्योंकि जीव के लिए फलापेक्षा रखना उचित नहीं इसलिए कर्तव्य-मासन करते हुए भी अन्तिम-निवय पुष्-कृपा तथा प्रभु-इच्छा (हुकम) पर छोड़ा गया है। यही यथा मीठा के निष्काय-कर्म की नीब है।

बलि ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त योग तथा प्रेम नाम के साधनों को भी भारतीय आध्यात्मिकता ने अपनाया है। जन-साधारण की भावा में योग तारीरिक-इत्सीइन द्वारा मनोभारण का मूलतः नाम है। परन्तु वैज्ञानिक-दृष्टिकोण से कार्या के बाहरी प्रसारण को संयत और केन्द्रित कर जीव द्वारा निजी-स्वरूप को पहचानना ही योग है। यह सब अन्तर्नीती हाने और नाम का ज्ञापन से भी सम्भव है परन्तु भारत के वैदिक सम्प्रदायों (नाब सिद्ध तान्त्रिक आदि) ने उक्त रूप अपनाते की अपेक्षा निवृत्ति का आशय लिया। मन का संयमित करने और दुनिया के आकर्षणों से दूर रहने के लिए उन्होंने भागरिक-जीवन का त्याग कर धर्मताँ परतों को साधना ध्ये बनाया। मन की दूर-कारि करि नी बन्ध न होने पर उन्होंने मानसिक इच्छाओं

का सर्वत्र आरम्भ किया शरीर को पीड़ा पहुँचाई और तब संयमित मन का ईश्वरोपासना में लगाने का प्रयत्न किया। अन्तर में सुषुम्ना विमला और कुण्डलिनी नामक शक्तियों का वैज्ञानिक विकास और अक्षरों भी योग-साधना का विषय रहा है। सन्तमठ पर यौनिक-दृष्टिकोण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है परन्तु धार्मिक-उत्पीड़न तथा आन्तरिक-शक्तियों के रहस्यमय विमान में उनका विश्वास कदापि नहीं रहा। संतमठ की एक सम्पूर्ण चारा कठोरता की अपेक्षा कामस-याग (सहजयोग) के आशय 'मन्द-व्यवहार' द्वारा आत्मा का केन्द्रीकरण करने तथा 'मन्द-उत्सर्गों' के अनुकरण द्वारा सत् में मिलने की साधना को विनियम स्थापन देती रही है। सिद्धि के पथ पर गुरु द्वारा शब्द-रहस्य का ज्ञान एवं प्रसू-रूपा को उत्कृष्ट-भारा में उच्च स्थान दिया गया है। गुरु नामक भी एक सीमा तक इसी चारा से सम्बन्धित थे। अन्तर केवल इतना था कि वे सहज-समाधि में नाम-जाप से पूर्व स्पष्ट शब्दों में इतनी क मन्त्र तथा गुरु शब्दों द्वारा अक्षरों के नाश की बात करते हैं। गुरु नामक-मठ क्योंकि सद्गुणी जीवनसाधन का एक सुमार्ग है इसीलिए वे जीव के लिए योगियों की भाँति उत्पीड़न और निवृत्ति में विश्वास न रखते हुए पारिवारिक क्षेत्र में ही सद्गुणी विकास द्वारा मन के संयम एवं इन्द्रिय के विनाश की मुक्त्यन्ता करते हैं। यही सहज-याग है। इसमें निवृत्ति नहीं बल्कि लिप्ताम शक्ति की प्रदानता है। साधन रूप में योग के प्रस्तुत और पुरातन दोनों रूप किसी न किसी सन्धि में बने हुए आज भी प्रत्येक जाम्बिक-विचारधारा का गुरुकार बने हुए हैं।

प्रेम भारतीय संस्कृति की प्राचीनतम निधि है। ता भी आधुनिक दृष्टिकोण से 'प्रेम-आर्ष' मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित माना जाता है। मूझे सोच जब भारत में जाण ता उनके द्वारा की गई आत्मा-परमात्मा के प्रेम-सम्बन्धना की व्याख्या न इस विचारधारा को पुनर्जीवन दिया। उन्होंने इस्क-मिर्जाजी से इस्क-हज्जीकी की बार अप्रमत्त होना था य समझा और अपने काध्यों में इस भावना को प्रत्यक्ष रूप दिया। आत्मा का परमात्मा के प्रति शुद्ध प्रेम मिलन-अव्यय की सिद्धि का कारण बन सकता है। उदाहरण रूप में वे बनेक ऐसी सामाजिक प्रम-गाथाओं का आशय सत से जिनमें अनेक कठिनाईयाँ माने पर मन्ने प्रेमियों के मिलन का और संकेत किया जाता था। उनका विश्वास था कि एम ही यदि प्रेम सच्चा हो तो जीव और ब्रह्म का मियाप अक्षय्यभावी है। सन्तमठ में प्रेम का बीजा रंग स्वीकार किया गया है। प्रेम का ही प्रेरणा का स्रोत तथा विज्ञान की विद्या का आधार माना गया है। प्रेम के आशय ही जीव और ब्रह्म की कल्पित दूरी का ह्राय हुआ है। प्रेम गुरु नामक द्वारा प्रसूक्त 'निब' मन्त्र का पर्यायवाची है। वे मानते हैं कि मिलन की पूर्ति 'नाम से निब' मनाए बिना कमा नभव नहीं। इन्द्रिय-रहित मन नाम में निब लगाने से नामी-पद की प्राप्ति करता है। स्पष्ट ही 'नाम में प्रम (निब) वा प्रेम पुरुष नाम-जाप जीव मुक्ति का साधन है।

अभिप्राय यह है कि गुरु मानक विचारधारा किसी विशेष मार्ग का अनुकरण नहीं करती बल्कि भक्ति ज्ञान, कर्म योग और प्रेम सब मार्गों के गुणों को समन्वित करती बुर्गुनों का त्याग करती हुई एक मनीष और सहज ग्रहणीय पथ का अवलोकन कर रही है। विशेषता यह है कि इस पर चलने के लिए जीव का किसी विशेष सम्प्रदाय समाज या जाति से सम्बन्धित होना जरूरी नहीं। साथ ही दुनिया के सुखों से माया परिवार-त्याग करने या देवताओं के माध्यम से सतपुरव तक पहुँचने की भी कोई आवश्यकता नहीं। यह जीव और ब्रह्म के प्रत्यक्ष मिलन की कहानी है, जो गुरु की जबानी दोहराई जाती है। परिवार में रहते दुनिया ने बन्ने कपटे हुए भी प्रकृति में निश्चिन्ता (भास माहि निरासी) रहने की कला गुरु मानक की देन है। सतिगुरु फरमाते हैं—

जैसे बल महि कमलु निरास्तु मुरवाई नैताल ।
 मुरति सबरि भव सागरि तरौये मानक नाम बखाली ।
 रहहि एकांत एको पनि बसिया आसा माहि निरासा ।
 अयमु अयोचर देखि दिखाए मानक तां का बासो ।

३, रामकवी म० १ सिम मोट्टी पृ० ६३८ ।

अर्थात् दुनिया में रहना सब व्यवहार करना परन्तु कमल की भाँति अपने को विश्व-संक से ऊँचा रखना हमारा लक्ष्य है। ऐसी स्थिति में निरत मनाने से 'नाम और नामी' का एकीकरण स्वाभाविक है।

७. धर्मिक-सत्य और गुरु मानक

वेद-कामीन सम्प्रदाय के गम्भीर अध्ययन से पता चलता है कि जनता मानव की आनन्दिनो-वृत्ति (Hedonic view) में विश्वास रखती थी। जीवन का उच्चतम और अन्तिम ध्येय वा दिव्य-आनन्द और महत्तम सुख की प्राप्ति। आर्य लोग जीवन में अपनी धार्मिक तथा राष्ट्रगुणी वृत्तियों के माध्यम से अतीतिक-हर्षोत्सास की उपलब्धि की इच्छा ने मृत्यु उपरान्त स्वर्ग की कल्पना करके ब। इसी दिव्य-सुख की आशा से मृत्यु-धम्मा में उन्हें शान्ति प्राप्त हुई थी।^१ उनका विश्वास था कि संसार में रहते हुए या मृत्यु-पश्चात् सुग-संभवमे ही ऐसा आनन्द है जो मानव के लिए देवी-विभूति कहना सक्ता है। सांसारिक सुख मानसिक-शान्ति का परिणाम है और मन-कार्यों

1 The highest aim of life in Vedic Age was to secure an immortal place in the Paradise after death and enjoy celestial happiness as the fruit of sacrificial and virtuous deeds done by them in life. The hope of enjoyment of eternal happiness in the Paradise cheered the last moments of the Vedic Aryans—M. C. Pandya. An Intelligent Man's Guide to Indian Philosophy, p. 48.

एवं सर्वगुण-वृद्धि से बहू करतल होती है। जीवन के ये भले कार्य ही मरने के बाद जीव के सुहृन्-सोक-वास का सामग्न बनते हैं (ऋग्वेद १० १६४)। ऐसा स्वीकार किया जाता था कि जीव जब सुहृन्-सोक में पहुँचता है तो वहाँ की आनन्द-शक्ति पत्नों तथा नीतल फुहारों से बहू अपना जीवन मन और शरीर लेकर पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करता है (अथर्ववेद १२ २ २४) एवं अश्वत्थ-वृक्ष के लोबे यम-वैषता के दिव्य-दरवार में पहुँचता है। (अथर्ववेद २ ४ ३)। वहाँ बहू देवताओं के साथ मविरा पान करता है, अप्सराएँ संगीत-नृत्य प्रस्तुत करती हैं तथा उनकी प्रमत्ता के भीत जाती हैं (ऋग्वेद १० १३३)। बहू बिष्णु का उच्चतम प्रबन्ध है (ऋग्वेद १ १३३) वहाँ बिड़ड़ी हुई आत्मा का अपने पूर्वजों से संयोग होता है और बहू पिता माता पत्नी और बच्चों आदि स पुमसंम्बन्धित हा अखण्ड तथा स्थायी सुख भोग करता है। (अथर्ववेद १ १२०) (१२ ३ ६७)।^१

स्पष्ट ही इह-सोक और परलोक दोनों में सत्कर्मों के भाग्य शैतिक मान सिद्ध तथा साम्यारिभक सुखों की भोज करना ही वैदिक-सदय था। इसकी सफल उपलब्धि के लिए जीव देवताओं की सहायता चाहता और उनकी स्तुति एवं उपासना द्वारा 'अमय-ग्योति' के रूप में आत्मन् के वास्तविक-ज्ञान की प्राप्ति के प्रयत्न करता था। शैतिक साधना से शैतिक-सुखों की उपलब्धि हो सकती है परन्तु साम्यारिभक सुखों पर पड़े अयकारणकरण को हटाने के लिए जीव देवताओं से प्रार्थना करता है— 'हे आदित्य मैं शार्बे शार्बे कुछ नहीं जानता पूर्व और पश्चिम दिशाओं से भी अनभिज्ञ हूँ। मेरा ज्ञान अल्पिपक है और सूझावत मैं हतोत्साहित हो रहा हूँ। केवल आपकी कृपा से ही मैं उस अमय-ग्योति को प्राप्त कर सकता हूँ।'^२

श्रीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप-परिचय 'दानुपर्वा' संयुजा' नामे प्रसिद्धमन्त्र में (ऋग्वेद १० १६४ १२०) दिया गया है। वास्तव में इसी परमात्मा का साध्यात्कार वैदिक सदयों में माल बहनाता है। ठीक है कि वेद काल में प्राकृतिक अंगामी देवताओं की परमल माय्यता ही पर्ये थी परन्तु वैदिक-दार्शन प्रमाण है कि वे केवल सहायक देवता ही थे। उन से ऊपर शार्बे शोर्बे में किसी सर्वशक्तिमान का भी आशाम पालिया का अर्वात् वे इष्ट बरय अग्नि विष्णु आदित्यादि की पूजा करने हुए भी इस अनेकता में ईश्वरीय एकता के अनुत्पत्तुत्तु थे। प्रसिद्ध ईश्वरी-ऋक में कहा गया

१ Quoted by M. C. Pandya in Ibid p. 49

२ न शशिषा कि बिदिते न मय्या न शशीभमादित्या मोत परवा।

पापया बिदुक्मको बीर्वा बिदु पुष्पातीर्ता अथर्व ग्योतिरव्याम्।

ऋग्वेद २ २० ११।

३ दानुपर्वा संयुजा उपाया अमाने इत्तं अरिपस्वजाते

तयोरेक पिप्पलं रवाडत्पनभ्रप्रयोऽविशारसीति।

(दो पुष्पर जशी-मिन शाय-नाय पुमते एक ही इत्त पर बैठे हैं। उनमें से एक इत्त का पनस्वादन करता है, जब कि इत्तप निहत्त-ता केवल देवता रहता है।)

है, प्रकाश के रूप में वह आकाश में पुरुरिक प्रदीप्त है वायु बनकर वह समस्त शून्य को भरे हुए है, यज्ञशास्त्र में होत्रि गृह्य में अतिथि मानक में बीजन तथा गति-रूप में वह सर्व-व्यापक हो गया है। वह परम-सत्ता है। यज्ञों में अन्न और अग्नि में पर्वतों में और सब से ऊपर अक्षय में उठी की श्योति प्रदीप्त है। (ऋग्वेद IV ४० X)। इस मन्त्र में ऋषि ने सब देवताओं के गुण का संक्षेपण एक ही सर्वोच्च सत्ता या परमात्मन में प्रस्तुत किया है।^१ कुछेक मात्र ऐसे भी उपलब्ध हैं जो उपरोक्त सत्ता को अनादि और निरंजन सिद्ध करते हैं। लिखा है 'अब मृत्यु या अमर्याद कुछ न की रात दिन तथा जलका अन्तर भी ज्ञात या तब भी वह एक' (परम सत्ता) निरिच्छय और परिवर्तनहीन रूप में मौजूद था। उस 'एक' के अतिरिक्त बड़ा कुछ न था। (ऋग्वेद X-१२६ २) (और भी लिखा है 'सर्व प्रथम उद्यक मन में (द्विरभ्ययज्ञे मे) इच्छा उत्पन्न हुई (सृष्टि रचने की) और उस से बीज (रचना का) अस्तित्व में आया। उसी ज्ञानी ऋषि-मुनियों ने अनास्तबिकता (माया) में से वास्तविकता (विश्व) के निर्माण का साक्षात् अनुभव किया। (ऋग्वेद X १२६ ४)^{२-३}

ऊपर बँधित ऋचाओं के आधार पर तत्कालीन जनता की विकासोन्मुख मान्यताओं तथा विश्वासों का विश्लेषण किया गया है। इस सब से हम इस निर्णय तक पहुँचते हैं कि वैदिक युग का बीजन-सदय बोई एक विशिष्ट उपलब्धि तक सीमित न होकर तीन भिन्न चरणों में बँटा हुआ था। (१) भौतिक-सदय (२) मानसिक और सांख्यिक-सदय (३) आध्यात्मिक-सदय। इन्हीं तीनों चरणों को सम्मूक्त रखते हुए तत्कालीन संस्कृति चार मुख्य-कर्मों के उपयोग की इच्छा प्रस्तुत करती है—जादिक लक्ष्य-लोच में भिन्न स्थितियों से इस प्रकार सम्बद्ध है। काम और अर्थ (दोनों फल) भौतिक-सदय से सम्बन्धित हैं। मानसिक और सांख्यिक सदय से सम्बद्ध फल को 'धर्म' कहा गया है और 'मोक्ष' आध्यात्मिक-साध्य का नाम है। इन प्रकार लोक-जीवन की पूर्वसंचित मानसिक-वृत्ति इहलोक और परलोक में उपलुप्त इन फलों द्वारा दिव्यगुण का अनुभव करती थी और यही उसकी सम्पूर्ण विकसित-विचारवाचारा का महत्वपूर्ण

1 Quoted by Swami Sharvadanand in 'The Vedas and their Religious Teachings'. Collected in the Cultural Heritage of India, Vol I p. 15-17

२ (यहाँ कुछ मानक के विचार वैदिक-विचारों से बहुत-कुछ भिन्नते-जुसते हैं। वे भी वैदिक विचारधारा के इन अन्तिम स्वरूप को महत्व देते हुए 'सांख्यिक पैरा एको है वी एको है पुकारते हैं। सृष्टि-रचना से पूर्व जब तक शून्य था तब भी जलका एक मात्र अस्तित्व एक मानक है श्री स्वीकार किया है। साथ ही इच्छा से रचना के बीज का अस्तित्व में आना तथा माया से सर्वव्य-संसार की रचना होना भी उन्हें मान्य है।)

ध्येय था। काम (इच्छा) की पूर्ति तथा धर्म (धन) की प्राप्ति धर्म-बन्ध रहन में सहायक है। इसी ओर, यह भी मान्य है कि धर्माचार के बिना काम और धर्म का उपमाग असम्भव है। अतिसाय यह कि जब समय मौकिक तथा अमौकिक मन्त्रों और फलों का पूषक-पूषक महत्व स्वीकार किया गया था। प्रथम और द्वितीय कोटि के लक्ष्य पहले हीन प्रकार के फलों के उपमाग तक ही सीमित है। तीसरी कोटि का लक्ष्य मान-धन की अवेना रखता है जो नव संसार को छोड़न पर भी परमात्मन की स्वाधी उपलब्धि पर बाधारित है।

मौकिक-मुक्तों के लिए भी धार्मिक-महत्त्व काम-धर्म की अपेक्षा धर्म को दिया गया था। महाभारत के 'भारत-भाषिणी' नामक पद्यों में स्पष्ट कहा गया है कि कामना-पूर्ति तथा सम्पन्नता प्राप्ति का एक मात्र उद्गम सद्गुण ही है। मनुस्मृति में आचार परलोषण कहकर आचार को ही धर्म माना गया है। क्योंकि उस समय के धर्मात्म धर्म एवं सामान्य धर्म दोनों विधि और विधेय की शिक्षा ही देने रहे हैं। इसलिये भूखण्ड मौकिक-पृष्ठभूमि पर निर्मित ही कहे जायें। ध्यान रहे यहाँ धर्म से कोई हिन्दू, मुस्लिम या ईसाई आदि धर्म नहीं बन्द सद्गुणों की अभिवृद्धि तथा मुह्य-वृद्धि को ही धर्म कहा गया है। इसे कामना-पूर्ति और धन प्राप्ति का साधन इतलिये बताया गया है कि मौकिक मुक्तों की छात्र में भी जीव को सुख पर चलना आवश्यक है। किसी के इतिवृत्तन मा हानि में अपन काम या धर्म की निद्रि मुक्तशायक नहीं मानी जाती थी। क्योंकि बीमा करने में जीव को मौकिक मुक्त तो मिल सकता था परन्तु मानसिक शान्ति न होती। परिणाम स्वरूप मनुष्य ध्येय से विचलित हो जाता। मानसिक-संघर्ष एवं सात्त्विक-विचारधारा के अतिरिक्त काम और धर्म की उपलब्धि क्योंकि मर्ह का कारण बन जाती है। इसलिये सद्गुण क प्रति आभातकारी सिद्ध होती है। आचार-निरूपण बरतें हुए निम्ना श्री है कि 'बिना पवित्र धर्म (संस्कारों) के अन्त-करण के मन दूर नहीं हो सकते और अन्त-करण के शून्य हुए बिना अर्हकार दूर नहीं होगा और न ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है।' एही स्थिति में यदि मौकिक-साध्य की निद्रि हो सी जाय तो मानसिक-असंघर्ष के कारण सात्त्विक लक्ष्य तक जीव की पहुँच बचावि नहीं हो सकती। अन्तु- मान-धन के आम्बारण एवं आध्यात्मिक-मह्य-निद्रि का प्रान ही नहीं उठता। सार यह कि केर-मुपीन विचारकों ने यहाँ-जहाँ ठक जगह मुक्त सोचने के प्रयत्ना में मानक-वृत्ता मन्त्रों और फलों का एक अमिक-विकाम प्रस्तुत किया था जो निरधम ही पूर्व था और वास्तविकता के मन्त्रिक भी।

सुख नामक सुख का परिस्थितियों तथा बाधाकरण के मन्त्र में मुने एक स्वतन्त्र विचारक प। वैश्व-संस्कृति से निरर मुष्मिम-अंस्कृति तक के सद्गुणों को

समन्वित करना तथा उस पर भी अवेक्षित एवं सम्यक सुधार प्रस्तुत करना उनका दृष्टि-बिन्दु रहा था। यही कारण है कि उनकी विचारधारा में जहाँ वैदिक-मन्त्रों की सफ़ेक मिलती है वही शिल्पिक सिद्धि और सामग्रियों में विश्वास भेद भी स्पष्ट होकर पड़ते हैं। तमोकिच और स्वाधी परम-गुरु की शोच को गुरु नामक ने भी सत्य रूप में समझाया है। ईश्वर की अपूर्व-एकता में विश्वास उसके डाढ़ इच्छा (माया) के माध्यम मृष्टि रचना और जीव का ससार में रहते हुए उत्कर्मों के माध्यम से मन को संयमित करना और सद्गुरु दृष्टि की अपेक्षा रखना जादि बातें बुद्ध नामक ने अस्मदत्त बेर-कास से ही उपनामी कीं। परन्तु उन्होंने वैदिक-गुरु की भाँति भौतिक या मानसिक मन्त्रों को इतना महत्व न दिया था जितना ब्राह्मणिक-मन्त्रों को। टीका है कि वे निष्काम-मदति के प्रचारक थे बुनियादारी परिवार-धर्म में रहते युक्ति का स्वरूप विहित करते थे फिर भी काम-धर्म सरीने भौतिक फलों के उपयोग को गुरु का कारण बहापि न मानते थे। उनका विश्वास था कि आन्तरिक अहंकार का नाश करते के लिए धन-दारा (धर्म-काम) की और निर्मित रहना अनिवार्य है। वैदिक 'धर्म' के क्षेत्र में निष्काम ही के सद्गुरुओं सारा जीवन और ऊँची गिमाह का महत्व देते हैं। गुरु जीवन ही गुरु प्राप्ति का गौरव-दान देने में समर्थ है और इनी में इहमे का अस्त और चारम दान की भावना सदैव छिपी है ऐसा गुरु नामक का मत था। लेकिन उनका मन्त्र यही आत्म ज्ञान तक सीमित न था न परमात्म ज्ञान तथा उससे भी ऊपर परमात्म मिलन अर्थात् जीमता को ध्येय बनाए थे। वेदा में उत्कर्मों के फल-स्वरूप स्वर्ग में वेदताका के संग आत्म योग की कल्पना और किसी सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक का अभाव तो उपसम्भ है परन्तु मोक्ष-फल का स्वरूप भीमता न होकर स्वर्ग-नाश तथा व्यक्तित्व ईश्वर की उभिरकटता ही है। अतः प्रस्तुत क्षेत्र में गुरु नामक ऊँच उठ गये हैं यह अविचार है।

दूसरे क्षेत्रों में ईश्वरीय ज्ञान का स्वरूप बाह्य है जबकि गुरु नामक इसे आन्तरिक-गृष्टभूमि की वस्तु मानते हैं। वैदिक-जीव प्रकृति और देवताओं से ऊपर जब किछी बड़ी शक्ति का आभास पाना और उसकी वास्तविक स्थिति को पहचानने के लिए बुद्ध-मन से धर्म करता है तो ज्ञान का उदय स्वीकार किया जाता है। परन्तु गुरु नामक मतानुसार प्रभु में अग्रण्य विश्वास और आत्मा से सदैव उनका अनुभव करना ही ज्ञान है। यहाँ परम-नर को प्राप्ति के लिए मारय-मर्यादा कर मन के बाद निर्दकार का परिचय प्राप्त कर उनमें जीमता की आकांक्षा प्रस्तुत की जाती है जबकि वैदिक-गुरु में परम-शक्त (माह) का आस्थापन स्वर्ग में अपने इच्छ वेदताओं के निष्कट रहन तथा पूर्व-सम्बन्धियों की संयति का स्थायी आत्म उठाने में ही निहित है।

वैदिक-विचारधारा तथा गुरु नामक मत के चरम-सदया का अन्तर ऊपर स्पष्ट है। यही सामग्रियों पर भी एक विहंगम दृष्टिपान कर सेना अप्रासंगिक न होगा। वेद

धुनीन धार्मिक-प्रयत्नों में कर्मकाण्ड का सर्वोच्च स्थान था। योग और तप तो केवल निवृत्त-नामप्रसवी जीवों द्वारा अपनाए जाते थे। गृहस्थ में इनका कोई स्थान न था और ब्रह्मचर्याश्रम में वे दोनों शिक्षण-विधियों का रूप लिये थे। एक गृहस्थी जीव को स्वयं-प्राप्ति की अभिसाया से मुक्त-जीवन तथा माताचार-विचार अपनाए के अतिरिक्त हवन-यज्ञ व्रत-अनुष्ठान बलि-युवा आदि का आश्रय ही लेना पड़ता था। मित्र देवी देवताओं की प्रसन्नताएँ उनके स्तुति-गान किए जाते उनके वरदान की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ होतीं और व्रत अनुष्ठान का ब्रह्मम्ह से देवताओं के नाम पर बलि दी जाती। अपने स्वर्गकिासी गृहस्थी को जन्म-स्तर से उच्चतम-स्तर तक पांच वैदिक यज्ञ करने पड़ते—भूत यज्ञ गर यज्ञ पितृ यज्ञ ब्रह्म यज्ञ तथा इन्द्रयज्ञ। उक्त क्रियाओं से अधिकतर जनता के मौखिक-नाम तथा संदेष्टाओं का आभास ही मिलता है। हवन करने का भाव्य वा वातावरण को सुनन्वित और पावन करना यज्ञ का अभिप्राय गृहस्थी द्वारा भूलों का फेट-पाकना दान-गुण्य का तात्पर्य गरीबों की सहायता करना आदि। यह सब संस्कारों की अनुष्ठानों का प्रदीप्त स्वरूप है। प्रार्थनाओं और स्तुतिमान द्वारा जिन वरदानों की आशा की जाती वे भी अल्पमत्त सब मौखिक होते। १०० वर्ष तक जीने की कामना इस और पुत्रों के जन्म की इच्छा व्रत-आय्य सम्पन्नता की अभिसाया घर में दुक्त-भयका का अन्त और मुक्त की अभिवृद्धि आदि सब मौखिक आकांक्षाएँ हैं। परा मौखिक इच्छाएँ भी मौखिक-गुण्यभूमि पर व्यक्त की जाती। स्वर्ग में देवताओं के सह नाम और अथय-ज्योति की मांग के साथ ही वहाँ भी अपने माता-पिता पत्नी-पुत्र मंग मुनी जीवन की हविष उन्हीं बनी रहती। अतः यह अविबाह है कि वैदिक-युग के अतिरिक्त साधन और तत्त्व-गिद्धियाँ मौखिक थी। अलि-जीव में पन्डुही-मोसहूही अशापी का पारुषिकान्त अपनी साधनाको मौखिक-सीमाओं तक बढ़ रसना दुर्बलताका प्रतीक मानना था। गुरु नानक उनी युग के अग्रयण्य थे इसीलिए उनके साधन काम वाणी और लक्ष्य मौखिकवाही न होकर कमल-निष्काम प्रवृत्ति एवं आध्यात्मिक हैं। वैद्ययुग में जो भी किया जाता उनके पत्र की आशा मुख्य रहती परिवाम स्वरूप गुरु आचार विचार और सदुत्तुओं के रहते भी मन का अहं भाव बना रहना और वह निद्रि-भार्य में बाधक-बिम्ब है। परन्तु गुरु नानक-भार्य वा तो शीययोग ही हठम के अन्त से होता है। अब तक मन संयमित नहीं और जीव का अहंकार मजबूत है, तब तक किसी भी मुक्ति के अन्तर नदेष्टा-गुण्य में गुरु नानक की सन्नेह है। उनका विश्वास है कि हठम का विनाश ही वास्तव में अनुप्य को आत्मानुभूति के बिन्दु तक पहुँचाता है जो उनके मतानुसार परम-वत् की प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है। गुरु नानक कर्म-काण्ड को अपना मानते हैं उसमें बचने वा आदेश देने हैं। कर्म-काण्ड में कनामन की आशा ही बचन का मूल कारण है। इसीलिए गुरु नानक अनोलाधन का प्रत्य ही नहीं उठाते। उनके मतानुसार नाथक को जो भी करना है वह प्रभु में पूर्ण भरोसे और प्रेम से केवल वर्तम्य-नामन के रूप में करना है परिणाम

की इच्छा से नहीं^१ तदोपरान्त बीच गुह की आज्ञा में चतता हुआ अपने दुर्वृत्तों को दूर करता है। निर्मल-मन नाम में निब बसाता है। नाम और नामी का पर्याय सम्बन्ध होने से धीरे-धीरे नाम में चित्त सगाने बासा प्राणी स्वयं नामी रूप होकर उसी में लीन हो जाता है।

पुनः प्रवृत्ति को दोनों विचार बाणों स्वीकार करती है। वैदिक-भारता प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति को भी महत्व देती है और उसके लिए एक विशेष समय नियत करती है। परन्तु गुह मानक निवृत्ति तथा संसार दोनों को परस्पर विरोधी मानते हैं। संसार में रहकर कर्म करना मानव-स्वभाव है अतः उस कर्म से विचलित होना और हठ द्वारा कर्म-कामना की ओर प्रवृत्त ध्यान को संयमित करने का उपक्रम करना मानव-स्वभाव के विरुद्ध चालें होंगी। इसीलिए गुह मानक का मुझाव वा मनुष्य का स्वाभाविक कर्म करना परन्तु मन द्वारा उसके फल की कामना न करना। अर्थात् वे निष्काम कर्म की महिमा के चरबदस्त बकीस थे। जहाँ वेद-युग प्रवृत्ति और निवृत्ति को बुधा-बुधा छोरों से देखता था वहाँ गुह मानक इन दोनों के बीच मध्य पथगामी बनना अधिक उत्तम मानते थे। अभिप्राय यह कि गुह मानक संसार में रहते दुनिया-धर्ये के सब कार्य निपटाते हुए भी जीव को मानसिक-यत्नी और परम-संभमी बनाकर, गुह-आज्ञा-प्राप्त और नाम-भाष के द्वारा परम-सत्य तक पहुँचाने की प्रसाधना प्रस्तुत करते हैं जबकि वैदिक विचारधारा की दृष्टि बहुत नीचे ही समाप्त हो जाती है। मानव के लोभी हानों है सुकर्म प्रवृत्त होना भी दोनों उचित समझते हैं परन्तु मानव की सीमा और मात्रा में गुह मानक परम-सीमा (ब्रह्म) तक पहुँचे हैं तो वेद युगीन केवल स्वयं की कल्पना तक भौतिक सुख से कोई दूर नहीं परन्तु गुह मानक के लिए वह अनाकर्षक है ता वेद-वाकियों के लिए बरवान प्रवृत्ति का आधार एक में हुकम-बढ़ता है तो दूसरे में कर्मकाण्ड और अन्ततः जहाँ वैदिक-भारता की निवृत्ति योग और तपस्या का रूप लिए है वहाँ गुह मानक-निवृत्ति परिवार में रहते हुए नाम आप में है। अतः निर्विचार कहा जा सकता है कि गुह मानक ने वैदिक विचारधारा से ऊपर उठ कर्म-क्षेत्र में अतःप्रतिष्ठत सुधार प्रधान किया है।

८. भाष्यारिक्त-सिद्धि तथा शंकर-अर्थतत्त्वाव

गुह मानक पर शंकराचार्य के अर्थतत्त्वाव का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। ठीक है कि विश्व-सम्पत्ती शंकर की मान्यताएँ गुह मानक को स्वीकार्य न थीं तो भी अस्तित्व-मदय दोनों महापुरुषों का बराबर था। विज्ञान प्राणी द्वारा अपने और अन्य सर्वस्व के कारण का सद्ब्रह्म प्राप्त करना तथा अन्ततः उसी में लीन हो जाना अर्थ की सिद्धि नहीं जा सकती है। आज का वैज्ञानिक युग व्याप्यारिक्तता से इसीलिए दूर

१ श्रीमद्भगवद्गीता में इसी को निष्काम-कर्म कहा गया है।

है कि वह कार्य या घटना का कारण उससे बाहर किसी तीसरी वस्तु में बूझने का प्रयास कर रहा है। अद्वैतवाद की विवक्षयता यह है कि वह कार्य में ही कारण की खोज लगाता है। 'जोय में ही ब्रह्म है' उस इस सत्य को पहचानने भर की देर है। लेकिन उस सर्वज्ञाता-ब्रह्म को क्योंकर पहचानना जाए? यदि वह पहचान लिया जायेगा तो पहचानने वाला न रहेगा। वह स्वयं ब्रह्म अन चापना। उस पना उस नामया कि वास्तव में यह वही है। यही अद्वैत है। वह सत्य जिसे पाने के बाद और कुछ जानने की इच्छा नहीं रहती 'बहुस्वरूपता में एकता का प्राप्ति करना ही है'—सत्य ज्ञान इसे ही कहते हैं। अद्वैत-विचार पाठ इस ज्ञान को सर्वोपरि महत्त्व देती है। इसके आरम्भ और पूर्ति के सम्बन्ध में स्वा० विवेकानन्द कहते हैं 'प्रत्येक अर्थात् का आरम्भ अद्वैतवादी उपासना से होता है। इसके बाद ईश्वर मृष्टि का मूर्जम करने वाला उनका पोषक और जिस में बहु अन्त में लय हो जाता है ऐसा बताया जाता है। बाह्य और अन्तर्ग्रहण का स्वामी विरव का वह उपास्य देवता बताया जाता है फिर भी मानो उसका अस्तित्व प्रकृति में नहीं बाहर हो। हमसे एक पग आगे बढ़ने पर हम उसी मूक को यह बताते पाते हैं कि ईश्वर प्रकृति से बरे नहीं बरन् उसी में स्थापित है। अन्त में वे दोनों ही विचार जोड़ विवे बाते हैं और जो कुछ भी सत्य है वही ईश्वर बताया जाता है। कोई अन्तर नहीं रहता। 'तत्त्वमसि वेदवेत्ता' ! अन्त में यह बताया जाता है कि मनुष्य की आत्मा और वह सबस्वामी एक ही है। श्वेतकेतु यह गूही है।" स्पष्ट ही अद्वैत का लक्ष्य-स्वरूप वास्तविक ज्ञान द्वारा आत्म-पहचान तथा एकता या लीनता है।

अस्तुन सरपोषणमिह वा आपार है ज्ञान। ज्ञान द्वारा जीव माया की वास्तविक रूपता एवं छन के आचरण को पहचान लेना है। उनके लिए सम्पूर्ण विश्व अस्तित्व में होने हुए भी विषया प्रभावित हो जाता है। वह ज्ञान सत्य है कि देश काम और विविध अथवा नाम-रूप की विभ्रता के कारण ही अय-अनिष्ठ अनेकता का अस्तित्व है। तानर से लहर वेचन नाम-रूप में ही मिश्र है अन्वया उक्त नापर वा बन होने में किसी को क्या लम्बे हो सकता है? यही स्थिति परमात्मा की मापर में आत्मा की लहरों की है। अथ यदि जीव यह जान ले कि वह वही है जिसको उसे विज्ञाता है तो दोनों ही एकता में क्या विनाश? अद्वैतवाद का वही मूल-मिडान्त है। इसी के आशय अद्वैतवादी संतार को विषया ब्रह्म को सत्य हस्य अस्तित्व को भ्रम कहते हैं तथा सब की शीघ्रिक स्यास्या के लिए ब्रह्म की ऐकिक शक्ति काया की बस्यता करते हैं। जन-भाषारण को समझाने और ज्ञान की प्राप्ति से पूब लामना की ओर प्रवृत्त करने के लिए उन्होंने तद्विगेय-ब्रह्म (ईश्वर) को भी मान्यता दी थी—बरन्तु

१ १२ नवम्बर १८६७ ई० को देशान्त पर लहौर में दिया गया व्याख्यान 'मक्ति और वेदान्त' में उद्धृत।

ध्याम रहे कि यह विचार ब्रह्म-ब्रह्मात् के प्रचार की दार्शनिक-स्थिति में ही कार्यान्वित है। दूसरी सीढ़ी पर अनेकता का प्रकृत मिथ्याता जाता है तो व्यक्तिगत ईश्वर को क्यों कर स्वायत्त दिया जा सकता है? अभिप्राय यह कि ब्रह्म-वादी सम्पूर्ण-निर्माण के अन्तर्गत और बाहर केवल एक ही चिर-व्यक्त को स्वीकार करते हैं—जो रचना भी है रचिता भी और रचने की क्रिया भी और उक्त-सर्व तक पहुँचने का माध्यम है ज्ञान।

विश्व के दूसरी और शुद्ध मानक का व्यापारिक-सदय आत्म-परिचय के उपरान्त ब्रह्म-सीमता तो है परन्तु एकता में अनेकता का समबर्ती रूप उनके मतानुसार लेकर से भिन्न है। शुद्ध मानक भी एक को परम-सत्ता मानते हैं तो भी उसी रचित अनेकता को मिथ्या या भ्रम म कहकर, उसकी आज्ञा (हुक्म) का अन्वय प्राप्त मानते हैं। विश्व की सार्वकला शुद्ध मानक के लिए सत्य भी है और असत्य भी। परम-सत्य का हुक्म होने के बावजूद यह सत्य है उससे जीव अज्ञान की कृपा का अनुमान करता है तथा उसमें रहता हुआ सत्पुरुषों का संशय करता है। परन्तु विश्व के आकर्षणों में कर्तार पति प्राणी शुद्ध-आज्ञा की श्रवणा करता है तो वही विश्व अक्षय या माया बन जाता है। इस स्थिति में वह स्वायत्त है। 'माया के पार हुए वेदान्ती का आत्म-ब्रह्म भी उसे तटस्थ रिक्तता है सखी रूप केवल इष्टा। परन्तु गुरुमत का निर्णय परिपूर्ण आज्ञा में सबको बलात्ता कर्ता विद्यता है। मोक्षी या वेदान्ती परमपद को प्राप्त कर स्वयं भी मात्र इष्टा रह जाता है। परन्तु शुद्धपद परमपद को प्राप्त हुक्म में काम करता है। शुद्ध का नाम करना तथा परोक्षकार करना यह उसका स्वाभाविक क्रम हो जाता है।"^१

जीव में ब्रह्म व्याप्त है जो इन दोनों में अन्वय प्रस्तुत करता है। परन्तु फिर भी जीव और ब्रह्म एक एक पुरा है अब तक कि शुद्ध-आज्ञा में रहते हुए जीव नाम प्राप्त कर स्वयं नामी को पहचान नहीं सैता। फिर तो विश्व प्रतिविम्ब मात्र प्राप्त हो जाता है। इससे शुद्ध मानक के दृष्टिकोण में जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों में श्रेष्ठ और अन्वय दोनों का आचार प्रकट होता है। जिनमें अन्वय मुख्य है। व्याप्ति इतनी पूर्ण हो जाती है कि व्यापक व्याप्य से समरूप हो जाता है।^२ मजे की बात तो यह है कि जीव ब्रह्म का अन्वय होने हुए स्वयं भी शुद्ध ब्रह्म से कम नहीं रहता। वेदान्ती इत दृष्टिकोण से पूर्ण त शुद्ध निकलने पर भी पूर्ण बाकी रह जाता है। ब्रह्मकारण्यका अनिपत्त में भिन्ना है—

१ शुद्धपद निर्णय सारि ओषधित्त-पृ० १६,

२ शुद्ध सति पित महि श्रित बरि श्रित महि बरि कि पित।

कबीर ब्रह्मवसी पृ० २१३ पद १०६।

वा

सात्त्विक नामक लक्षण में सात्त्विक सब बट रह्या समारि।

वही पृ० १०५ पद ३।

पूर्वमहः पुत्रमिदं पुत्रित्पुत्रंमुदभ्यते । पूर्णस्य पुत्रंनाराय पुत्रंनैवावशिष्यते ॥ II ५ ११ ।

स्पष्ट ही यह स्वरूप अद्वैत से भिन्न है अद्वैतवादी तो ब्रह्म से बाहर भ्रम के अतिरिक्त और कुछ मानने को तैयार ही नहीं। साधन रूप में भी अद्वैतवादी केवल ज्ञान और त्याग का आशय लेता है जबकि मुद्र मानक विश्व में ही सक्रिय रहते हुए सिमरण ध्यान और लक्ष्य की साधना को महत्त्व देते हैं।

जीव के लिए लक्ष्य-सिद्धि का अधिकारी होना भी दोनों दृष्टिकोणों से पृथक है। वेदान्त को समझने के लिए विज्ञानों को विधिपूर्वक बेध तथा छ वेदांगों का अभ्यसन करना आवश्यक है अन्ततः इनके उत्पत्तों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना तो उचित ही है। उसे काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर नित्य और नैमित्तिक कर्म को करते हुए, प्रायश्चित्त उपासना आदि का अनुष्ठान करने से अन्तःकरण के मलों को दूर करना भी आवश्यक है जिससे अन्तःकरण स्वच्छ और शुद्ध हो जाय। परन्तु नित्य और अनित्य वस्तुओं में विवेकज्ञान इस लोक तथा परलोक में प्राप्त फलों से विरक्त 'शम' 'दम' उपरति' 'तितिक्षा' समाधान (समाधि) तथा 'भ्रष्टा' इन अष्टांग-योगों से मुक्त होना आवश्यक है। अन्त में मुक्ति के लिए इच्छा भी होनी आवश्यक है। इस प्रकार की योग्यता प्राप्ति पर ही जीव वेदान्त सत्य का अधिकारी होता है। वेदान्त के विषय अनुभव करने के हैं। साक्षात् अनुभूति न होने से ब्रह्म-तत्त्व का ज्ञान नहीं होगा ॥^१ इसके विरुद्ध नामक दृष्टिकोण से ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बनने के लिए किसी प्रकार के अष्टांग-योगों या तपस्या निवृत्ति अथवा प्रायश्चित्त-उपासना आदि अनुष्ठानों की कोई आवश्यकता नहीं। पढ़-लिख कर बड़ वेदांगों के साक्षरीय ज्ञान की भी कुछ अपेक्षा नहीं—यहाँ तो 'हृदि को भजे तो हृदि का होय।' परिवार में रहते दुनियावादी के कर्म-कर्तव्यों को पूर्ण करते हुए जो जीव अपने सत्कर्मों की दृष्टि और दुःखदिवियों के त्याग द्वारा आत्मा को शुद्ध करता है जो औचित्य जगत के स्वाध्याय का भ्रम तथा मन की हठमै को भीतर से दूर कर देता है और गुरु की आज्ञानुसार नाम जपता है वह प्रभु-कृपा का अधिकारी होता है। ऐसा जीव ही परम-पुरुष से एकता प्राप्त करता है और पहले जीवन-मुक्ति, तत्पश्चात् ब्रह्म में विर-विस्तीर्णता का भागी होता है।

७

गुरु नानक तथा लक्ष्य-सिद्धि के अन्य दार्शनिक साधन

नाम रतै हउम जाइ । नामि रते सचि रहे समाइ ।
नामि रते जोगु बुगति बीजाइ । नामि रते पाबहि मोल बुजाइ ।
नामि रतै निमबध सोझी होइ । नामक नामि रते सदा मुख सोइ । १२ ।

×

जउ तउ प्रेम सेलय का जाउ । तिर धरि मली मेरी जाउ
इतु नारति बँह परीअं । तिर बीअं कामि न कीअं । २० । (बपीरु)

गुरु मानक तथा योग

भारतीय नैदानिक परम्परा में योग-दर्शन का निजी स्थान है। यहाँ भी आत्मा और परमात्मा को दो जुदा इकाइयाँ मानकर, उनके मिलन की बात कही गयी। योग (अर्थात् मिमांसा) के सहयोग की अपेक्षा भी हुई। यही कारण है कि प्रसू-मिलन के भिन्न माध्यामों पर अलग-अलग यौगिक स्वरूप प्रस्तुत किए गए, यथा आत्मयोग, प्रेमयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि। अभिप्राय यह कि भिन्न माध्यामों पर जैसे भी योग (प्रसू-मिलन) सम्भव हो सका उसी को अपनाकर 'योग' नाम दे दिया। परन्तु पातञ्जलि का योग-शास्त्र उनमें निराला ही रहा और उसमें कर्म ज्ञान या भक्ति से इतर संवेदनशील शारीरिक-क्रियाओं द्वारा स्वरूप की पहचान का लक्ष्य जुटाया। भारत के अनेक सम्प्रदायों में जो नामों का भिन्न-भिन्न आदि ने हठयोग का आशय लिया। कृष्णकमल योग का परीक्षण भी करते रहे परन्तु राजयोग वह तो काई बिरला ही पहुँच पाया। योग-शास्त्रों में योग अथवा मिलन की स्थिति समाधि कहलाती है। उक्त राजयोगी शक्त तब पहुँचाने का शक्ता पर्याय कीहूँ और दुस्तर है। परन्तु गंतव्य को पालने वाला इत्यादि में लौन हो जाता है। कर्म-विकार इस प्रकार है। योग की परिभाषा

- १) आत्मनः में इन शारीरिक-क्रियाओं का लक्ष्य मानसिक और आध्यात्मिक-क्रियाओं का विकास और शांति ही है, परन्तु आत्मनः शारीरिक-निरास से होने के कारण ऐसा कहा गया है। दूसरी ध्यात देने की बात यह है कि पातञ्जलि-योग काही कर्म ज्ञान या भक्ति में मिलन भी भिन्न क्यों न हो ता भी है यह अपोसम्पादित। पातञ्जलि ने स्वयं योग को आत्म-मार्ग का आधार माना है। बुद्ध भक्ति और प्रेम का बीज ही एक है जिन्हें सपयोग से पुनः पुनः नष्ट नहीं किया जा सकता। कर्म-मार्ग मन्त्र-योग का ही स्वरूप है। इस प्रकार योग शास्त्र के चारों मुख्य स्वरूप (१) हठयोग (२) मन्त्र योग (३) सपयोग और (४) राजयोग कही न कही अन्य विद्याओं के साथ विचार-गणन प्रस्तुत करते ही हैं। पातञ्जलि के योग-दर्शनों में मुख्यतः राजयोग का विशेषण है। हठयोग आत्मनः राजयोग का ही आरम्भिक रूप है परन्तु राजयोग में विवेक का समन्वय गठ का रूप ब्रह्म है। और योगी 'सर्वस्य' (परम-अर्थ) को पहचाने। मन्त्र-योग में वैश्व भिन्न शारीरिक-अंगों को लेकर देवी-देवताओं की स्तुति में यन्त्रोच्चारण किया जाता है। सपयोग में योगी लक्ष्य-विकारों को सम्पूर्ण रूप उन्मूलन में लौन हो जाता है आदि।

बैते हुए पाठजलि लिखते हैं कि चित्त-वृत्तियों का निरोध करना ही याग है।^१ चित्त-वृत्तियाँ जो कि मानस-स्वप्न में निरन्तर-प्रवाह की भाँति बहा करती हैं अधिकतर बाह्य-व्यापारों पर अवलम्बित रहती हैं। हम भाँषों से बचते हैं, परन्तु मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र (Visual Area) की अनुपस्थिति या भाँषों तथा मस्तिष्क के बीच के सम्बन्ध के अभाव में हम देख नहीं पाते। पुनः जो कुछ हम देखते हैं उस समय के लिए बुद्धि तथा आम की प्रतिक्रियाओं के हेतु मनस् की आवश्यकता पड़ती है। तब इन सबके पारस्परिक सहयोग से वस्तु का सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है चाकि धीरे-धीरे चित्त-वृत्ति का नाम चारण करता है। अतः चित्त-वृत्ति के निरोध का अर्थ हागा इन्द्रियों मत बुद्धि एवं अहं का पूर्ण वसन। इसी से आत्म-पहचान सम्भव है। महर्षि पाठजलि लिखते हैं कि साधारणतया चित्त-वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं जिनमें सुखदायी और दुःखदायी दोनों रूप विद्यमान रहते हैं।^२ प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृति^३ में से प्रमाण (जिसका अन्वय प्रत्यक्ष अनुमान तथा आप्त-वाक्य होते हैं) तथा कुछ सीमा तक निद्रा (जिसमें मनुष्य अपने दुःखों को भूल जाए। स्वप्न-विहीन) सुखदायक वृत्तियाँ कही जा सकती हैं। शेष विपर्यय (अविशेष अथवा भ्रान्त-ज्ञान) विकल्प (शब्द-आल) तथा स्मृति मनुष्य के दुःख का कारण बनते हैं। इन पाँचों प्रकार की चित्त-वृत्तियों को यदि संयमित किया जाय तो योग-साधना का धीमे-धीमे सम्भव है। पाठजलि का मत है कि केवल अभ्यास या अनाकर्षण से ही इन्हे संयमित किया जा सकता है।^४ कुछ लोग घटा-वीर्य-स्मृति-ध्यान तथा विवेक के बल पर भी समाधि के अधिकारी बनते हैं।^५ ईश्वरोपासना का आशय यैते है।^६ इस प्रकार चित्त

१ योगचित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ पाठजलि याग-सूत्र ।

२ इत्ययं पंचतय्यं निलय्या अस्मिप्या । १ योग-सूत्र ।

३ प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः । १ ।

(Right knowledge Indiscrimination Verbal delusion Sleep and Memory)

४ अभ्यासवैराग्ययोः तन्निरोधः । १ पाठजलि योग-सूत्र ।

५ घटा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम् । १ २० याग सूत्र

६ ईश्वरपूजिवासाहा । १ २३ ।

ध्यान रहे शरीर और मन के सम्बन्ध बताने में योग-किलना भी सांख्य दर्शन से मिले परन्तु फिर भी योग में ईश्वर पर विश्वास रखा गया है। योगियों का ईश्वर-सृष्टि-रक्षक नहीं उनका ईश्वर-दूतों के बीच रूप-ज्ञान का अपने समान अपरिमित करता है तथा काल-अकाल की सीमाओं से बाहर होने के कारण सनातन समय से ही युद्धों का भी युद्ध है। पाठजलि लिखते हैं—

तत्र निरतिशयं सर्वमात्मवीर्यम् । १ २५, योग सूत्र ।

य पूर्वेषामपि बुद्ध-कालेनात्मवन्देष्टम् । १ २६ योग सूत्र ।

वृत्तियों का निरोध सम्भव माना जाता है। यदि हम योग-साधना के व्यावहारिक-पक्ष की ओर मुझे तो समाधि उपस्थिति का लक्ष्य पाने के लिए पहला कदम श्रिया-योग कहना चाहता हूँ। इसमें माथी-योगी को क्रमानुसार योग बातों का ध्यान देना होता है (क) तप (ख) स्वाध्याय तथा (ग) कर्म-फल के ईश्वरार्पण की भावना।^१ वहाँ कुछ ऐसी अडचनें भी हैं जिनसे निस्तार पाना योगी का पहला कर्तव्य होगा तथा अभिधा अर्ह समाध धृता तथा जीवन के प्रति मोह।^२ तप या संयम की पहली स्थिति (जो कि अल्प तप मात्र वेद के कारण अस्तिम भी है) अर्ह समाध धृतादि का सुचारु उप-चार प्रस्तुत करती है। इसके लिये उत्तरोत्तर आठ दशाओं का वर्णन पाठश्रिया ने प्रस्तुत किया है—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। यम पाँच है—ब्रह्मिमा सत्य अस्तेम ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम भी पाँच ही है—धीर मन्तोप तप स्वाध्याय ईश्वर-प्रतिघाम। ये दोनों दशाएँ (यम और नियम) क्रमानु क्र जीवन की सदगुणों तथा व्यदस्था के सुखों में बाँधी हैं। पश्चात् आसन और प्राणायाम के आधुनिक निश्चल बैठने एवं स्वासाच्छ्वासाओं पर काबू पाने का अभ्यास किया जाता है। पूरक (स्तोत्र अन्दर शीतला) कुम्भक (रोकना) तथा ऐक्यक (छोड़ना) की निरन्तर श्रिया द्वारा प्राणों को उपस्थित किया जाता है। इसके लिये योग-साधना का कठिन का मारम्भ होता है। प्रत्याहार का अभिप्राय है अयोग्य और अनुचित तप्य को उसकी उपस्थिति में भी मानसिक संयम द्वारा झुटमाना। यह कार्य कठिनपय कठिन है परन्तु इसमें लफलता पा जाने का मर्ष है दुनिया के सुख-दुःख से बहुत ऊँचे उठ जाना। धारणा ध्यान और समाधि तीनों का समन्वय ही आन्तरिक राजयोग का स्वरूप है। पूर्वोक्त बातें इन्हीं तीनों की प्राप्ति की साधन हैं। श्रिया योग की घुमरी और तीमरी स्थिति भी इन्हीं तीनों को लक्ष्यक बनकर आती है। निश्चालों केने एवं अल्प आत्मीय-बाह्यिक का स्वाध्याय उपर्युक्त अडचनों में से अभिधा और जीवन के प्रति मोह का मरुत करने में समर्थ है। कर्म-फल का ईश्वरार्पण करना योगी को महान् समाधि के लक्ष्मीतर से आता है। पाठश्रिया ने श्रिया भी है कि सर्वत्र ईश्वरार्पण कर्म से ही समाधि-रमा प्राप्ति होती है।^३

उपरिनिमित्त स्थितियों प्राप्ति करने वाला क्रिमानु भौतिक-कठिने अनु-य का अधिकारी होता है। प्राय मन की बंधनता यहाँ पहुँचने पर योगी का वय उ कान्ते में अपनी बुरी कठिने मुटा देती है। उसका मरुत होने पर मुक्ति पवारोती

११ स्वाध्यायैश्वर प्रतिघामानि श्रियायोगः ॥ १ योग सूत्र ।

अध्यात्मिनाद्यप्येवाभिनिवेशा बनेगा ॥ १ योगसूत्र ।

समाधि निश्चिन्तन प्रतिघामानु ॥ ४२ योग सूत्र ।

योगी शीघ्र में ही मटक जाता है और श्रद्धियों शिष्टियों की शक्तियों द्वारा कभी कभी जन-साधारण का आतंक बन जाता है। परन्तु सन्ने राजयोगी का संतुल्य बहुत आन है। उसे चारणा और ध्यान के माध्यम से समाधि की अवस्था प्राप्त करनी है और समाधि के पहारे वैबल्य। महर्षि पार्श्वरति अपेक्षित व्याख्याओं और परिभाषाओं की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं कि किसी प्रयोजन विशेष पर 'उं' वाप के माध्यम से मन को स्थिर करना चारणा' कहलाता है।^१ उसकी निर्द्वार विवेक-शील साधना 'ध्यान' का विषय है, और जब नाम रूप के ज्ञान के बिना ही विमुक्त तन्म को ममझने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाए तो वह 'समाधि'^२ होगी। हम तीनों को एक ही प्रयोजन के सम्बन्ध में जब व्यवहृत किया जायगा तो चिर-संयम का उन्म होगा।^३ यदि कोई महाविज्ञानु उल्ल संयम को पाले तो उसे परम-ज्ञान की अमर श्योति की उपलब्धि होगी।^४ यही वैबल्य संयम है।

प्राणायाम का जो स्वरूप पीछे केवल स्वाछ-श्रमा का संयमित करने में दिखाया गया है आगे बसकर शैथिल्य-प्राप्ति की परिधि के बाहर आध्यात्मिक-प्राण (चारणा) को व्यवस्थित और संयमित करना भी उसका विकसित रूप का विषय बन जाता है। प्राणायाम का यह रूप वास्तव में योग साधना का प्राण है। व्यवहार पक्ष में योगी का उच्चतम लक्ष्य इसके द्वारा सुपुष्ट कुण्डलिनी-शक्ति को बजाकर करीर और मन से पूर्वत सम्बन्ध विच्छेद करने एवं आत्मा को पूर्वत स्वतन्त्र रूपन में ही निहित है। "योगिक मतानुसार रीड़ के दोनों ओर विषमा तथा द्रुका नाम की दो शक्ति हैं। रीड़ के बीचो-बीच एक मसकी सटीका मन्त्रा छर भी है। बीचो-बीच कुण्डला कहते हैं। उस क्षेत्र के निम्न-छोर पर एक 'अमल' है जो कुण्डलिनी का वासन कहलाता है। योगी-जब इसे त्रिकोणारमक मानते हैं और इसमें निवसित कुण्डलिनी को महत् शक्ति-श्रोत। कुण्डलिनी (त्रिकोण रूप नागिन की भाँति है, और जो उठी प्रकार पीरे-धीरे ऊपर को तिसकने की शक्ति रखती है) का वासन उसे इतना सामर्थ्य देता है कि वह सुपुष्पा के बीच से चला बनाती हुई ऊपर को तिसकने लगती है। ज्यों-ज्यों कुण्डलिनी शक्ति ऊपर उठती है वैसे ही मन की एक-एक तह मुमती रहती है और योगी विष्य-दृष्टि तथा अद्वितीय ज्ञान का स्वामी बनता जाता है। जब कुण्डलिनी शक्ति का स्वर्ण करती है तो योगी मूढ और मनसु स पूर्वत विकल्पित हा जाता है

- १ देहवाचविषयस्य चारणा । III १ योग सूत्र ।
- २ तत्र प्रत्यर्कज्ञानता ध्यानसु । III २ योग सूत्र ।
- ३ तदेवायंयावन्निर्वातं स्वल्पं कुम्भसिद्ध समाधिः । III ३ योग सूत्र ।
- ४ अयमेकस्य संयमः । III ४ योग सूत्र ।
- ५ तन्मयात् प्रवृत्तौकः । III ५ योग सूत्र ।

और उसकी आत्मा मुक्ति पाती है।”^१ “स्पष्ट ही यही प्राणायाम का सत्य मूलाधार में सिपटी महत्-शक्ति कुण्डलिनी को बनाता ही है।^२ मूलाधार से मस्तिष्क तक पहुँचने के लिए कुण्डलिनी को छ विन्न चर्म्मों से होकर गुजरना होता है—स्वाधिप्यान, मणिपुर, मनाहठ विज्ञान आत्मा और सहस्रार। इसका मस्तिष्क तक पहुँचना ही आध्यात्मिक प्राणों की पूर्ण विनय है। इसी से सत्-ज्ञान का उदय होता है। परम-नियमादि तो केवल विल-सृष्टि के लिए हैं धारणा ध्यान और समाधि उच्च-शक्ति की प्रतीति के लिए। सीखा बैठने के सम्बन्ध के लिए आसन की आवश्यकता पड़ती है ताकि कुण्डलिनी का उदयान सुगम हो सके। भौतिक दृष्टिकोण से इसमें पर्याप्त पीडा भी होती है, परन्तु प्रत्याहारों योगी उसकी उपेक्षा करता है तथा अत्यन्त प्राणायाम के उक्त विकसित रूप के माध्यम से बाह्य प्राण-वायु को संयमित कर आध्यात्मिक-प्राणों को उत्तम कर कुण्डलिनी शक्ति को जमाता है। इसी में उसकी विनय है वही वह आसन रूप में स्थित होता है। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है “कुण्डलिनी का जागरण ही वास्तव में अन्तःकरण-ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। वही दिव्य-दृष्टि और आत्म-ध्यान का विशिष्ट माध्यम भी है। प्रस्तुत जागरण की सम्पादना के अनेक आचार हैं—ईश्वर के प्रति प्रेम के द्वारा पूर्व-सर्तों की कृपा-दृष्टि के रूप स्वल्प अथवा दार्शनिक (विचारक) की विस्फेप-शक्ति के माध्यम से।^३ अभिप्राय यह कि राजयोग में सन्मुख की कृपा ईश्वर और उसके प्रति चाहत एवं दार्शनिक विस्फेप सब का समन्वित किया गया है जिसके बहुत से सर्तों से बुद्ध मानक का सहमय होना स्वाभाविक होया।

परन्तु हठयोग का जो रूप साधकों या सिद्धों ने अपनाया था बुद्ध मानक उसके विरुद्ध रहे। राजयोग में भी आरम्य में मन तथा शरीर को संयमित करने के लिये विल-बल का प्रयोग किया जाता है बुद्ध मानक उते भी चाह नहीं मानते। आत्म-संयम या दिव्य-दृष्टि के लिये से सीखा जाए तो बुद्ध साहित्य योगी ही नहीं योगी राम लिखाई पड़ते हैं परन्तु अपने तिल्यों को सर्वस्व त्याग कर परम-निषर्णों के चरणों में अर्पण और निष्कर्ण निषर्णों का रोषण करना उन्हें कदापि पठ्य न था। वे तो प्रेम की अद्भुत शक्ति द्वारा अपने प्रभु में मीन होने का वह अमर मन्त्र के रहे वे जिनमें प्राणायाम की अथेता अटल विश्वास और अविश्व-भङ्ग का समावेश था। अपने प्यारे के नाम में आत्म-विमोह हो जाता ही उनके लिए योग की अनेकानेक क्रियाओं की सकल पूर्ति थी। “नाम के रंग में रंग जाने से ही हृदय का नाम हो जाता है नाम अपने नाम स्वभावतः ही परम-सत्य में मीन रहता है। नाम रच

1. Rjyoge by Swami Vivekanande p. 57

2. Ibid p 60

3. Ibid p. 65

नीम होने मात्र से ही योग की कुष्ठियों और विचारों की पूर्ति सम्भव है यही मोक्ष का द्वार है इसी से विष्णु-दृष्टि का उदय और बिलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिये गुरु मानक कहते हैं कि सुख की कामना करने वाले व्यक्ति का एक ही आशय स्थान है—प्रभु-नाम का स्मरण।^१

गुरु मानक इहा पिगसा सुपुम्ना मा कुष्ठमिनी की रहस्यारमक कर्माभिसा मुता कर जन-साधारण को उसज्ञान में आने की अपेक्षा सादा और स्पष्ट पृष्ठभूमि पर सदाचारपूर्वक जीवन के लुप्त-कर्मों के शास्त्र से गुरु की कृपा की कामना रखते हैं। उसकी उपलब्धि सर्वत्र प्राप्ति का आधार हो सकती है। योग-समाधि से पूर्व की कुछ स्थितियाँ अपने परिवर्तित रूप में गुरु मानक को मान्य हैं। वे उनमें योगिक कठोरता की अपेक्षा सहज कोमलता नैसर्गिकता और कर्तव्यनिष्ठता की भावना करने क पसपाती हैं। यम-नियमादि के ठोस और स्थिर यन्त्र-सूत्रों के स्थान में गुरु मानक की सम्पूर्ण विचारधारा ही स्वच्छ-जीवन की प्रतीक है। गुरु मानक मतानुसार मत्कर्मों के अभाव में गुरु की प्राप्ति असम्भव है। ये उत्तम सदाचार सद्बिचार सर्व-सम्मत प्रेम और सहाई कर्तव्य-पालन एवं समित-जीवन (नैसर्गिक संयम) पर ही केन्द्रित हैं। ये ही गुरु मानक के यम और नियम हैं। पुनः क्योंकि गुरु मानक स्वाध की पूरक कुम्भक या रेचक स्थितियों की बात ही नहीं करते उन्हें किसी विशेष प्रकार के आसन का नियोजन करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। गुरु मानक ने प्राणायाम का विषय ध्वननाया पकर है परन्तु कुष्ठमिनी के आसन क लिए नहीं। वे आन्तरिक-शक्ति को कुष्ठमिनी रूप में नहीं देखते बल्कि उसे परम-ज्योति का अक्ष मानते हैं। योगियों की कुष्ठमिनी की तरह उनकी वह परम-ज्योति कभी सुपुष्ताभन्ता में नहीं हुई, अतः उसके आसन का प्रसन्न ही नहीं उठता। उनके विचारानुसार कुष्ठमिनी के मन्त्रिक तक पहुँच कर आध्यात्मिक-ज्ञान के उदय का कारण बनना भी कोई आवश्यक नहीं वहाँ विष्णु-ज्ञान का स्रोत साम्राज्य गुरु है। ही आन्तरिक-शक्ति-गुरु परम-ज्योति का स्वल्प हठम (बहुकार) के पूर्व में बना हुआ स्वीकार किया जाता है। इस मन से केवल यह मान को ही हटाने की आवश्यकता है चित्त हति-निरोध की नहीं।^२ गुरु की कृपा होने पर वह स्वयं अद्वैत द्वारा जीव के हठम

१ नाम रते हठम जाड। नामि रते सधि रहे समाह। नामि रते बाय युगति बीबाह। नामि रते पाबहि मोक्ष हुआह। नामि रते तिमबन मोसी हा। मानक नामि रते मवा मुनु सोह। ३२। रामकामी मित्र गोष्ठी पृ० २४१।

२ योगी लोग मानते हैं कि सांसारिक-सुखों में बचाव का एक-मात्र तरीका है उसकी मूर्च्छित्वा माया के छिंदे से बचाव। क्योंकि कारण (माया) से बचने के लिए पहले कार्य (संसार) से बचना आवश्यक है इसलिए वे शेष प्रायः (शेष अर्थात् पृष्ठ पर)

का नाश कर देता है और मन स्थिर हो जाता है। जोश की यह स्थिति प्राणायाम से कुछ भी कम नहीं उन्हे इसमें पीड़ा उठाए बिना ही लक्ष्य की निकटता का आभास प्राप्त है। प्रत्याहार की यही आवश्यकता नहीं पड़ती। गुरु का निष्कल विरह-इहलोक परमोक्त और पारलोक-की प्रत्येक गति को हकमाधान मानता है अतः उस किसी भी उच्चिण या अनापेक्षित लक्ष्य से मुकरने का प्रश्न पैदा ही नहीं होता। गुरु मानक धारणा ध्यान और समाधि का कुछ अंशों तक स्वीकार करता है। वे प्रभु के नाम में मन रमाता 'भारजा' उसका सतत गुण मान 'ध्यान' एवं धीरे धीरे 'नामी' में ही मोन हो जाता 'ममाधि' का स्वरूप मानते हैं।

गुरु-विचार-संरभी में कृष्णस्तिनी को मस्तिष्क तक पहुँचाने वाला महापुरुष योगी नहीं। वह बिस्मी के खाने पर कङ्कन की तरह मालिं बन्द कर सन वाला ऐसा मन्त्रा व्यक्ति है जो सुख की लोभ में डुबी हो रहा है। इस विरहास से कि सफल होने पर उसे परमानन्द की प्राप्ति होगी वह शरीर को पीड़ित करता है और भविष्य तो है ही बाद की बात। अन्तु गुरु साहिब के मतानुसार सच्चा योगी नहीं है जो गृहस्थ परिवार को त्यागने की बजाय मुगड्यों का त्याग करे और गुरु-मन्त्रों को मममन्त्र हृदय की परम-ज्योति के अमर प्रकाश का दिव्य-दर्शन पा सके। वह जीवित ही मरना भीष ने (अर्थात् इन्तमी का मन्त्र कर से) और अपने अन्तर में उस बाह्यगुरु की महान अनुकम्पा के प्रति नमस्कार रहे। एम महापुरुष का योग स्वय-मिद्ध हाता है और वह आध्यात्म ज्ञान का अधिकारी भी बनता है।^१ अन्तिप्राम यह है कि निष्कल मत का योग आरम-संयम का नहीं शब्द-संयम का रूप है।

मुनेद पर्वत पर बस मिद्ध-योगियों ने गुरु मानक से योग की दार्शनिक स्थिति जानने की उल्लुखता प्रकट की तो उम्होंने स्पष्ट कहा कि अथवा शक्ति और योग के सम्बन्धों को संयमित करने मात्र से अनाहृत-मन्त्र का अर्थन सम्भव नहीं यह

(शेष पिछले पृष्ठ का)

संसार के आर्तवर्षों का त्याग करने में विश्वास रखते हैं। परन्तु गुरु मानक संसार को प्रभु के हुकम की रचना मानते हैं और माय ही माया की भी बाह्यगुरु को जाता और ज्योति का अंग ममसते हैं फिर वे भना इसक त्याग में कैसे विश्वास कर सकते हैं? वे तो उल्टे मूर्ति की अस्तुन रचनाओं का आनन्द नूतने का कहते हैं।

- १ सो योगी गुरु सबहु पछागी अंतरि कमसु प्रगामु पीमा ।
जीबड मरै ता मनु किछ मूर्त अंतरि जायै सरब बन्ना ।
मानक ता बउ विरै बडाई आपु पछागी नरब जीमा ।

२४ रामरनी प० १ मिद्ध मोटी पृ० १४०

- २ जैमा कि योग-गुरुओं में कहा गया है—

शोनाकारायाः लम्ब-संयमादिभ्यं शोचम् । III ४० योग सूत्र ।

सन्मुख की देव है। उसकी कृपा हो तो पलक-गर में लम्ब का निवेदा हो सकता है— परन्तु बन्ध-दीन में उसे शक्य करना या समझना मात्र ही बुद्ध नामक का लक्ष्य नहीं रहा वे तो बन्ध-बन्धि का अनुकरण कर नाम की सहायता से 'नामी' में सीन हो जाने का संकल्प संसार को प्रदान करने आए वे। अतः कहते हैं 'हे अवबुद्ध (योगियों के लिए प्रयुक्त एक सम्बोधन) निर्भय की बात तो यह है कि प्रभु के नाम के बिना मोक्ष साधना का आधार ही नहीं रहता। नाम में सीन जीव बिन एत मस्त रहते हैं उन्हें परम सुख की उपलब्धि होती है। (बिन शक्तिर्मो को तुम योग-साधना से प्राप्त करना चाहते हो) वे सब नाम से प्रकट होता है और तुम्हारा एच्छित् आध्यात्मिक ज्ञान (ओ कृष्णकिरी के आवरण से तुम पाना चाहते हो) नाम-आप से शक्य भर म ही हस्तगत हो जाता है। तुम मोक्ष नाम के अभाव में प्रकार प्रकार के संत बनाये (योगियों का आश्चर्य रहे) फिरते हो इससे क्या लाभ? परम-सत्य तुमसे दूर हटता जा रहा है। इसलिए ऐ अवबुद्ध किसी सच्चे गुरु की आज्ञा करो और उससे प्राप्त कर नाम की कमाई करो वही सच्चा मोक्ष है। जरा मन में विचारकर तो देखो कि नाम के बिना कभी मुक्ति सम्भव हो सकती है।'

मन को संयमित करने की अपेक्षा तो है, परन्तु उसके लिए भौतिक-द्रव्यों की ओर भाँवें बन्ध कर लेने की आवश्यकता नहीं 'बुद्ध' में वादर का जमवा-देवते हुए उसकी महतीयता में विश्वास माना गुरु नामक को अधिक मान्य है। गुरु-सिद्ध के लिए तो हृदय में उसे परम-सत्य को पहचानना ही मन का संयम है। वही यात्र का मूल है। मन के स्वभाव का असंपूर्ण अवरोध गुरु नामक का मन कभी नहीं रहा। 'स्वाध्याय (धीनिक दृष्टिकोण से) करने वाला जीव बीरे बीरे बुद्ध की श्रोज और उससे नाम प्राप्ति की कामना करने लगता है—यही कामना उसके मन की अन्य कामनाओं की शीघ्र बनाती चलती है और संयम की दृष्टि होती है। गुरु साहित्य लिखते हैं कि इस प्रकार निश्चय हुआ मन जब हृदय-निवासित मूल को पहचानता है तो संतमय की मोक्ष-साधना का आरम्भ होता है। वह गुरुमुख (मोक्ष) इवास किया की कुम्भक स्थिति की अपेक्षा नाम कपी पवन को साँसों में भर कर सुविधा-व्यक्त आसन पर रह कर सत्त्व की श्रोज कर लेता है। क्या—

१ सबसे का निवेदा मुनि पू अठबू बिपु नाई जोयु न होई ।
नामै रावे अनदिनु राठे नामै ठे मुनु हाई ।
नामै ही ठे सनु परगट्टु होई नामै सोभी पाई ।
बिनु नाई मेय करहि बहुठेरे सबै जापि लुभाई ।
सठिपूठ ठे नाम पाईए अबबू जोग पुपति ता हाई ।
करि बीचाइ मनि देखहु मानक बिनु नाई मुक्ति न होई ।

इस मम निहृबनु हिरवे बसीजले पुरमुधि मुनु पछाणि रही ।

नामि बबनु बरि भासनि बैरि पुरमुधि सोजत तनु गहै ।

३२, रामकमी सिख म० १ पृ० २४२ ।

मिक्त-योगी (पुरमुधि) के सम्बन्ध में नामक बनाहुत कदम की पहचान की बात भी करते हैं । मिता है—

अमरु बानी पुरमुधि बानी बिरला को भरपाई ।

नामक वाली तबु मुभाके सधि रवि रंतु कबहुन जावे ॥ ३२ पृ० २४२ ।

योगियों की मूत्र-वर्षा पर गुरु-नामक मुत्र (मूत्र—पुरमत में अफुर-बहु की 'मुत्र' कहा है) की सखी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । उनका कथन है "बाप-मायना द्वारा तुम भाव अमर में मूत्र की कोम पचोकर कर सकते हो ? वास्तव में मूत्र वर्षा अफुर-बहु अमर-बाहर या सुप्त-बाधुन अवस्था में ममान है । तीनों लोक मूत्र मम हैं । परन्तु पाप-मुष्य की सीमाओं से तो केवल बहो मुक्त हो पना है जो तीन लोक से परे चौथे पद (गुरिआ पद) में साक्षात् बाहिषुन को पहचान संग है । वह बर बट में उषी मूत्र के धर्मन करता है निरंजन के नाम में भीम होकर स्वयं सतपुष्य रूप हो जाता है ।" "मेमा योमी-बीर शरीर की अविदन-इन्द्रियों को संयमित कर नेतमा को उमसे ऊँचा उठाता है और वहाँ एक रस-नीन रहने वाले बाहिषुन का भीम प्राप्त कर लेता है । सतपुष्य से ब्रिठका समाच है वह मदैव उस लक्ष्म्यापक को वर्तमान बना है । वह गुरु की जिज्ञाओं का परीक्षण कर लेता और प्रकट में बहो पालेता है ब्रिमकी बुधों से उमको जोज भी ।"

अन गुरु मतानुसार गोपकी बारम करने इच्छा सेकर बमने शरीर में घस्म ममान कानों में मुडाएँ पहनने मिर मूडबाने कथना लप फुब मेमे माच से बीनोपम रिप नहीं होती । इसके सिप ऐसी अनासक्ति की आवश्यकता है कि एण माबाकी हुनिय में रहते हुए भी जीव बह्य में भीम रहे और सयदृष्टि कर बिम्ब न प्राणी-माच को मया ममज सके । बहो लक्ष्मा बावी हाता । उठे अकाल के हुकम का पहचानना

१ अंतरि मुन बाहरि मुन बिमबन मुनपमुन ।

बउमे मुन जो तद जायै ता कउ पापु न पुन ।

बनि बटि मुन वा जायै भेउ । भादि पुननु निरंजन देउ ।

जो जपु नाम निरंजन राता । नामक मोई पुननु बिमाता ।

३१ रामकमी सिख म० १ पृ० २४१ ।

२ मउ मर मुजर दसवै पूरे । तह अनहन मुन बजाबहि पूरे ।

मायै रावे बेगि हबुरे । बटि बनि पापु रहिआ मरपूरे ।

गुपनी बानी परबुन हीइ । नामक परनि लण तबु मोइ ।

३१ रामकमी सिख म० १ पृ० २४४

होगा बुनिया के रहस्य स्वयमेव उसके सम्मुख खुल जायेंगे और तब वह सहसा संतोप की गन्धगी से झटीला हो निर्मल हो जायगा। सिद्धा है—

हुकमु हुमें सो जोयी एकस एकस सिद्ध बित भाए ।
सहसा दूर निरमनु होबै जोगु भुयति इब पाए ।

१ ७ रामकृष्ण अष्टपदी पृ० १०८

संज्ञा योगी तो वह है जो बाहरी आह्वार की अपेक्षा नाम बुन की किंगरी बजात और मन को महा सतपुरुष में सीम रखता है। सत्य की गोपनी कारण करता है संतोप के पात्र में नामामृत का भोजन पाता है और ह्रास में ध्यान का उच्च धारण कर विमुक्त-आत्मा का (गुरी) शंभ पूँकता है।^१

गुरु नामक के उपर्युक्त कथनों और विचारों को सम्मुख रखते हुए हम निम्न पूर्वक कह सकते हैं कि यद्यपि अपनी बानी में उन्होंने योग-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है तथापि उनका योग गुरुमति की विलिखिता और निजल भिए है जिसमें पीता के कर्मयोग एवं पातजलि के राजयोग की सतकियाँ भी मिसरी हैं और संतोप के गुरुत-शब्द-योग का प्रभाव भी। परन्तु, क्योंकि उनकी विचारपाट का आरम्भ और अन्त विश्वास (हुकम) में है तथा नाम ही उसकी मात्र-साधना है इसलिये उसका पुनक अस्तित्व मानकर हुकमयाग नाम-योग सहज-योग या नामक-योग कुछ भी नाम दिया जा सकता है। समाधि का अर्थ हमने भी है परन्तु गुरु नामक वहाँ अपना पृथक-अनुभव भी स्वीकार नहीं करते—मत समाधि की वही अवस्था गुरु नामक-बानी में सहजावस्था कहमाती है। इसकी प्राप्ति और स्वरूप हम आगे निजोगे।

सहजावस्था प्राप्ति और स्वरूप

योगियों का मह्य कैबन्ध है जिसमें वे स्वस्वरूप को देखते तथा आत्म-रूप में स्थित होते हैं परन्तु गुरु नामक का मह्य सीमता है वहाँ आत्म-रूप में स्थिति के अपेक्षा निरंकार में विमीनता का उद्देश्य मुख्य रहता है। यही सीमावस्था 'सहज' कहमाती है। प्रथम इसकी प्राप्ति का है। योगी लोग भव नियम या आसन द्वारा पहला आधमक तरीक पर करते हैं गुरुजठ का इसका सीधे मन पर है। गुरु साहित्य का विचार है कि तरीक तो मिट्टी है वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता। मन

१ ठमी टिनुरी बजा जोगी त्रिगु किगुरी अनहुतु बाने हरि सिद्ध रहे निव भाई।

मनु संतोपु पनु जोसी जोगी अमृत नाम भुयति पाई।

विज्ञान का करि बड़ा जोसी सिद्धी गुरुत बजाई।

१ १ एवं २ रामकृष्ण अष्टपदी पृ० १ पृ० १०८।

ही उमे अन्धे और बुरे मार्ग पर चलाता है। अतः जो मन भी समझित कर बुरे मार्ग में हटा केवल मन कर्मों हेतु प्रेरित किया जाए तो वह जागरण-स्था मिल सकती है जो प्राणायाम और प्रत्याहार के बर्षों के अभ्यास के बाद योगियों को उपलब्ध होती है।

मन की कुटिमता नाश करने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है। विज्ञानसुख महापुरुषों की आत्मिक शक्ति का अध्ययन कर आध्यात्मिक प्रगति की ओर प्रेरित होता है। तो सर्व प्रथम उमे किसी पद्य-प्रबन्ध महात्मा (सद्गुरु) की शोच करनी पड़ती है। उसके प्रयत्नों की निःस्वार्थता तथा पूर्व-कर्मों की विसृष्टि के कारण यदि उस पर प्रभु-रूपा ही जाए तो गुरु की प्राप्ति होती है। अब जीव (सिक्ल) के लिए मार्ग सीमा है उसे केवल गुरु की इच्छानुसार कर्म करते रहना है, शेष उत्तरदायित्व गुरु पर आजाता है। गुरु-शब्दों के अभ्यास में धीरे धीरे जीव की हठमी संबन्धता का नाश होता है। अहंकार का आकरण हटते ही मन तब अपने सुत्रिय भक्त रूप में प्रस्तुत होता है। अब उसमें किसी भी सद्गुरु की स्थापना सम्भव है। तब मन गुरु-आश्रयानुसार जीवन का व्यवहार चलाता है—बुरे कर्मों से दूर हटता और भले गुणों की अभिवृद्धि करता है। बाद में अन्तर-निवृत्त नाम की शक्ति (परम ज्योति का अंत) जीव के हाथ लगती है। ध्यान रहे नाम प्राप्ति हठमी के नाश या सद्गुरु की वृद्धि का फल नहीं यह प्रभु की विशेष रूपा का चोटक है। मत्कर्म करना जीव का कर्तव्य है उन पर रूपा करना प्रभु की इच्छा। यदि यहाँ नाम प्राप्ति को मनुष्य के मत्कर्मों का फल मान लिया जाए तो निश्चय ही जीव में कर्माभिमान का संभव हो सकता है—और यह सब गुरुमन में बजित है। नाम प्राप्ति के इस करम-सीत रूप के सम्बन्ध में गुरु मन्त्र देव लिखते हैं—

सरस्व रोय का अडकडु नाम। कलिभाय रूप धयल गुण गाम।

काहु क्षुपति किरत न पाईये परमि।

नामक तितु निर्ले जिमु लिखिया गुरि करमि।

२. ६ गठड़ी मुलमनी म० ३, पृ० २७४।

हठमी के नाश तथा नाम की प्राप्ति में मन स्थिर होता है। सहसावस्था की ओर बढ़ने के लिए जीवामा को अब दमर्ष-द्वार या शीत-पद (गुरिमा-पद) में प्रवेश करना अनिवार्य है। प्रतीत उठता है यह दमर्ष द्वार है कहाँ? बाहरी तरीक की रचना कुछ हम प्रकार की है कि जममें ती बाह्य-निष्ठ है और वे प्रायः एतन्त्रिक ज्ञान प्रबन्ध बाहरी आकर्षण का कारण बनने हैं। गुरु-सिक्ल को इन द्वारों से विनिम्न हो अन्तर्मयी होना अपेक्षित है। ऊपर कहा गया है कि नाम मानवान्तर में ही रहता है। "दमर्ष द्वार बह है जहाँ अनेक-रूप निर्द्वार के नाम का भण्डार है। अर्थात्

जहाँ हमारे अन्तःकरण में निर्द्वन्द्वी-ज्योति का वास है वही वसम-द्वार है।^१ तीसरी पाशचासी गुरु अमरवास स्पष्ट कहते हैं—

—तत्र कुमारे प्रगट्टु कीए वसवा पुपु रखाइया ।

× × ×

तहू अनेकक्य नाउ नचमिनि तिलवा मंत न जाई पाइया । कहै मानक हरि पिआरे ।
बीउ गुफा अंदरि रखि कै बाजा पबनु बजाइया । ३८ ।

रामकवी अनंद म० ३ पृ० १२२ ।

अभिप्राय यह कि दसवाँ-द्वार भी अंदर ही है परन्तु गुप्त है। उसमें नाम-निधि संभोई गई है परम-सत्य की ज्योति से बहु स्थान चिर-प्रकाशित है। इस केवल उस द्वार को सोमने और उसमें प्रवेश करने की बेर है कि बीज उस निर्द्वन्द्वी-ज्योति से मिमाप कर सकता है जोकि गुरुमति का अर्थ भी है। गुरु साहिब का विश्वास है कि दसवाँ-द्वार मात्र नाम-जाप से ही जुम सकता है।^२ द्वार जुमने पर बीजात्मा निर्द्वन्द्वी-ज्योति में लीन होता है और वही अमृत-पान तथा अनहद शब्द ध्यान करता है। (गोपी-जन अनहद शब्द-ध्यान दसम-द्वार से पहले स्वीकार करते हैं और उस शब्द की केवल पाँच प्रकार की ध्यानियाँ मानते हैं परन्तु गुरु मानक इन ध्यानियों को असंख्य मानते हैं और अवन-अमय वसम-द्वार जुमने पर)। गुरु मानक लिखते हैं।

गुरुमति रामु जाये जनु पुरा । तितु घटि अनहत बाजे पुरा ।

२ १६ अठई मबारेटी म० १ पृ० २२८ ।

और भी—

अनहबो अनहनु बाजे दन गुनकारे राम ।

मेरा मनो मेरा मनु रस्ता ताल पिआरे राम ।

अनविनु राता मनु बीरानी सुभ मंडलि घब पाइया ।

आदि पुरनु अपरंपव पिआरा सतिगुरु अननु मखाइया ।

१ जाई बोधसिंह बी गुरुमति निर्भव पृ० २३२ ।

२ तत्र दरवाजे काइया कोट्टु है दसवै पुपु रखीये ।

बजर कपाट न जुमनी गुरु सबदि जुमीये । १३ बार रामकवी म० ३ पृ० १२४ ।

तथा

देही नयरी तत्र दरवाजे । तिरि तिरि करमै हारै छाजे ।

दसवै पुरनु अतीनु, तिराला जाये अलनु लयाइया ।

४ २ १९, माक सोमई म० १ पृ० १०९९ ।

भासति बसधि विष नाराहणु तितु मनु राता बीचारे ।

नामक नामि रते बेराती अनहृद रूप शुभकारे ।

१ २ वासा छत पृ० २३६ ।

पुन अनहृद शब्द किस के हृदय म प्रकट हाता है ? निर्णय देत हुए भाई साहिब जोबसिह मिलते हैं 'अनहृद शब्द वही प्रकट होता है जिस बट में गुरुमति ग्रहण करके नाम जाप होता है । अर्थात् उम समय किया जाता है जब जीवारमा निरंकारी-ज्योति म मिमाप करती है । १ अन्तु जीव द्वारा गुरु-सम्पर्क को ग्रहण करता मन को स्थिर कर नाम जापना तथा स्वर्ग द्वारा शुभल पर परम-ज्याति स एकता स्थापित करना ही गुरुमति में सहजाबन्धा की प्राप्ति है ।

सहजाबन्धा का स्वरूप इसम विप्र प्रश्न है । इसकी अविभक्ति नाम-भाव के साक्षात्कार में है । हृदय क भास एव मन की स्थिरता से आन्तरिक-ज्याति द्वारा ही नाम की उपमधि होती है—यह पीछे पित्त जा चुरा है । यहाँ जीव मौलिक रूप में नाम-जाप करता है । (याग-भावना में बाग्मा ध्यान और समाधि का बणन किया गया । किमी बन्तु विज्ञेय मे मन का टिकाना—'धारणा' मन में निरन्तर उमी का विचार बनाए रखना—'ध्यान' तथा अन्तु बन्तु का नाम रूप त्याग कर उमक मर्षों का ध्यान करना—समाधि है । गुरुमति में नाम-जाप के समय की समाधि का स्वरूप यही है । परन्तु क्याकि निरंकार का कोई रूप नहीं इसलिय यहाँ रूप-कल्पना के बवैर ही मन को त्रिकामे की साधना का समर्पण किया जाता है । हमारे नाम-जाप के लिए योग शास्त्र में पार्लंजनि मे ब्रह्म क अनेक नामों म स 'ओ३म' नाम सम्मानित किया है गुरुमति में निरंकार क अनक नामों से जाप क लिए एक का चुनाव इसम पात्रगाह मे 'बाहिपुरु' किया है । यह केवल वर्माचार है यहाँ राम, नागयज्ञ अस्ताह या मास्टर कुछ भी बस सकता है ।) बीरे बीरे, आम तिम नाम को बाहराली है उसका ध्यान पहल म ही शुद्ध और स्थिर मन पर अंकित होन लगता है । बागिर जिस ध्यान का रूप जीवारमा 'शब्द' द्वारा बाहराला या बहु हृदय की भाषाज बन जाता है । बहा म्पति जा जाती है जो योग-समाधि म उम बन्तु का जो जिस पर मन टिकाया गया वा अर्चन् नाम रूप वा शब्द की भावयवना ही नहीं पड़ती अपन जाप मन म सर्व ही लक्ष्य का स्मरण होने लगता है । जिस समय भी अन्तु ष्टि की उमी लक्ष अन्तर के नाम को ध्वनि मजब हो उठती है । हम यही सहजाबन्धा का स्वरूप है ।

गुरु अर्जुनरव जी ने सहजाबन्धा की प्राप्ति और स्वरूप का एक सुन्दर रूप-रमय विष प्रस्तुत किया है । मिलते हैं—

१ गुरुमति निर्णय (पंजाबी), पृ० २३६ ।

प्रथमे तिमायी हृदये प्रीति । तुरीया तिमायी लोका रीति ।
 त्रिगुण तिमायि बुरज्जम मीत समाने । तुरीया बुधु निमि साय पछाने ।
 सहज गुला महि वासनु बाधिया । ज्योति सखप मनाहुनु बाधिया ।
 महा मनहु गुर सबहु बीधारि । प्रिअ सिअ रती यम सोहागनि नारि ।

२ ३ भासा अरु २ म० ५ पृ० १७० ।

अर्थात् आत्मा अपनी नारी को (पतिव्रता) चिर-सुहायिन (पति-प्राप्ति प्रसू-मिलन या सहजावस्था) बनने के लिए सर्वप्रथम हृदय में अपनी और उस प्रेम का त्याग करना होता है और बाद में समाज के देखाव-बनाव से सम्बन्ध तोड़कर पति की ओर अग्रपद होगा पड़ता है। पुनः तीनों गुणों (सत्व रज तम) का त्याग कर अपने को पति में मीत कर देना होगा। पति (प्रभु) की कृपा प्राप्त करने के लिए उसी के द्वार (दसवाँ द्वार) पर घरपना समाना होगा तभी वह ज्योति-स्वरूप (पति-परमेश्वर) कृपा कर द्वार खोलता है और पत्नी (आत्मा) का अपना लेता है। अर्थात् अपनी ज्योति में विनीतता प्रदान करता है। वही उसे (आत्मा अपनी नारी को) अनहृद ध्वनियों का संघीत (भारतीय परम्परा में ज्योति और संघीत प्रसन्नता प्रकट करने के लोचक हैं) मिलेगा और वह चिर-सुहायिन हो जाएगी। अपने मन में पति का चित्र बिठा लेगी तब उसका नाम लेने की उसे आवश्यकता नहीं। (यही आत्मा के लिए सहजावस्था है) — परन्तु इस महानन्द को प्राप्त करने का बीज कहाँ है ?

—गुर सबवि बीधारि ।

नाम का महत्त्व^१

साधारणतः किसी भी व्यक्ति बन्धु या प्याण का रूप-गुण वृत्तों पर अभिव्यक्त करने के लिए बिलिप्त संकेत की आवश्यकता पड़ती है। वही संकेत नाम होता है। परन्तु गुरुवाणी में नाम कोई रूप-गुण बताने वाला संकेत नहीं बल्कि परम-ज्योति की अनन्त शक्ति को कहा गया है। निरकार के समस्त आकार और निरंजन की सम्पूर्ण रचना 'नाम' में सम्मिलित है। वह केवल संज्ञा नहीं। नाम सर्वव्यापक है और स्वयं निरकार न उसकी रचना की है—

आपी न मानु ताजिअ आपी मे रचिअ नाउ ।

बार भासा म १ ।

नाम सतपुरख का अंगर है और निरकारी-ध्वारि के रूप में अट अट में बरता है। गुरुवाणी में इसका उच्च मूल्यांकन किया गया है। मनुष्य-जीवन का दार्शनिक

1 Name is the link of the finite soul with its parent Infinite God
 Dr. Sher Singh in Philosophy of Sikhism p. 233

लक्ष्य और अल्प की सफलता नाम को पा जाने में ही निहित है। सतनुबध से ऐक्य प्राप्त करना नाम के माध्यम से ही सम्भव है।^१

गुरु नामक मतानुसार जीव के बुद्धियों का अस्तित्व तथा उसमें सद्बुद्धों की उत्पत्ति केवल नाम-स्मरण आप एवं कीर्तन से ही हस्तगत होती है।^२ नाम के पहचानने का यही तरीका है। गुरु-विचारानुसार नाम-स्मरण ऊँची और सच्ची प्रज्ञा मक्ति है। नाम-बुझ-गान करत बाणा सतपुण्य को सम्मुख पाता है।^३ मानव की सच्चाई नाम युक्त कर्मों में ही है। नाम विहीन कर्मों का कोई मोल नहीं—

हुई कमाने भाबे जाई कहति कथनि बारा नहीं भाबे ।

किया देखा सुस हुआ न पाव, बिनु नाबे भनि तृपति न भावे ।

२ १३ भासा पृ० २५२ ।

नाम ही गुरुमुख का वास्तविक कर्म-बर्म है। नाम रख में लीन होने वाल

गुरुना कीर्ति—

- १ मिथ-मिथ प्रचारों के भीतर नाम की उपासना सर्वतोमुखी है। आप लोगों में से जिन्होंने पुराने ईसाई धर्म व अल्प प्राचीन धर्मों का अध्ययन किया है उन्होंने इस बात पर अवश्य ध्यान दिया होगा कि उन सभी में इस नाम की उपासना का विभिन्न विचार स्थिर है। नाम बहुत ही पवित्र कहा गया है 'परमात्मा के नाम में'। आप लोगों ने पढ़ा होगा कि हिब्रू लोगों में ईश्वर का नाम इतना पवित्र माना जाता था कि साधारण लोगों के लिए इसका नाम बतना भी मना था बहु बहुत ही पवित्र था सभी नामों में वह पवित्रतम था हिब्रू लोग समझते थे कि यह नाम ही परमात्मा है। यह भी सत्य ही था क्योंकि यह बहुशब्द नाम और आकार के सिवा ही ही क्या? क्या आप कर्मों के बिना विचार कर सकते हैं? शब्द और विचार अलग नहीं हो सकते। यदि हा सकते हो तो तनिक प्रयत्न करके देखिये। जब कभी भी आप विचार करते हैं तो कर्मों द्वारा। शब्द अन्तर्गत है विचार बाह्यी उन्हें एक साथ ही रहना चाहिये। वे अलग नहीं हो सकते। एक के साथ दूसरा आता है शब्द के साथ विचार विचार के साथ शब्द ।

मक्ति और बेदान्त—स्वा० विवेकानन्द

- २ मायी मैनु मि^१ सपु नाद । गुरु प्रसादि रहे सिव नाद ।

१ १३ भासा म० १ पृ० ३५२ ।

नामि रत मनु निरल्प होइ । हरि पुन पाबै हउमै मनु साइ ।

४ बिसादल, म० ३ सनवाट, पृ० ८४१ ।

अहिनिमि नामु अपहु १ प्राणी मैमे हउे हाही ।

१ १ मफार म० १ पृ० १२५४ ।

- ३ पाबै को-----गाबै को बैर हावरा हदुरि ।

पङ्की ३ पपुजी पृ० २ ।

जीव ही अमृत हरि में लीन होते हैं । ऐसे महापुरुषों की संगति भी मुक्ति का कारण हो सकती है ।^१ अणुजी में तो बुध नामक न नाम की व्यापकता और महता का निर्णय 'बिन्दु नाहीं नाही को पाठ' कह कर दिया है ।

'नाम' जीव के अमृत में ही विद्यमान है ।^२ कहीं बाहर स भेने नहीं जाता । परन्तु जीव का अपने आप उस तक पहुँच सकना संभव बुद्धक है । नाम की अमृत रिक वास्तविकता पर मनुष्य की अतीव प्रसरित बुधियों का आचरण पड़ा है । अर्ह भाव में पञ्चअष्ट मनुष्य चाहते हुए भी अमृतमूर्त्ती नहीं हो पाता । जब तक हठमें का अमृत न कर दिया जाय नाम की उपसम्पि सविध्य है । इस लिए जीव को जीवन का दत्त बरबनना होगा किसी ऐसे अनुमती महापुरुष की आज करनी होगी जो अपनी अमिट कृपा और सहानुभूति से उसे वह मार्ग दिखा सके जिनके अनुसरण से मग की हठमें का नाश हो जाता है । केवल ऐसे ही किसी सद्गुरु की तरण म जान उसके आदेशा मुमार कर्म करने तथा उसके गृध गान स ही गुरु-शब्दा की विभूति द्वारा हठमें का नाश हो सकेगा । नाम की प्राप्ति के लिए अब विज्ञान को अपने जीवन म तथाचार तथा अमृत विचार सरीने सद्गुणा की वृद्धि करनी होगी । इस पर जो प्रभु-रूपा हुई तो लीलाव-वग वह जीव नाम का अधिकारी होगा । बुध को प्राप्त कर हठमें का नाश करना और बुद्धता को छोड़कर सद्गुणों की अमिद्धि करना नाम प्राप्ति का हेतु बन सकता है परन्तु प्रभु-रूपा की अनुपस्थिति में इस सम्पूर्ण वृष्टभूमि का कोई लाभ नहीं है ।^३ जैसा कि पीछे सिद्धा का बुद्धा है नाम उपर्युक्त सत्कर्मों का फल कदापि नहीं फल की भावना जाने स कर्म-क्षेत्र में निष्काम-वृत्ति का अमृत हो जायदा का स्वभाव ही पूर्वाभ्यास में बताए यह नामक के विचारों का विराधी आचार होगा । यहाँ प्रबल उठाया जा सकता है कि जब हठमें-नाम तथा अमृत सत्कर्म कपी प्रयत्नों से नामोपसम्पि नहीं होती प्रभु-रूपा और सद्भाग्य की अपेक्षा रहती है तो वे चारित्रिक प्रयत्न क्यों किये जाएँ ? उत्तर में कहा जा सकता है कि रूपा के अमितापी के लिए

१ कर्म कर्म सद्गु साधा नाठ ठाठ सद् बलिहरै जाठ ।

जो हरि राठे स बज परबाहु दिन की संगति परम निधानु ।

१ १४ भासा म० १ पृ० २१३ ।

२ नठ निधि अमृत प्रभु का नामु बैहि महि इतका विज्ञानु ।

१ २३ पठड़ी मुंगमनी म० ५ पृ० २६३ ।

३ बत सगी सब नाम की जो बीत्रे सो लाइ ।

तिसहि पराधति नामका बिसनो निधिमा भाइ ।

१ १५ स्तोत्र म० ५, बार पठड़ी म० ५ पृ० १२१ ।

मयबा

या तिमु भाबा तब ही माबा । ता गावे का फल पाबा ।

१ १ १२ सौरठ, म० १ पृ० १६६ ।

आवश्यक है कि वह पहले रूप-प्राप्त बने। उक्त प्रयत्न उसे दुर्गुणों से मुक्त कर प्रस्तुत करने है अथ अपेक्षित है।

नाम-ज्ञापक माध्यम से ही आत्मा अन्तर्यामी बनता है। जीवात्मा पञ्चम-शर के पार त्रिरंजारी ज्योति का दर्शन करता है और निरन्तर नाम-मूण नाम से उसे ज्योति सीनता का महत् लक्ष्य भी प्राप्त होता है। सहजावस्था में जब नाम हृदय में बस जाता है, मन उसके रंग में रंग जाता है (यही नाम-ज्ञापक अज्ञेय स्थिति में जाता है) ता मन की प्रत्येक प्रेरणा नामाधारित हो जाती है। योगी-जन लक्ष्य प्राप्त कर आत्म-स्थिति होते और बुनिया स जुड़ा हो जाते हैं परन्तु पुरुषसिद्ध सहज भाव में नाम ज्ञापक तथा जीवन-मुक्ति प्राप्त कर सेने पर भी निष्क्रिय नहीं हो जाता। वह अब त्रिष्य-रूपा रहता है अथ प्रत्येक वस्तु में अनन्त का हुकम देखता है। संसार का प्रत्येक कर्म जो हुकम-बद्ध हो रहा है उसके लिए आकर्षक होता है क्योंकि उसमें उसे अपने प्यारे (भ्रम) की करामात बीस पकती है। और वह उसी आकर्षण में लोभ-कल्पना का माग ग्रहण कर समाज का परापकारी जीव बन जाता है। अर्थात् कर्म से भी नाम ज्ञेयता है।

पुरमत्त में नाम को मनुष्य-जन्म की सबसे बड़ी विजय माना गया है। पुरुष नामक लिखते हैं कि नाम ज्ञेय बाला सर्वत्र परमानन्द का भागी बनता है वह कभी बुद्ध रूपी यम के तीरों से नहीं बीसा जा सकता। नाम ज्ञेय स हठमें का नाश होता है मर्मान की प्राप्ति होती है और गुहमुख को सततगृह प्रवेश का अधिकार मिलता है। नाम ही मात्र मुक्ति का द्योतक है अन्यथा यही मनुष्य का कोई रसाई नहीं—

नामि विदूने आदमी कसर कंब गिरति ।

बिनु नाई किञ्च छूटीये बाइ रसातति अति ।

३२ रामकृष्ण दकनगी पृ० १ पृ० २३४ ।

बान्धव में अन्तर की जोड़ करने वाला विद्यासु जीवन की एवं जीवनोत्तर मन्त्र निश्चिपों को प्राप्त करता है। निम्न है—

त्रिनि भद्र मालिनी पुरुष सखि मुहूर्त ।

जो इच्छति सो पाइये हरिनामु पित्रार्थ ।

त्रिनो कृपा करे तिसु पुरुष मिले सो हरि पुत्र पार्थ ।

परमराइ तिन का मित्रु है जम मणि न पार्थ ।

हरिनाम पित्रार्थहि तिसु राति हरि नाम समाथ ।

१४ माक श्लोक पृ० १०२१ ।

१ त्रिनि त्रिभुजा त्रिभंगी मनु पाइवा हरि के नामि न लय जय तीर ।
नामु विचारि पक्षहि अर्थिमानु । नाम बिना किञ्चा गिजानु पित्रानु ।
पुरमुनि पावहि दरमहि मानु । १ १-२ ६ रामकृष्ण पृ० २०२ ।

अस्त में हम इतना और कहेंगे कि 'नाम' और 'नामी' का स्वामयिक सम्बन्ध होने के कारण जहाँ नाम होगा वहाँ नामी होगा ही। नामी के अभाव में नाम का अस्तित्व असम्भव है। अतः स्पष्ट है कि जिस हृदय में प्रभु का नाम जपा जायगा वहाँ सतपुरुष स्वयं प्रकट होया। यहाँ जीव और ब्रह्म का मिलन हो जायगा—मुक्ति मिलेगी।

नाई मंनिए सुक रूपनी नामे गति होई ।
 नाई मंनिए पति पाईये हिरई हरि सोई ।
 नाई मंनिए भक्तबनु लंघीये फिर बिषनु न होई ।
 नाइ मंनिए पंघु परगटा नामे सभ सोई ।
 नामक सतिपुर मिलीये नाइ मंनिये बिन बेई सोई ।

१ सारंग की वार, म १ पृ० १२४१ ।

ज्ञानयोग

पीछे योग का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा जा चुका है कि आत्मा और परमात्मा के मिलन (योग) का जो साधन समय-समय पर अक्षिप्त किया गया वही विविध 'योग' अथवा 'मार्ग' कहलाया। ज्ञानयोग अथवा ज्ञान-मार्ग उन्हीं आध्यात्मिक साधनों में से एक है। मनुष्य बाह्य-प्रवृत्तियों से पराभूत हो अपनी पश्चार्थता को मूल बुका है। सौमिक आत्मत्व के पीछे अतीकृपता का आभास भी लगभग उसे नहीं रहा। ता भी वह प्रसन्न है और समझता है कि वह सब कुछ है—बस यही अज्ञान है। आत्मक की भाँति अपने भोगपन से कल्पना की उड़ानें सेन माय को मानव ने ज्ञान समझ लिया है। किसी तथ्य की वैज्ञानिक-व्याख्या का वह ज्ञान की परिमाणा देता है और मान मगा है कि वह सब साधने वाला जो विषय का जन्म कोई प्राणी नहीं सोच सकता अथवा ज्ञानवान् ही है। परन्तु नहीं यही उसका अज्ञान है। भौतिक-ज्ञान आत्मत्व में प्रभु-मिलन का साधन नहीं बन सकता यद्यपि कभी-कभी वह सहाय और एक अदृष्टा का कारण अथवा बनता है। सद्ज्ञान केवल आत्मने का नाम नहीं आत्मता और अस्तित्व को पहचानना दोनों बातें सद्ज्ञान की संयुक्त निधि हैं। इसी लिए अस्त मनुष्यों (Idolition) के माध्यम से परिमित और अपरिमित आत्मा के संयोग को ज्ञानयोग कहा जाता है।^१

मनुष्य प्रकृति का जीव है उन्हीं विचरण करता है। त्रिभुवनरमक प्रकृति के

ज्ञानता बौद्धि—

१ माता से उत्पन्न हुए मनुष्य मूल ही बुद्धि में अर्तते हैं। जैसे समझकर तथा मन इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाली सम्पूर्ण-विषयों में अर्थपन के अर्थ प्राप्त से रहित होकर सर्व-व्यापी सच्चिदानन्दरूप परमात्मा से एकीभाव से स्थित रहने का नाम ज्ञान-योग है। अथर्वगीता पृ० १६६ पाद-टिप्पणी (छोटा-संस्करण)

मित्र गुणों के सापेक्ष में जैसे जैसे अनुभव उसे प्राप्त होते हैं वैसे ही उसके ज्ञान का क्रम बिजाम होता है। यही कारण है कि जब उसकी मूल शक्ति तमोयुग से अनुभूत होती है वह अपने चरीर को ही अपना वास्तविक-अस्तित्व समझने का ज्ञान प्राप्त करता है। यही अनुभव जब रजोयुग से प्रभावित होता है तो मनुष्य अपने का अम्य सबसे पूसक एक इकाई समझने लगता है और अपने पराए का ज्ञान प्राप्त करता है। सात्विक-अनुभवों से परामूढ हो उसको बिषय की सम-रसता और किसी एक शक्ति द्वारा शासित होने की मूर्ख पड़ती है। साधारणतः इन तीनों गुणात्याघ ज्ञानों को सामान्य ज्ञान ब्रह्मज्ञान तथा दार्शनिक-ज्ञान कहा जा सकता है।^१ सात्विक अथवा ब्रह्मज्ञान पर्याप्त उच्च जाति का ज्ञान है जोकि एकत्र पर खोर धडा हुआ बहुत्र में एकत्र की स्थापना करता है।^२ परन्तु उक्त तीनों कोटियों का ज्ञान प्राप्त कर सेना ज्ञानयोगी का लक्ष्य नहीं। वह तो इससे बहुत दूर क महात्म्य को दृष्टि में रख करम-कर्म बढ़ना अपना कठम्य समझता है। उसका लक्ष्य है भाष्यात्मिक ज्ञान जोकि आत्मा का स्वरूप है—आत्मा के साथ अमित्र है।^३ मानवीय मूम और मनन के क्षेत्र में यह ज्ञान उच्चतम है। ज्ञान के मानदण्ड पर किसी वस्तु को परखने क मिर कमल बाह्येन्द्रियाँ मन्त्रिक मन तथा आत्मा कार्यान्वित रहते हैं। बाह्येन्द्रियों का कार्य केवल भाङ्कति बनाना है मन्त्रिक भाङ्कति को समझता है मन उन भाङ्कति की पूब-संस्कारों से तुमना कर उमे निर्भीत करता है और तब आत्मा बन्धु-बिन्धु की पहचान से होने वाल आनन्द का पान करता है। उक्त आनन्द की प्राप्ति ही बन्धु-बिन्धु का यथार्थ ज्ञान कहा जाएगा।

अब प्रश्न उठता है कि प्रत्येक प्राणी के अन्दर आत्मा अवस्थित है फिर भी वह परम ज्ञान का अधिकारी क्यों नहीं हो पाता? कठोत्रनिपद^४ में इसका बड़ा निगमात्मक उत्तर इस प्रकार दिया गया है—पराम्त्रिण ज्ञानि ब्यगृन्त् स्वयम्भू तम्मात् परान् परयति नाम्नात्तरयत् । अर्थात् ईश्वर ने इन्द्रियों क बहुमुनी रहने का नियम बनाया है इन्द्रियिण मनुष्य बाह्यरी विषय-वामनाओं की भार भाङ्कत् हाता है अन्तरात्मा को नहीं देख पाता। ब्रह्मण में ब्रह्म की शक्ति ही सर्वत्र शासन कर रही है 'जा यहाँ है वहाँ भी वही है वहाँ जो है वही यहाँ भी है' परन्तु माया क भ्रमात्मक आचरण के कारण (Reflective Glasses) परावृत्त व-शोनों में से निगने वाली बन्धु की तरह एक ही अनेक में परिणत हो गया है। जीवात्मा बाह्यी और

१ गीता रहस्य—बाम संभाषर तिनक ।

२ भगवद्गीता—XIII १६ ।

३ ज्ञानयोग—आत्मा का मुक्त-स्वभाव से० विवेकानन्द पृ० ३१० ।

४ कठोत्रनिपद २ १ १ ।

५ परदेह तन्मुत्र परमुत्र तदन्विह । कठोत्रनिपद अ० बन्धी श्लोक २ १ १० ।

भौतिक-ज्ञान के रंग में धीरे धीरे इतना रंगता बना जाता है कि स्वयं अपना रंग ही खो बैठता है। यही कारण है कि साक्षात् ज्ञान का रूप आत्मा प्रत्येक मृत में निवसित रहने पर भी सभी मनुष्य परम-ज्ञान के अधिकारी नहीं बन पाते। जिस प्रकार एक ही अग्नि अणु में प्रविष्ट होकर बाह्य-वस्तु के रूप भेद से भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है इसी प्रकार सब मृतों की वह एक अन्तरात्मा माना वस्तुओं के भेद से उस वस्तु का रूप धारण किए हुए है और उसके बाहर भी है। जिस प्रकार एक ही वायु अणु में प्रविष्ट होकर गाना वस्तुओं के भेद से तरंग हो गई है, इसी प्रकार सब मृतों की वही एक अन्तरात्मा माना वस्तुओं के भेद से उस उस रूप की हो गई है और उनके बाहर भी है।^१ "इस बहुत्वपूर्व जगत् में जो उस एक को इस परिवर्तनशील अणु में जो उस अपरिवर्तनशील का अपनी आत्मा की आत्मा के रूप में देखता है अपना स्वल्प समझता है वही मुक्त है वही आनन्दमय है उसीने लक्ष्य (परमज्ञान) की प्राप्ति की है।"^२ अतः आत्मा के स्वल्प को पहचानने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अन्तर्मुखी बने। बाहरी चीजों तक नीयत कोई भी शक्ति आत्म-ज्ञान प्रदान करने में अबूरी ही कही जायगी। श्रीमद्भगवद्गीता में अनेक स्वामी पर और दिया गया है कि बेबाध्यमन मेधा-शक्ति दान पुण्य आदि कर्मों से आत्म-बर्धन कभी सम्भव नहीं।^३ सक्य-सिद्धि के लिए धेनू तैयार करने की आवश्यकता है। बिगुड आरिभक्त-ज्ञान को पाने के लिए इन्द्रियां बुद्धि और मन तीनों को संयत करना अपेक्षित है।

ऐसा संयमी महामास ही ईश्वर-रूपा का अधिकारी बनता है। जिस पर वह अप्रिमित-आत्मा प्रसन्न हो उसे ही अपना स्वरूप दिखाता है।^३ अतः जिससे का मुख्यतम कर्तव्य है अपने मन-बुद्धि आदि का विमुक्तिकरण। योगी द्वारा यम और नियमों का पालन इसी लक्ष्य-हेतु किया जाता है। प्राणायाम द्वारा वह मार्गों को भी संयत कर लेता है और अपरिषद् द्वारा बुद्धि की कल्पना का त्याग कर जब वह ध्यान लगाता है तो स्वभावतः ही आत्मा के ऊपर अज्ञान और भ्रम-बल पड़ जाने वाले पद हट जाते हैं और उसका यथार्थ रूप योगी पर प्रकट होता है। आनी-शाब्द के लिए भी आवश्यक है कि वह अपने चित्त को बाहरी आशयों से हटाए, अन्तरात्मा पर केन्द्रित करे उसकी आवाज सुने और फिर अपनी अपूर्ण आत्मा में पूर्ण-आत्मा का साक्षात्कार करे। यह साक्षात्कार ही ज्ञान का चोटक होगा। श्रीमद्भगवद्गीता में धीरुक्त कहते हैं "जिसने अन्तःकरण और शरीर को जीत लिया

१ कठोपनिषद् अ० २ बस्ती० २ श्लोक ६१०। स्वा० विवेकानन्द द्वारा 'बहुत्व में एकत्व' मापन में उद्धृष्ट।

२ स्वा० विवेकानन्द द्वारा अमरत्व (मानसोम में उपरहित) में उद्धृष्ट पृ० २२३।

३ गीता XI २३ XVIII २९ २८ १२ १३ १६ आदि।

है बाहरी भोगों की सम्पूर्ण-सान्नी का त्याग कर दिया है और निःकामता बन कारीरिक कार्य करता चलता है, वह कभी पापों को प्राप्त नहीं होता।^१ (अर्थात् वह परम-ज्ञान को पा लेता है) "जब मारी इन्द्रियां मयत हो जाती हैं जब मनुष्य उनकी अपेक्षा शान बनाकर रहता है जब वे मन को चपल नहीं कर सकती तभी योगी चरमगति को प्राप्त होता है।"^२

उपर्युक्त सब उद्धरणों का आशय एक ही है—आत्म की प्राप्ति आत्मा की पहचान से सम्भव है और वह सब तक सम्भव नहीं कि जब तक मनुष्य मन चपल और कर्म से संयत जीवन-साधन नहीं करता। विज्ञान की प्रस्तुत स्थिति उसे अपनी अन्तः-आत्मा का पहचान का सामर्थ्य धरती। तभी वह जानेगा कि उसकी आत्मा (चेतन) अनात्मा (अज्ञ या प्रकृति) या उसके गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। उक्त सूत्र का समवाय रूप 'कर्म आत्मा की प्रेरणा का विषय नहीं भी स्पष्ट हो जायगा। प्रश्न यह आया 'आत्मा और परमात्मा क सम्बन्ध' को जानने का। मानव जाति की मात्र तक की बड़ी भूल यही रही कि विश्व की चित्त-विचित्रता को देखकर वह हमसे बाहर उसके कारण या कर्ता को खोजने लगे। अतः कारण को ढूँढना से बाहर बूढ़न के प्रयास में विज्ञान प्रायः ऐसी अनियमित और अहम्य बलानाएँ (माया) करने लगे जिनका ढूँढना से कोई सम्बन्ध नहीं। यथार्थ ज्ञान के मार्ग में यह बात संयत बाधाबन्ध बनती रही और सत्य मानक से कोसों दूर रहा। जब-जब कार्य में ही कारण की खोज हुई माया-रहित ज्ञान की निधि मिली। इसी ज्ञान-निधि में मनुष्य ने आत्मा की पहचान भी जान लिया कि चित्त-चेतन आत्मा ही उसकी मानवता की वास्तविकता है। अब प्रश्न उठा कि जब 'प्रत्येक मनुष्य में एक अविनाशी और स्थिर आत्मा है तो उन आत्मामें में विचार भाव तथा सहानुभूति की एकता क्यों चाहिए। ये ही आत्मा किम संज्ञ के द्वारा किम प्रकार तुम्हारी आत्मा को प्रभावित कर सकती है? ये हेतु में तुम्हारी आत्मा के विषय में कोई भाव या विचार कैसे उत्पन्न होना है? यह क्या है जिसका सम्बन्ध हम दोनों की आत्मामें है? इस लिए एक ही आत्मा मानने की वैज्ञानिक-आवश्यकता है जिसका सम्बन्ध सभी आत्मामें और प्रकृति में है। यह सभी आत्मामें में व्याप्त विश्व की उपाय परमात्मा है। (भाव ही परिणाम यह भी निकलता है कि आत्मा क स्वरूप प्रकृति से बड़े होने के कारण बहु-जन नियमों में बाध्य न होती। हमारे प्राकृतिक-नियम उभर पाए न होंगे इसलिये वह अविनाशी और स्थिर होगी)।^३ अन्तु अब हम तीसरी

१ गीता अ० ४ श्लोक २१।

२ अठोपनिषद् अ० २, वस्ती ३ श्लोक १०।

३ स्वामी विवेकानन्द मक्ति और वेदान्त वेदान्त पर १२ नवम्बर १८९७ को काहीर में दिया गया व्याख्यान।

अवस्था का आगरण होगा अब साबक प्राप्त होगा कि उसकी तथा बन्ध कृती की आत्मा में कोई भेद नहीं बल्कि सबकी आत्माएँ परम-आत्मा की अंग हैं। उसे पता चलेगा कि आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं—तत्त्वमसि।

चार यह कि परम ज्ञान का परम विज्ञान अब संसार के विषयाकार्यनों से हटकर संयत-मन से अपने को पहचानने को कटिबद्ध होता है तो प्रसु-रूपा से उसे कमल तीम बातों का ज्ञान होता है—

१ आत्मा प्रकृति और उसके गुणों से भिन्न है।

२ वह कर्म-प्रेरणा का कारण नहीं।

३ आत्मा और परमात्मा एक ही तत्त्व हैं।

प्रस्तुत ज्ञानोद्घाटन विज्ञानों के लिए भयानकप्रति और परम शान्ति का कारण बनता है। वैसे कि गीता में कहा गया है सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव सं स्थिति रूप योग से मुक्त हुए आत्माआत्मा तथा सबमें समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में बर्फ में उसके सहस्र व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है अर्थात् जैसे स्वप्न से जगा हुआ पुरुष स्वप्न के संसार को अपने अन्तर्गत संकल्प के आधार पर देखता है वैसे ही पुरुष सम्पूर्ण भूतों को अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्मा के अन्तर्गत संकल्प के आधार पर देखता है^१। और जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुक्त वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मेरे अन्तर्गत देखता है। उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता क्योंकि वह मेरे में एकीभाव सं स्थिर है।^२

ज्ञान मानव का कारण—आत्मा और परमात्मा की तात्त्विक एकता को जान लेने पर भौतिक-निर्मिता के प्रति मनुष्य का असार मोह स्वयमेव गल्ट हो जाता है। महात्मा-बुद्ध ने कहा था कि दुनिया-भर के कष्टों का एक मात्र कारण है—मोह या मया। मोह बन्धन फाट दिये जाएँ तो कष्टों से मुक्ति मिलती है और मनुष्य परमानन्द का अधिकारी बनता है। म० बुद्ध का वह कथन आनामयी हो जिन चार सत्त्वों^३ पर आधारित है वही ज्ञान है और उसकी प्राप्ति मानव-जीवन में शान्ति

१ सर्वभूतस्यमात्मानं सर्वभूतानि चारमणि । ईक्षते योगयुक्तना सर्वत्र समदर्शन ।

अध्याय ९ श्लोक २२ ।

२ यो मां पश्यति सर्वत्र नमि पश्यति । तस्माहं न प्रपश्यामि स च मे न प्रपश्यति । VI ३० ।

ऊपर इन श्लोकों की साधारण टीका श्रीमद्भगवद्गीता के छोटे संस्करण का अनुकरण मात्र है।

३ (क) संसार में दुःख है। (ख) दुःख का कारण है। (ग) कारण हटा देने से दुःख से मुक्ति मिल सकती है। (घ) कारण हटा देने का एक मार्ग भी है—अष्टमार्ग ।

और आनन्द का जो स्वरूप बौद्ध-दर्शन में प्रस्तुत करती है, वही स्थिति उक्त कोटि की ज्ञानप्राप्ति पर ज्ञानी को उपलब्ध होती है अर्थात् वह संसार के दुःखों कष्टों से मुक्त पाकर अस्तित्व आनन्द को प्राप्त होता है। मनुष्य के ज्ञान प्राप्त करने की पहली बर्त ही यह है कि वह इन्द्रियों को बहिर्मुखी होने से रोके। ऐसा करने से जिज्ञासु का मार्ग निबिम्ब हो जाता है और वह अल्प ऐसे कर्मों की ओर प्रेरित नहीं होता जो उस संसार के नाश बिसासों में फसाए रख सकें। वह यह भी जान लेता है कि संसारमा कर्मों की प्रेरक कमी नहीं ऐसे में क्योंकि वह कोई कामना-मुक्त कर्म नहीं करता वह दुःखी नहीं होता। कर्म द्वारा इच्छित कामना ही तो वास्तव में कष्ट का कारण होती है। उसे वह पहचान लेता है। अस्तु कर्मों के बाधन से मुक्त होने पर दुःखों के बाधन से भी मुक्त हो जाता है। उसके पूज-कर्म भी उसके लिए दुःखदायी हो सकते हैं परन्तु ज्ञान-प्राप्ति द्वारा उसका मिथ्यापन ज्ञानी पर प्रकट हो जाता है जिससे उसके दुःखों का अन्त और आनन्द का उदय स्वाभाविक है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है, 'वीसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्ममय कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है। 'और हे अर्जुन जितेन्द्रिय तत्पर हुआ महाबाहू पुत्र्य ज्ञान को प्राप्त होता है ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्ति रूप परम-सन्ति को प्राप्त हो पाता है।'^१ कठोपनिषद्कार ने लिखा है—एको ब्रह्मी सर्वभूताम्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्वं येऽनुपश्यन्ति बीरास्तेषां मुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।^२ (अर्थात् सर्व-निबन्ता प्राणी मात्र की अन्तरात्मा उस एक के परम रूप का जो अपने में बलन करता है वह चिर-सुखी है। दूसरों कोई इस यति को नहीं पा सकता) भाष्ये कहा है—'निरामा' निरामा जेतनश्चेतन नामेको बहुतां यो विदधति कामान्। तमारामस्वं येऽनुपश्यन्ति बीरास्तेषां शान्तिं शाश्वती नेतरेषाम्।^३ (अर्थात् जो अनित्य में भी निद्रिय है जेतन प्राणियों की जतना है और जो एक होकर भी अनेकों की कामनाएँ पूर्ण करता है अपने अन्तर में उसका दर्शन करने वाला ज्ञानी परम-सन्ति को प्राप्त होता है दूसरा कोई नहीं।) अग्निप्राय यह कि लौकिक दुःखों का मुख्य कारण हमारी स्वार्थ और बहिर्मुखी वासनाएँ ही हैं। ज्ञानवान् महापुरुष अपनी ईश्वर-बुद्धि से उनका स्वरूप बदल देता है वे पवित्र हो जाती हैं। उसके लिए उनमें ईश्वरीय भाव का जगम होता और तब वे बाहरी-स्तर पर ज्यों की त्यों बनी रहन पर भी द्विती प्रकार के कष्ट का कारण नहीं होती—अल्प के उस जितेन्द्रिय के धारण की सहायक बन जाती है। ज्ञान का प्रकाश जो अज्ञान या माया के अन्धकार में ला-ता

१ श्लोका—अ०४, श्लोक १७ १८।

२ कठ अ०२, श्लो० २ श्लोक १२, श्लो० विवेकानन्द द्वारा अपने भाष्य 'बहुधा में एतत् में उद्धृति।

३ श्लोक १३ वही।

यथा है केवल उसे पुनर्प्राप्त कर लेने मात्र की आवश्यकता है प्रकाश कभी ज्ञानन्द की किरणों अतुल्य फूट पड़ेगी। एक रूपक लीजिए एक जसते हुए बिजली के बल्ब पर यदि मोटे टाट के टुकड़े बांध दिये जायें, तो वह जसता होने पर भी प्रकाश देने में असमर्थ होता है। प्रकाश का इच्छुक उस बल्ब से प्रकाश प्राप्त नहीं कर सकता। अब यदि वह इच्छुक से उन टाट के टुकड़ों को हटाने लये तो बल्ब धीरे-धीरे अपनी समस्त प्रकाश किरणों सहित जगज्जाता हुआ प्रकाशाभियों का सहायक हो सकेगा। ठीक इसी प्रकार मनुष्य की आत्मा तो परमात्मा का रूप पहले से ही है (यसता हुआ बल्ब) परन्तु उस पर आसनाओं और बहिर्मुखी इन्द्रियों के टाटों के पर्ये ऐसे भिपटे पड़े हैं कि उसका यथार्थ रूप पहचान में नहीं आता। यही कष्ट का कारण है। अब यदि इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाने से रोक कर आत्म-चिन्तन की ओर लड़ेगा जाए तो स्वप्रकाशित आत्मा का प्रकटीकरण स्वाभाविक ही है (टाट के उतरने पर पहले से जल रहे बल्ब की तरह)। यही सत्य है और मद्य-सिद्धि परम ज्ञानन्द का कारण होती ही है।

ज्ञानी की महत्वाकांक्षाएँ—स्वामी विवेकानन्द ने सन्त-वासियों के सम्मुख व्याख्यान देते हुए कहा 'मेरा संकल्प है कि मैं सभी बस्तुओं के मर्म की सोच करूँगा। जीवन का वास्तविक रहस्य क्या है यह जानूँगा। आप केवल प्राण की विभिन्न अभिव्यक्तियों की खर्चा करते हैं, पर मैं तो प्राण का स्वरूप ही जान लेना चाहता हूँ। मैं इस जीवन में ही समस्त रस सोच लेना चाहता हूँ। मेरा धर्मन कहेता है कि जगत और जीवन का समस्त रहस्य जान लेना होगा स्वर्ग-नरकादि का सारा भ्रुशकार छोड़ देना होगा यद्यपि उनका अस्तित्व उसी अर्थ में है जिस अर्थ में इस पृथ्वी का अस्तित्व है। मैं इस जीवन की अन्तरात्मा को जानूँगा—उसका वास्तविक स्वरूप जानूँगा यह क्या है यह जानूँगा यह किस प्रकार कार्य करता है और उसका प्रकाश क्या है केवल इतना जानकर मेरी तृप्ति नहीं होगी। मैं सभी बस्तुओं का 'धर्म' जानना चाहता हूँ—कैसे होता है' यह जोन दासक करते रहें।' तेस्वही बल्ब के उपर्युक्त जोरबी-आसन 'ज्ञानी की महत्वाकांक्षा का मुचाठ रूप से अनावृत्ति करते हैं। ज्ञानी वह ज्ञान प्राप्त करना चाहता है जिसके पा जाने पर कुछ और जानना मेव नहीं रह जाता। सोम अपने अस्तित्व को पहचानते हैं वे ईश्वर की किसी परम-शक्ति को भी स्वीकार करते हैं उसके मय से बुने कर्मों का त्याग कर सर्वपुन-इच्छि भी की जाती है परन्तु ज्ञानी तो अपने को ही ईश्वर रूप में देखने का इच्छुक है—'बहु बही है जो ईश्वर है' का भाव सर्वत्र ज्ञानी का पच प्रकाशक रहता है। एक यौमी समाधि-अवस्था में पहुँचकर विश्व-नीतिचत्ता से निवृत्त होने का निश्चय

१ ३ नवम्बर, १८९६ को लन्दन में दिया भाषण—'बहुत्व में एकत्व' ज्ञानयोग में संगृहीत।

करता है सांसारिक कर्मों का मुक्त त्याग कर देता है परन्तु ज्ञान-योगी (ज्ञानी) सम्झाई को जानकर निश्चित नहीं थाहता बल्कि अपने सद्भक्त के प्रकाश में मटके हुए मोर्गों के आबकार का हरण करने में प्रवृत्त होता है। यही उसकी ज्ञान-प्राप्ति की साधकता है। मत्तजन यथा सौर प्रेम से अमिषूत होकर स्वल्प ही समर्पित कर निश्चिन्त हो जाते हैं। कर्म-योगी अपनी संसार-यात्रा में किये जाने वाले कर्मों को किन्हीं ईश्वरीय-शक्ति को समर्पित कर अपने को उसके फल-अफल से बचा लेता है। परन्तु ज्ञानी किन्हीं को समर्पित करने की आकांक्षा ही ईश्वर रख सकता है? वह तो उस ईश्वरीय-शक्ति से अमिषूत है, स्वयं वह शक्ति है। उसके लिए समर्पण करने वाला जिस समर्पित किया जा रहा है और जो समर्पित किया जा रहा है सब एक ही है। अतः उसकी आकांक्षा आधान प्रदान या विनिमय की नहीं बल्कि स्वरूप को ज्ञान-समस्त कर वास्तविक एकता की रहती है। अतः स्पष्ट ही यदि वह अपने स्वरूप को चिर निश्चिन्त बनाए रख सके तो वह अन्य सब प्रकार के योगों के समर्थका में उत्तम होया ऐसा भगवद्गीता में भी स्वीकार किया गया है।

शक्तियोग

आत्मा और परमात्मा के मिलने के हमारे तथा कदाचित् सत्त्व मार्ग को शक्तियोग कहते हैं। निष्कण्ठ भाव से अपनत्व के त्याग परमात्मा के अस्तित्व तथा सर्वशक्तिमयता की स्वीकृति एवं उसकी प्रत्यक्षानुभूति के प्रति सपेक्ष प्रयत्न ही शक्ति है। प्रेम इसका प्राण है। 'इसका आरम्भ मध्य और अन्त सब प्रेम में है'। जिज्ञासु परम-प्राप्ति द्वारा प्रेरणा पाकर ईश्वर के प्रेषि आसक्त होता है। (—उसके लिए ईश्वर के व्यक्त और अव्यक्त रूप से कोई भेद नहीं होता।) प्रस्तुत आशक्ति जब विरहान भडा और उत्कृष्ट प्रेम से पराभूत होती है तो शक्ति का रूप धारण कर लेती है। आशक्ति निम्नतम कोटि का आकर्षण-मान है जब कि शक्ति उच्चतम स्तर का समर्पण। प्रेम की तो पहली शक्त है दाना सेना नहीं। अतः इसे विरह साधन नहीं बनाया जा सकता यह अपने से माध्य भी है।

आशक्ति के अनुरक्ति-परिचर्तन के माध्य ही प्रेमी शक्त आने प्रम-भाव से विपन्न के लिए विह्वल हो उठता है। वह मत्त उसी का माध्य भिजा है स्मरण करता है गुण गाता है और सकोटि अथवा मन-बचन-कर्म सब उसी प्रभु के नाम पर समर्पित कर देता है। एता करने से स्वभाव ही जिज्ञासु में समय का उदय होता है उसकी वृत्तियाँ बाहरी पीनाम म हटकर एव किन्तु पर केन्द्रित होना मांगती हैं और वह प्रभु-रूपा का भाजन बनता है। उसके अन्तर में ज्ञान का प्रकाश अमरता है "जो मुझमें मत्त मुक्त है और श्रीशिवरूप धरा भजन करने हैं उन्हें मैं ऐसा बुद्धियोग देता हूँ कि वे मुझे प्राण

हो जाते हैं ।^१ अस्तु मत्त्वजन मक्ति द्वारा प्राप्त उक्त ज्ञान-शक्ति से प्रभु को प्राप्त करते हैं उसी में समाहित हो जाते हैं ।

मक्ति के साधन—अन्तर्मन में मक्ति का उदयमान ध्वनार्थ जित्तामु को अपने में कुछ निश्चित एवं निष्ठ वित्तपताएँ उपाहित करनी अपेक्षित हैं । वे विशेषताएँ मुख्यतः उसके रहन-सहन विन चर्मा तथा विचारानुसृति से सम्बन्धित हैं । मक्ति-प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम साधन है आहार-शुद्धि । पाषाणकालका ध्यान न रखने से भक्ष का जो प्रभाव मन पर निरन्तर पड़ता रहता है । वह मत्त्व के बल-वित्त प्रभु स्मरण के मार्ग का कष्टक बनता है । क्योंकि स्मरण ही उक्त काटि का बन्धन-मुक्तन है इसे बनाए रखने के लिए इसके आहार शुद्ध-साध का ध्यान रखना अनिवार्य है । कहा गया है आहार-शुद्धि होने पर मत्त्वकरण की शुद्धि होती है अन्त-करण की शुद्धि होने पर निश्चल-स्मृति होती है तथा स्मृति की प्राप्ति पर-समस्त धनियों की निश्चिन्ता हो जाती है ।^२

मक्ति के परम-तत्त्व को प्राप्त करने के लिए दूसरा साधन है इन्द्रियनिग्रह । इन्द्रियों के बहिर्मुखी फैलाव के कारण मानव की आन्तरिक शक्ति का क्षय होता जाता है । यों भी फैलाव उर्जा-क्षीणता का साधक है । उपाहरण के लिए सूर्य की तेज किरणों सदैव फैली रहने के कारण किसी को जमाती नहीं परन्तु यदि इन्हीं किरणों का फैलाव रोककर आतमी-शोक द्वारा कहीं केन्द्रित कर दिया जाए तो बूसरी ओर झट से मान सग जाती है । ठीक वही ही इन्द्रियों की स्थिति है इन्हें मत्त्वमुखी कर निरंकारी-श्रवण पर केन्द्रित करने की आवश्यकता है । ऐसा करने से मन की चंचलता तो स्थिर होगी ही साध ही प्रभु-मक्ति की चिर-प्रवीण उपासा^३ का यह प्रकाश मक्ति का पय-अवशोक बनेगा जो इन्द्रियों के बाहरी फैलाव के कारण मन्व पड़ता जा रहा था । उक्त आन्तरिक-अकाल क्षीणता के विरोध में आत्म-बल (मक्ति का तीव्रता साधन—अनवसाय) का उत्पादक होगा । मक्ति के सध्य-सिद्धि के मार्ग में आत्म-बल का वही स्थान है जो प्रभु-मिशन के पथ पर गुह का । जिस प्रकार गुह के अभाव में साधक का कहीं भी फिसल जाना सम्भव हो सकता है ठीक वैसे ही आत्मबल की अनुपस्थिति में मत्त्व का पथ भ्रष्ट ही जाता या सद्य तक पहुँचने की क्षमता न पाना सम्भव है ।

१ तेषां सततमुत्सर्गा मज्जता प्रीतिपूर्वकम् । एवामि बुद्धियोगं तं येन मामुपमान्ति ते । प्रथम ब्रह्मसूत्र पर रामानुज भाष्य—स्वा० विवेकानन्द द्वारा 'मक्ति के लक्षण में उद्धृत ।

२ आहारशुद्धी तत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धी ध्रुवास्मृति स्मृतिमध्ये सर्वप्रं-धीना विप्रवीणा । छास्योग्योपनिषद्-संस्करण भाष्य ७ २६ २, पृ० ७२६ ।

३ अन्तर भाये तिसे तु रर । देह निव रीवा भवे अयक । पुष्पायक

वीमद्वयवर्गीता में भक्ति के ही और मुख्य साधनों पर प्रभाव डाला गया है—
अभ्यास और कर्म। भगवान् के नाम और पुणों का भक्त्य कीर्तन मनन तथा स्वास के
द्वारा जप और भक्त्यप्राप्ति विषयक शास्त्रों का पठन-पाठन इत्यादि के लिये भगवत्-
प्राप्ति के लिए बारम्बार करने का नाम 'अभ्यास' है।^१ अभ्यास मन को संयत करने
का ध्येय साधन है,^२ और मन का काबू करने से ही भक्त बहुभाष त्याग कर समर्पण
तथा शम्पयति का आशय देने में समर्थ होता है। भक्ति-साधन रूप में कर्म का
अभिप्राय यज्ञ तप, होमादि तो है ही साथ में इन कर्मों के फल की इच्छा न करना
अन्य विद्वानों पर प्रभु-भेंट कर देना और ध्याम से कर्म-द्वय का त्याग^३ करना भी इसी
के अन्तर्गत आता है। स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश करते हुए कहा है कि
अभ्यास साधन में अममन होने का ही भगवत्-वर्ष-कर्म करने का परामर्श होता
चाहिए^४ (कर्म-साधन)। लिखा है स्वार्थ को त्यागकर तथा परमेश्वर को ही पर-
नाथ्य और परमपति समझकर निष्काम प्रेम भाव से सती शिरोमणि पतिव्रता स्त्री की
वृत्ति मन, बाणी और शरीर द्वारा परमेश्वर के लिये यज्ञ दान और तपादि सम्पूर्ण
कर्तव्य-कर्मों के करने का नाम 'भगवत्-वर्ष-कर्म' करने के परामर्श होता है।^५

प्राचीन-भूमिगत समाज सभी शास्त्रों ने भक्ति-प्राप्ति के इच्छक के लिए नैतिक-
परिवर्तन की अपेक्षा तो चाही ही है। स्वा० विवेकानन्द ने इसे 'कस्याप्य बहूकर
वर्जित किया है। गुरु नानक ने भी इनकी ग्भीरुति पर जोर दिया है। अग्य सभी महा-
पुरष भी प्रसन्न साधन के सम्बन्ध में एक-मत हैं। तबका विश्वास है कि भक्त-साधक
जब तक मन बचन और कर्म से वैतन नहीं बनता वह ध्येय तक नहीं पहुँच सकता।
योग-परिभाषा में इसे-नियमादि कहा गया है जो कि मानव-वर्तन की उच्छता में तो
महाशक्त है ही साथ में जिज्ञासु को प्रभु-निवृत्ता प्रदान करने में भी समर्थ है। जीवन
में मत्त क्या परोपकार, ईर्ष्या-त्याग अहिंसा अपरिग्रह वृथा-चिन्तन का त्याग किसी
क कृतिम व्यवहार पर आनेपूर्व प्रतिभिया म करता आदि अनेक व्यावहारिक-मुख
वैतन कस्याप्य क अन्तर्मत आते हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस तो अत्यधिक आधेद
प्रभाव तथा मनोरंजन के साधन जुगने को भी भक्ति-पथ के विपन्न मानते हैं। जब
के यत्नानुसार ऐसा करने से मन की चंचलता बढ़नी चमती है और अनेक बार प्रपल
करने पर भी वह प्रभु में स्थिर नहीं हो पाता। बार-बार जैसे मनोरंजन का ध्याम

१ वीमद्वयवर्गीता (छात्र संस्करण) पीठा प्रेस पाद-टिप्पण पृ० २१०
 २ पीठा अ० ९ श्लोक ३३ तथा अ० १२ श्लोक १०।
 ३ पीठा अ० १२ श्लोक १२।
 ४ पीठा अ० १२, श्लोक १०।
 ५ अ० १ की वृत्ति पृ० २१०-२१०।

हो जाते हैं" १। अस्तु भक्तजन भक्ति द्वारा प्राप्त उक्त ज्ञान-शक्ति से प्रभु को प्राप्त करते हैं उसी में समाहित हो जाते हैं।

भक्ति के साधन—अन्तर्भक्त में भक्ति का उदयमान अथवा अर्ध-विज्ञान को अपने में कुछ निश्चित एवं निष्ठा विद्येपताएँ उपाजित करनी अपेक्षित है। ये विशेषताएँ मुख्यतः उसके रहन-सहन दिन चर्या तथा विचारानुभूति से सम्बन्धित हैं। भक्ति-प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम साधन है, आहार-मुक्ति। साक्षात्कार का ध्यान म रखने से अन्न का जो प्रभाव मन पर निरन्तर पड़ता रहता है। वह भक्त के दस्त चित्त प्रभु स्मरण के मार्ग का कष्टक बनता है। क्योंकि स्मरण ही उच्च कोटि का अन्तर्भक्त है इसे बनाए रखने के लिए इसके आहार मुक्ति-साधन का ध्यान रखना अनिवार्य है। कहा गया है आहार-मुक्ति होने पर अन्तःकरण की मुक्ति होती है अन्तःकरण की मुक्ति होने पर निश्चय-स्मृति होती है तथा स्मृति की प्राप्ति पर समस्त प्रसन्नियों की निश्चय हो जाती है। २

भक्ति के परम-लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वृत्तों का ध्यान है इन्द्रियनिग्रह। इन्द्रियों के बहिर्मुखी फैलाव के कारण मानव की आन्तरिक शक्ति का क्षय होता चलता है। यों भी फैलाव उर्जा-श्रीमता का स्रोतक है। उदाहरण के लिए सूर्य की तेज किरणें सबैव फैसी रहने के कारण किसी को जसाती नहीं परन्तु यदि इन्हीं किरणों का फैलाव रोककर आठती शीतल द्वारा कहीं केन्द्रित कर दिया जाए तो दूसरी ओर झट से ज्वलन लग जाती है। ठीक वैसे ही इन्द्रियों की स्थिति है इन्हें अन्तर्मुखी कर निरकारी-ज्योति पर केन्द्रित करने की आवश्यकता है। ऐसा करने से मन की चंचलता तो स्थिर होगी ही साध ही प्रभु-भक्ति की चिर-श्रीमता ज्वाला ३ का वह प्रकाश भक्ति का पथ-प्रदर्शक बनेगा जो इन्द्रियों के बाहरी फैलाव के कारण मन्त्र पड़ता जा रहा था। उक्त आन्तरिक-प्रकाश क्षीणता के विरोध में आत्म-बल (भक्ति का तीव्रत साधन—अनन्यता) का उत्पादक हागा। भक्ति के लक्ष्य-सिद्धि के मार्ग में आत्म-बल का बही स्थान है जो प्रभु-भक्तन के पथ पर मुक्त का। बिना प्रकार पुरु के अभाव में साधक का कहीं भी विनय जाना सम्भव हो सकता है ठीक वैसे ही आत्मबल की अनुपस्थिति में भक्त का पथ भ्रष्ट ही जाना या सत्य तक पहुँचने की क्षमता न जाना सम्भव है।

१ तेषां घनतपुच्छानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ब्रह्मिणु मुक्तिर्योयं तं येन मामुपयान्ति ते । प्रथम ब्रह्मसूत्र पर रामानुज भाष्य—स्वा० विवेकानन्द द्वारा 'भक्ति के लक्षण में उद्घृत।

२ आहारमुक्ति सत्त्वमुक्ति सत्त्वमुक्ति प्रुभास्मृति स्मृतिमग्ने सर्वसंस्वीता विप्रवीता । छान्दोग्योपाधिपद्-संकर भाष्य ७ २९ २ पृ० ७११।

३ अन्तर भाग तिसरे तू रत्न । ऐह निच बीदा बने अक्षक । मुक्ताक्षक

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति के दो और मुख्य साधनों पर प्रकाश डाला गया है—
 अभ्यास और कर्म। 'मनवान् क मान और गुणो का शब्द कौतव्य मनन तथा श्वास के
 द्वारा जप और मनवत्प्राप्ति विषयक शास्त्रों का पठन-पाठन इत्यादि चट्टाएँ भयवत्-
 प्राप्ति के लिए बारम्बार करने का नाम 'अभ्यास' है।' अभ्यास मन को संयत करने
 का श्रेष्ठ साधन है^१ और मन को बाध करने से ही भक्त अर्धभाव त्याग कर समपथ
 तथा सरणपति का आश्रय लेने में समर्थ होता है। भक्ति-साधन रूप में कर्म का
 अभिप्राय ब्रह्म रूप होमादि तो है ही भाग्य में इन कर्मों के फल की इच्छा न करना
 रूप मिलने पर प्रभु-मोह कर देना और ध्यान से कर्म-फल का त्याग^२ करना भी इसी
 के अन्तर्गत आता है। स्वयं श्रीकृष्ण न अर्जुन को उपदेश करते हुए कहा है कि
 अभ्यास साधन में अममथ होने वाले को भयवत्-अथ-कर्म करने का परायण होना
 चाहिए^३ (कर्म-साधन)। जितना है स्वार्थ को त्यागकर तथा परमेश्वर को ही पर
 भाष्य और परमगति समझकर निष्काम प्रेम भाव से सती गिरामणि पतिव्रता स्त्री की
 भाँति मन वाली और शरीर द्वारा परमेश्वर के लिये एक शान और तपस्वि सम्पूर्ण
 कर्तव्य-कर्मों के करने का नाम भगवत्-ब्रह्म-कर्म करने के परायण होना है।^४

प्राचीन-भुगीन समय सभी शास्त्रों में भक्ति-प्राप्ति के इच्छुक के लिए नैतिक-
 परिष्कार को अपेक्षा ता चाही ही है। स्वा० विवेकानन्द ने इसे 'कल्याण' कहकर
 बतल किया है। गुरु मानक ने भी इसकी स्वीकृति पर जोर दिया है। अल्प ममी महा
 पुरुष भी प्रलुप्त साधन के सम्बन्ध में एक-मत हैं। सबका विश्वास है कि भक्त-साधक
 जब तक मन बचन और कर्म से नैतिक नहीं बनता वह ध्येय तक नहीं पहुँच सकता।
 बौध्द-परिभाषा में इसे-त्रिपयारि कहा गया है जो कि मानव चरित्र की उच्छ्रिता में ता
 सह्यकर है ही साथ से जिसामु को प्रभु-निष्कृता प्रदान करने में भी समर्थ है। जीवन
 में भय तथा परोपकार, ईर्ष्या-त्याग अहिंसा अपरिग्रह इत्यादि-चिन्तन का त्याग किसी
 के बुद्धि-अव्यवहार पर आवेशपूर्ण प्रतिक्रिया न करना भादि अनेक व्यावहारिक-भूय
 नैतिक कल्याण के अन्तर्गत आते हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ता अत्यधिक शायी-
 प्रयोग तथा मनोरंजन के साधन मुटाने को भी भक्ति-पथ के विषय मानते हैं। उन
 के मतानुसार ऐसा करने से मन की चंचलता बढ़नी चलनी है और अनेक बार प्रयत्न
 करने पर भी वह प्रभु में स्थिर नहीं हो पाता। बार-बार उने मनोरंजन का ध्यान

१ श्रीमद्भगवद्गीता (छोटा संस्करण) गीता प्रेस पाठ-टिप्पण पृ० २१७

२ गीता अ० १ श्लोक १३ तथा अ० १२ श्लोक १०।

३ गीता अ० १२ श्लोक १२।

४ गीता अ० १९ श्लोक १०।

५ अ० १ की भाँति, पृ० २१७-२१८।

हो जाता है और 'प्राण-शुद्धी' को भी आनंद प्रद व्यवहार की बाड़ में बहा देता है। इसे अनुसर्प भी कहते हैं।

यद्यपि मक्त विज्ञान को अपेक्षित है कि वह उपरिवांकेतिष्ठ आवश्यकताओं के अनुसार अपने जीवन में परिवर्तन लाए, अल्पवस्थित मार्गों का त्याग करे और उक्त साधनों को अपनाता हुआ अपने चित्त को प्रभु-स्मरण में लगाए। अपनी जिज्ञासा का धार आश्रय-भावा पर छोड़े पूर्व-समर्पण में विश्वास लाए, प्रभु की ओर सही जीवन व्यवहार के कर्मों की पूर्ति करता रहे और स्वयं बुनिया के आकर्षण विकर्षण से दूर हटकर ईश्वर में ही परम-अनुरक्ति का साम्य अपनाते तो वह विज्ञान सच्चा मक्त होगा और परम-मुक्त का अधिकारी बन सकेगा।

भक्ति के निम्न रूप तथा त्याग—यों तो हमारे शास्त्रों विशेषकर भागवत पुराण में मन्मथा भक्ति का अधिक मुग्न-मान किया गया है परन्तु वे सब भेद अनुगो पासना के आधार पर ही प्रकट हैं। क्योंकि हमारा ध्येय यहाँ समुच्च और निर्गुण की कोई कृती विज्ञाना नहीं यद्यपि हम ऐसे ही स्वर प्रकार भेद की कल्पना करेंगे, जो साकार-निराकार के चक्र से हमें बचाए रहे और साथ ही मत्त-हृदय में सामान्यता उठ जाने वाली शंकाओं का पूरा समाधान प्रस्तुत कर सकें। इस दृष्टिकोण से भक्ति के मुख्य दो रूप स्वीकार किए जा सकते हैं (१) गौणी-भक्ति (२) परामक्ति। भक्ति की प्राथमिक स्थितियाँ गौणी कहलाती हैं। धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन इष्टदेव का स्मरण मानसिक-संयम के प्रयत्न तथा जीवन में नीतिक-व्यवस्था की स्वीकृति गौणी-भक्ति के स्वरूप हैं। इस स्थिति में विज्ञान अपने इष्ट में विश्वास बढ़ाता है अपने धर्म से प्रेम करता है और अपने हंग से विकासोन्मुखी रहता है। यह सब आत्म-बुद्धि के लिए है। परन्तु यहाँ ज्ञान के अभाव में एक भय सदा बना रहता है। इष्टनिष्ठा की लोच में कहीं अनजान विज्ञान का पीर-वीगमरों के प्रति धृता-भाव न बढ़ाये। इसमें शक्य है कि इष्ट-निष्ठा के बिना वास्तविक-प्रेम का उदय ही असम्भव है तो भी दूसरे धर्मों और धर्मावलम्बियों की निष्ठा क्षम्य नहीं। उक्त अपरिपक्व स्थिति में हो सकता है कि मक्त अपने ही आदर्शों को सर्वोच्च समझे दूसरों के आदर्शों और विचारों को निकृष्ट कह टुकरा दे। यही कारण है कि भीष्म इस अनजान भक्ति की अपेक्षा ज्ञान-युक्त भक्ति को ही श्रेष्ठ मानते हैं। वह दूसरी शक्ति की उत्तम और परिपक्व भक्ति है जिसे परामक्ति कहते हैं। इसकी प्राप्ति पर "अमानक मता-यथा और कद-हरता की फिर आशंका नहीं रह जाती। मनुष्य हम 'पर' भक्ति से अभिभूति होकर प्रेम स्वरूप भगवान् के इतना निकृष्ट पहुँच जाता है कि वह फिर दूसरों के प्रति धृताभाव के विस्तार का यत्न-स्वरूप

१ 'सा परानुरक्तिपीश्वरे' भाषिण्य सूत्र १ २।

२ पीठा अ० ७ श्लोक १७।

नहीं हो सकता' १ वह निम्ना स्तुति मान-अपमान शत्रुता-मित्रता सुख-दुःख आदि की परिधि से बाहर बना जाता है । २ परामर्श की स्थिति पर सब धर्म और धर्माव सम्बन्धी मत और मत-संघातक समान हो जाते हैं । भक्त सबमें अपने ही दृष्ट के दर्शन करने लगता है । पतिव्रता गारी की भाँति जो अपने पुरुष के अतिरिक्त अन्य किसी को पुरुष रूप में नहीं देखती भक्त भी अपने प्रभु के अतिरिक्त और कुछ भी उस स्तर पर नहीं देखता—यही कारण है कि उसके लिए घृणा द्वेष या मान-अपमान के प्रश्नों का सदा के लिए अन्त हो जाता है ।

यौभी से परामर्श के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए 'त्याग' की आवश्यकता पड़ती है । प्रत्येक अनुरक्ति में त्याग बाँधनीय है । जब सांसारिक-प्रेम भी इसकी अपेक्षा रखता है तो कोई कारण नहीं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में इसका मुख्य भट जाए । सब प्रकार के योग में त्याग आवश्यक है । यह त्याग ही सारी आध्यात्मिकता का प्रथम सोपान है उसका द्वार है—यही वास्तविक धर्म है । ३ मक्तिमार्ग पर चलने वाले भिक्षामु के लिए बाहरी चेतनाओं और चिन्तनाओं को संयत कर अपने दृष्ट की स्मृति में मगाना ही त्याग या बाहरी व्यक्तियों के प्रति वैराग्य है । यह बहुत स्वाभाविक है । क्योंकि प्रस्तुत योग में अकस्मात् सम्भव तोड़ना या जोड़ना नहीं पड़ता । इसलिए भक्त के वैराग्य अपनाते में भी उसे अपने मन या अस्त-करण पर किसी बलात् कुठाराघात की आवश्यकता नहीं पड़ती । जिस प्रकार एक मनुष्य एक स्त्री से प्रेम करना छोड़कर दूसरी से प्रेम करने लगता है । तो धीरे-धीरे वह पहली को बिस्तुतः भूल जाता है ठीक उसी प्रकार भक्त सांसारिक आसक्ति छोड़कर जब मगबदीपासना की ओर चित्त लगाता है तो कुछ समय पाकर वह अपने दृष्ट में इतना रम जाता है कि उसे बुनियादारी का ध्यान भी नहीं आता—जब यही वैराग्य है, इतनी का त्याग करते हैं ।

उक्त वैराग्य की स्वाभाविकता पर प्रकाश डालने के लिए यदि हम स्वा० विवेकानन्द के भाषणों से कुछ उद्धरण प्रस्तुत करें तो कुछ अनुचित न होगा । उन्होंने कहा 'यह वैराग्य तो स्वाभाविक ही आ जाता है । जैसे बड़े हुए तब प्रकाश के साधने अन्ध प्रकाश धीरे-धीरे स्वयं ही बुँबसा जाता जाता है और अन्ध में बिस्तुतः विभीन हो जाता है इसी प्रकार इन्द्रियत्रय तथा बुद्धिजग्य मुख ईश्वर प्रय के समक्ष आग-ही आग धीरे-धीरे पुग्गले टाकर अन्ध में निष्प्रय हो जाते हैं । यही ईश्वर-प्रय कमल बड़ते हुए एक एका रूप धारण कर लेता है, जिस परामर्श करते हैं । "जिस

१ भक्ति के लक्षण विवेकानन्द (भक्तियोग पृ० ७ ।)

२ धीना अ० १२ श्लोक १३, १८ १९ ।

३ परामर्श—त्याग स्वा० विवेकानन्द, पृ० १७ (भक्तिभाग) ।

प्रकार किसी घुम्बक की चट्टान के पास एक जहाज के जा जाने से उस जहाज की सारी कीलें तथा सोहे की छड़ें बिपकर निकल जाती हैं और जहाज के तल्ले भागि कुसकर पानी पर तैरने लगते हैं उसी प्रकार प्रभु की कृपा से आत्मा के सब बन्धन पूर हो जाते हैं और वह मुक्त हो जाती है। अतएव भक्तिमान के उपाय-स्वल्प इस वैराग्यसाधन में न तो किसी प्रकार की कठोरता है न झुंझता और न किसी प्रकार की बबरदस्ती ही। मक्त को अपने किसी भी भाव का हमन करना नहीं पड़ता प्रत्युत वह तो सब भावों को प्रवक्त करके भगवान् की ओर लगा देता है।

भक्ति की अवस्थाएँ—भक्ति का उदय सामान्यतर भाव बाह्य या इच्छा से होता है। आप्त-बाधयां धर्म-धर्मों की उत्तिधों उपदेक्षात्मक कृपा-कृहानियों भादि से मानव-हृदय में इच्छा का भाव पैदा होता है। प्रतिक्रिया रूप में मनुष्य शास्त्राध्ययन करता है प्रकृति-कीड़ाओं में प्रभु की भक्ति का आभास पाता है और तब उसकी उक्त बाह्य या इच्छा प्रेम का रूप धारण करती है। यह प्रेम भी प्रथम-कोटि का प्रेम होता है—इसमें अनन्यता का प्रश्न तो नहीं भगवान की भावना अवश्य रहती है। पीछे कहा जा चुका है कि भक्ति के क्षेत्र में आसक्ति का कोई स्थान नहीं अतः यह प्रेम तब तक महत्वहीन ही रहता है, जब तक कि इसमें से व्यष्टित्व का अन्त निकल नहीं जाता। व्यष्टि-तत्त्व के अन्त से इसमें जो विकास होता है वही भक्ति क्षेत्र की चिर-श्रकाशित उपतावस्था यज्ञा है। यज्ञा का मूलतत्त्व है इतरे का महत्त्व स्वीकार करना। जब तक मक्त को ईश्वर-सम्बन्धी पर्याप्त अनुभूति हो चुकी होती है और वह इस निश्चय पर पहुँच चुका होता है कि ईश्वर यज्ञ्य है। सांसारिक-क्षेत्र में प्रायः यज्ञा के विषय तीन हैं—जीरा प्रतिभा और साधन-सम्पत्ति। 'पूर्वावस्था प्रेम में इतना ही बस जा कि कोई किसी को अच्छा सये पर यज्ञा के लिए आवश्यक है कि कोई किसी बात में बड़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। यज्ञा के ही आभय से उन कर्मों का भाव बढ़ होता रहता है जिन्हें धर्म कहते हैं और जिनसे मनुष्य-समाज की स्थिति है। कर्ता से बढ़कर कम का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार-बार कर्ता की ही ओर जात उठती है।^१ अतः विषय विमोहक प्राकृतिक कीड़ाएँ भादि देखकर उसके रबीयता के प्रति यज्ञा आपृत होना स्वाभाविक ही है। वास्तव में भक्ति के स्वरूप की अभिव्यक्ति यज्ञा और प्रेम के योग से होती है। जब पूज्यभाव की दृष्टि के साथ यज्ञा साधन के सामीप्य-भाव की प्रकृति हो उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।^२ अपने यज्ञा पात्र के विषय में ध्वज कीर्तन उसके दर्शन में आनन्द और उसके प्रत्येक साधारण से साधारण कार्य में मन का आकषण

१ यज्ञा-भक्ति में० रामचन्द्र मुक्त विष्णुमणि भाग १ पृ० १८।

२ वही विष्णुमणि। भाग १ पृ० ३२।

बचने पर भक्ति का उदय मानना चाहिए। अर्थात् भक्ति का एक जन्म है और प्रेम दूसरा। किसी एक को अपनाते मात्र से भक्ति का एच्छित्त स्वरूप उपलब्ध नहीं हो सकता। अर्थात् द्वारा अभिभूत होकर हम निजी शक्तियों द्वारा उपाहित कोई फल मध्ये की नोट कर सकते हैं परन्तु उससे भक्त बनकर स्वयं जीवन-क्रम ही उसे अर्पित कर दिया जाता है। प्रेम-भाव में आर्ध्वर्षण है, परन्तु अपनेपन की प्रगाढ़ता बनी रहती है। भक्ति में दूसरे के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अपनी मरुता की भी स्वीकृति देनी पड़ती है। 'अर्थात् महत्त्व को स्वीकार करता है पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है। अर्थात् अपने जीवन क्रम को ज्यों का त्यों छोड़ता है पर भक्त उसकी काँ-छाँट में मग्न जाता है'।

अर्थात् और प्रेम के मूल्यांश से भक्ति का उदय होने के पश्चात् भक्त में कुछ विशेष तीव्र-अवस्था का आगमन होता है जिसे 'विरह' कहते हैं। उपरिबर्णित दृष्टि कोय से भक्त को अपने दृष्ट से दूर रहना सहा नहीं होता। इसी दूरी की मक्की में उभरे अन्तर में जो हलकाम होती है प्राप्ति हेतु जो तड़पन और पीड़ा उसे जसाती है वही विरह कहलाती है। विरह परित की उच्च अवस्था है। जिस प्रकार अग्नि में जलकर सोहा जौमार हांगा और सोना कुम्बल होता है ठीक वैसे ही विरह में जलकर भक्त मुद्ग माष का समर्पण होता है। वह दिन-रात प्रभु में मग्न रहने लगता है उन्नी की रूप-रस्यता करता है, उसके मित्तम की प्रसन्नताकां का विरहाद्य-मुक्त मूल्यांकन करता है और 'जल वस बितना होता लय समीप जाता वह छसनामप' के विचार से विरह-विराग्यता में ही आनन्द पाता है। मन की प्रस्तुत स्थिति में प्रेम पात्र के अविरिक्त कुछ भाता नहीं। जब परमभक्ति आपूर्ण होती है तो भक्त अपने दृष्ट में लो-सा जाता है। उसे अन्य सब वस्तुएँ टांकने लगती हैं यहाँ तक कि किसी अन्य विषय पर वह बात-चीत भी नहीं करना चाहता। मनुष्य अपने आप को विसृज्य प्रम जाता है उम अपने-पराये का कोई ध्यान नहीं रहता। वह साधन के अन्धे की तरह हरा-नी-हरा बलता है—जइ बेतन मनुष्य-यम् सब मे उस अपन दृष्ट का ही स्वरूप दितता है। और यही अवस्था भक्तिपंथ की उच्चतम अवस्था है जिसे 'तरीयता' कहते हैं। इसमें भक्त परम-गति का अभिगामी होता है अपने दृष्ट में ही मग्न जाता है। आत्मा-परमात्मा का मित्तम यही सम्भव है। भक्त और भक्त्यात् को नहीं रहने एक हा जाते हैं। भक्त का निरालस-अलिप्त मया-उ हो जाता है और वह अपने प्रमास्य से सम्मगियत हूर वस्तु का सरल बन जाता है। (यही कारण है कि सत्त्व-भक्त किसी से घृणा नहीं करता और विरह को अपने दृष्ट की रचना मानकर सबसे सम्यक्-वहार करता और परनेपवती बन जाता है।)

१ रामचन्द्र गुप्त अर्थात्-भक्ति (चिन्तामणि भाग १।)

२ महादेवी वर्मा।

भक्त के लक्षण—श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने चार प्रकार के भक्तों की ओर संकेत किया है—अर्थात् आर्त जिज्ञासु तथा ज्ञानी । जो व्यक्ति किसी विशेष-वस्तु या सिद्धि की प्राप्ति के लिए भगवान् का भजन करता है वह अर्थात्-भक्त कहलाता है । किसी प्रकार की विपत्ति में पड़ा व्यक्ति जब कुछ विमोक्षण प्रभु को डेरता है तो वह उसकी आर्त-मक्ति होती है । जिज्ञासु-भक्त सर्वत्र प्रभु को मूल और वास्तविक रूपसे पहचानने का परम इच्छक रहता है जब कि ज्ञानी सच्चाई को ज्ञान लेने पर प्रवृत्ति और तरणागति का आश्रय लिये भ्रुतिक अपने दृष्ट का प्रसार ही नहीं बल्कि प्रसार में सब कही दृष्ट का छायाकार करता है । ऐसा भक्त बह का मुक्त त्वान कर चुका होता है । उसके लिए सुख कुछ समान होता है वह बाहर भीतर से कुछ और आकांक्षा रहित हो जाता है । बैर-विरोध से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता वह घृणा-जगाव से अतीत है उसका न कोई शत्रु होता है न मित्र । मान-अपमान की उसे परवाह नहीं होती निन्दा-स्तुति उसके लिए बराबर हो जाती है, और वह हर-दान अपने प्रभु में सीन रहता है ।^१ अतः एसा ही सच्चा भक्त भगवान् को अतीव प्रिय होता है ।^२

भक्त का सबसे बड़ा सवाल है उसकी दृष्ट-निष्ठा । संसार में मिलने मत-मतांतर हैं, उतने ही मार्ग भी । परन्तु यदि बीज कमी एक तथा कमी दूसरा मत अपना कर अपनी साधना या उपासना में परिवर्तन करता रहे तो निश्चय ही वह मार्ग के आकर्षणों में भटक कर रह जायगा अंतव्य तक पहुँचना सम्भवतः उसके सामर्थ्य से बाहर ही रहेगा । अतः साधक को जो भी करना है दृढ़-निष्ठा और पूर्ण-विश्वास से करना होता है । उसे सच्चा भक्त बनना होता है कच्चा नहीं । श्रीगमकृष्ण कहते हैं 'यथार्थ त्यागी-भक्त और संसारी भक्त में बड़ा अंतर है । यथार्थ संन्यासी—सच्चा-त्यागी—मधुमक्खी की तरह है । मधुमक्खी फूल को छाड़ और किसी बीज पर नहीं बैठती । मधु को छोड़ और किसी बीज को ग्रहण नहीं करती । संसारी-भक्त दूसरी मक्खियों के समान होते हैं जो बकियों पर बैठती हैं और सबे घासों पर भी । अमी देखो तो वे ईश्वरोपमायी में मग्न हैं जोड़ी देर में बत्ती तो कामिनी और कंचन को लेकर मगनाये हो जाते हैं ।^३ निष्ठा सोचने या भटकने वाले भक्त कमी सच्चे नहीं होते । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसे अन्य बमों या विचारको आदरों या आश्चर्यावसम्भियों के प्रति घृणा का अधिकार प्राप्त हो जाता है । निष्ठा-भक्त अपनी चारा स विछड़ता नहीं याव ही किसी की निन्दा वह नहीं करता । उसके लिए सब अपनी जनह पुण्य हैं

१ गीता अ० १२ श्लोक १३ २० ।

२ गीता अ० ७ श्लोक १६ १७ ।

३ श्री रामकृष्ण बचनानुठ द्वितीय भाग पृ० २७५, अनु० निराला ।

माननीय हैं परन्तु वह अपने ही दृष्ट को सर्वस्व जानता है। महात्मा तुमसीरास ने जिस प्रकार कृष्ण की मूर्ति देखकर उनके सौम्य और महानता को स्वीकार कर लिया था परन्तु अपने लिये तो—'तुमसी माया ही मैं' अनुभव नाम को हाथ।

मत्त में बैराग्य की अपेक्षा है। यह बैराग्य दृष्ट क प्रति प्रेम-जन्मता के कारण होता है। सत्त्वा मत्त उक्त-प्रेम बनाए रखने के लिए संसार का सर्वस्व त्याग देने की भी तैयार रहता है। धीरे धीरे इस प्रेम का विकास दृष्ट से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के प्रति भी होने लगता है। और मत्त क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अपने प्यारे को देखता है मत्त उसका प्रेम धामित न रहकर सार्वजनीन हो जाता है। इसे बैराग्यमय प्रेम भी कहा जा सकता है। इसमें किसी प्रकार का स्व-विक्रम नहीं होता ना ही किसी मय का प्रतिग्रह का प्रश्न यहाँ उठता है।

श्री अरविन्द मत्त-गुरु-गान करते हुए लिखते हैं 'पुरुषोत्तम के मत्त का मानस सार्वजनीन होता है, उसमें अहं का शेष भी नहीं रह जाता। क्योंकि वह संतोषपूर्ण सहिष्णु समासीन होता है इसलिये समस्त जगत् उसकी सहायुज्ज्वलित विभवा एवं दया का अधिकारी होता है। वह किसी से घृणा नहीं करता। उसके लिए हर्ष-विषाद प्रसन्नता-अवसाद सब बराबर हैं। उसमें मायी-भी मुहुर प्रत्यावना और निरवस विव्वास होता है। वह अपने दृष्ट पर अटल प्रेम रहता है उस पर अपना सर्वस्व बलिदान करने की सैब तत्पर रहता है। जबका सामान्य वह निम्न इतियों से मुक्त महात्मा होता है जो इषोत्साह मय बाँटा एवं अमितापामों से परे शान्त भाव में लीन पड़ा रहता है। संसार के सुखों-दुःखों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, वह उनमें कोई रुचि नहीं रखता। वह शान्ति का प्रतीक-आत्मा होता है।

जबका मत्त, अपने अस्तित्व के स्वामी के प्रति समस्त इच्छाओं और कर्मों का समभय करने वाला अनुभव-आत्मा होता है। उसमें अहंभावो निजी या मानसिक वैतना प्रवाह का समभय अन्त हो जाता है और वह बिना किसी प्रकार के हनरोप का विचारने की ही मृष्टता किये अथवात की भीतारों और इच्छाओं को शिरोधार्य करता है तथा उस आध्यात्मिक-ज्ञान (प्रधान ज्योति) का अधिकारी बनता है जो अथवात की अत्यन्त कृपा से विव्वातु के अन्तर में प्रकट हुआ करता है।¹

कर्म-योग

विश्व के प्रकृति-बन्ध में अरना अस्तित्व बनाए रखने के लिए प्रत्येक प्राणी को 'कर्म करना अपेक्षित है। परन्तु 'कर्म के अतिरिक्त यह शब्द कार्य-कारण भाव की अभिव्यक्ति भी प्रदान करता है। मत्त कोई भी काम व्यवहार पुन या विचार, जितने निजी प्रकार की अनोरपति होनी है 'कर्म' की परिधि के अन्तर्गत आता है।

1 The Essays on Gita The way and the Bhakta, p 359

विचित्र वचन है इसी प्रकार से कर्म में संलग्न होने पर भी त्याग और वैद्यक्य का महिमात्मक स्वरूप भारतीय विचारधारा में प्रचारित किया गया है—और उसने भी 'मुक्ति' के उसी महत्त्व को अपना ध्येय बनाया है जिसे भक्ति या ज्ञानयोग जीव की पराकाष्ठा स्वीकार करते हैं। यही विचार धारा कर्म-योग है और कर्म के रहस्य की आसना इसका उद्देश्य।

कर्ता अपने प्रत्येक कर्म के फल का मोक्ष भी होता है। यह फल-भोक्ता ही वास्तव में जीव के बन्धनों की कारण है। फल प्राप्ति की चेतन अचेतन अथवा अचचेतन आसक्ति ही भारत के परम्परागत कर्म सिद्धान्त की जन्म-दातृ है। विचारकों का विश्वास है (उगृहीति धिष्ठ भी किया है) कि आत्मा का मित्र मित्र नाम-रूप से संसार में आत्मा सुखी-सुखों का भोग करना आदि सब कर्म-सिद्धान्त का ही परिणाम है। परन्तु कर्मयोग इसके विपरीत जीव के कर्मों के फलभोग के अन्त की (कर्मों की नहीं) कल्पना किए, आत्मा के द्वारा मित्र नाम-रूप धारण करने और संसार के हर्ष विषाद की सीमाओं से बाहर 'विर-मुक्ति' का विधान रखता है। यही कर्मयोग के महत्त्व का पर्याप्त सङ्ग्रह है।

उपर्युक्त कारण-कार्य भाव के दृष्टिकोण से कर्म दो प्रकार के होते हैं—प्रवृत्त और निवृत्त। प्रवृत्त-कर्म वे कार्य हैं जिनका कर्ता उनसे किसी परिणाम या फल की कामना रखता है। इन्हें सकाम-कर्म भी कहते हैं। ये अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के होते हैं। सृष्टि का नियम है कि एक ओर अच्छाई होने से बुराई और बुराई का उदय अनिवार्य है, विकास ह्रास का ही समानुक्त्य भाव है। अतः सकाम कर्म के प्रकट होने से दो-तरफा परिणाम आता है अर्थात् यदि एक ओर ज्ञानप्रसादा आता है तो अव्यय भी किसी को भोगना ही पड़ता है। ये ही कर्म पूर्वोक्त कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जीव के आत्मा गमन का कारण बनते हैं। बुराई प्रकार के कर्म निवृत्त या निष्काम होते हैं। इनका कर्ता इनसे किसी प्रकार के फल की अपेक्षा इच्छा नहीं रखता। वह करता है, इसलिए नहीं कि उसे करना चाहिए, इसलिए भी नहीं कि उसका कुछ कर्तव्य है न ही इसलिए कि उसे संसार में किसी प्रकार की कोई इच्छा या कामना रहती है बल्कि इसलिए कि उसके प्रभु की ऐसी इच्छा है। उक्त कर्म आत्मा की बन्धन में नहीं आसते प्रत्युत फल के हिसाब-किताब से विरक्त कर्ता की मुक्ति का कारण बन जाते हैं। ऐसे निष्काम-भाव से कर्म करने वाले महापुरुष का कर्मयोगी कहा जाता है। वह इस संसार में रहता है। समाज की दृष्टि से अच्छे-बुरे सब कर्म करता है परन्तु उनके परिणाम में आसक्ति उसे कमी नहीं होती। कर्म का परिणाम निरामयता निर्गम-नियम है लेकिन अच्छे परिणाम पर वह हर्षित नहीं होता बुरे फल पर वह दुःखी होना नहीं जानता। वह तो कर्म और कर्मफल दोनों ईश्वरेच्छा पर समर्पित कर देता है।^१ वह अपने

१. गुरु नामक का कर्म-सिद्धान्त इसी का व्यवस्थित रूप है।

लिए मलाई का एक उत्कृष्ट-मार्ग चुन लेता है और कर्मों के बन्धन से मुक्त (जीवन मुक्त) रह कर वह प्राची-मात्र का उपकारी बन जाता है।^१ मृत्यु के पश्चात् कर्म मिथ्यान्तानुसार पुनर्जन्म केवल पूर्ण अग्न के कर्मों का फल पाने के लिए ही होता है, और कर्मयोगी निवृत्त होने के कारण कर्म-अग्नि का दण्डक ही नहीं होता बल्कि वह चिर मुक्त हो अपने प्रभु में ही विलीन हो जाता है। संसार में उसकी स्थिति पद्य-पत्र की तरह होती है जो बस और कीच में रहता हुआ भी उससे अप्रभावित रहता है उस पर मन्त्रिभटा या मीमेपम का कोई असर नहीं हाता।

प्रवृत्त और निवृत्त कर्मों के इस मत का विवेचन करते हुए स्वा० विवेकानन्द ने कहा है एक असत्, कर्म है और दूसरा सत्। निवृत्ति ही समस्त नीति और सम्पूर्ण धर्म की नींव है और इसकी पूर्ति ही सम्पूर्ण 'भारमत्पाप' है बिनाक प्राप्त हो जाने पर मनुष्य दूसरों के लिये अपना शरीर मन यहाँ तक कि अपना सर्वस्व ग्योछावर कर देता है। तभी मनुष्य को कर्मयोग में सिद्धि प्राप्त होता है। सत्कार्यों का यही सर्वोत्तम फल है। किसी मनुष्य ने चाहे एक भी दर्शन शास्त्र न पढ़ा हो किसी प्रकार के ईश्वर में विश्वास न किया हो और ममी भी न करता हो चाहे उसने अपने जीवन भर में एक बार भी प्रपना न की हो परन्तु कर्मसत्कार्यों की शक्ति उसे यदि उस अवस्था में से बाध, यहाँ वह दूसरों के लिए अपना जीवन और सब कुछ उत्सर्ग करने को तैयार रहे ता हमें समझना चाहिए कि वह उसी लक्ष्य को पश्य गया है यहाँ एक मत्त अपनी जपासता द्वारा तथा एक क्षात्री अपने शान द्वारा पहुँचता है—सब एक ही स्थान पर आकर मिस जाते हैं और वह स्थान है भारमत्पाप।^२ ध्यान रहे यह अनासक्ति ज्ञान मुक्त होगी। कर्मयोगी ने इसकी परत की होगी और अनिश्चयता इसके मूल्यांकन से परिचित होगी। किसी के कहने सुनने मात्र से यह सब सम्भव नहीं कर्ता की निष्कामता उसके निजी अनुभवों का विषय होगी। श्रीमद्भगवद्गीता का तीसरा अध्याय इसका प्रमाण है।

मुक्ति-प्राप्त के रूप में कर्मयोगी ज्ञान और भक्ति की अपेक्षा सहज मार्ग है। परन्तु निवृत्ति में सार्वत्रिक के जिस स्वरूप की भाँति यहाँ की जाती है वह ज्ञान और भक्ति को इससे जुदा नहीं रहने देनी। कर्म-संलग्नता को 'ईश्वर-हेतु' बनाना उत्कृष्ट भक्ति का ही नाम है और विश्व-कार्यों में प्रवृत्त होकर भी निवृत्ति में अश्रिय रहना एर सपके आर्मी का ही लक्षण है। अमिप्राप यह कि ज्ञान मुक्ति और कर्म के तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए यौता अनासक्त-भाव से कर्म करने रहने का आदेश देनी है उन्हें त्यागने का नहीं। कर्मों को त्यागना मृत्यु-अग्य जड़ता है। अपने पदों से मानना ही मृत्यु है। दुनिया में हमारा आगमन ही हमारे द्वारा किसी न किसी

१ कर्मयोगी जगत् एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

२ कर्मयोग—'अनासक्ति ही पूर्ण भारमत्पाप है', पृ० ६५-६६।

प्रकार के कर्म की पूर्ति का जोरक है। यही कारण है कि उपर्युक्त प्रकार की दार्शनिक-तत्त्व प्रथम वाले सुनकर जन-साधारण उमसतन म पड़ जाता है। दुनिया में जीने के लिए कर्म छोड़े नहीं बसता बिना छोड़े बन्धन-मुक्ति की सम्भावना नहीं। आखिर वह करे क्या? विशिष्ट समस्या है। सांसारिक कर्म तो ब्रह्मद्वि-बन्धनों का स्वरूप है। विश्व स्वयं एक मिश्र-योगिक (Compound) संस्था है जिसमें कर्म-सिद्धान्तानुसार एक कर्म के सुगठान को जाया जीव भग्य अनेक कर्मों के फँसों में फँस जाता है। यहाँ का प्रत्येक प्राणी इसी चक्र में लिखा बसा बा रहा है उसका बचने के लिए किया गया कोई भी माध्यम सफल नहीं होता परन्तु फिर भी इस चक्र से निकलने की इच्छा सब की है। समस्त धर्म दार्शनिक-सिद्धान्त अग्न्यास तथा साधना इसी इच्छा के परिणाम-रूप अस्तित्व में आए हैं। अब उसी प्रश्न की पुनरावृत्ति होती है—आखिर जीव करे क्या? इस चक्र से क्यों कर बचे? कर्मयोग इसका उत्तर है। उक्त संसार चक्र से बचने के दो उपाय हैं। प्रथम उपाय ठीक अपने अभिप्राय में निवृत्ति को अपनाते का है। अर्थात् इस चक्र से पूर्वत जुदा होकर दूर से इस की लीसाओं को देखना। एच्छित्त स्थिति की प्राप्ति का साधन है 'योगाग्न्यास'। योगी जब अपने सक्षय तक पहुँचता है तथा अपनी आत्मा को कैवल्य में स्थित करता है तो वह संसार से पृथक् अपना पाठा छोड़ लेता है। उस समय संसार के आकर्षण विकर्षण हर्ष-विषाद सब उसके लिए मिट्टी हैं। वह इन से दूरी होकर दूर हट जाता है कि बाहरी सामग्री उसे जोरारा अपने तक खींच लेने में पूर्वत नि-अच्छ हो जाते हैं, और योगी निवृत्तिमय परमानन्द का उपभोग करता है। दूसरा मार्ग है प्रवृत्ति का। संसार में रहते हुए कर्म करो अपने अन्दर में सब प्रकार की काम-दामता पैदा करो जीवन की समस्त अपेक्षित-विधियों का पालन करो—और अन्ततः निरवधारक-मात्र से विश्व चक्र के अन्दर रहते हुए, उससे बाहर निकलने का मार्ग खोज निकालो। यही मार्ग है कर्मयोग। कर्म के भीतर से नि-कामता पैदा करो इच्छा-विहीन कर्मों को प्रथम दो और कम-स्वरूप अपनी सम्पूर्ण सक्रियता ईश्वरेच्छा पर समर्पित कर स्वयं इस कल्पना से भी मुक्त हो जाओ कि आपने कार्य किया। वह भी मत सोचो कि 'मुझे कुछ करना चाहिए था' इससिद्ध किया। प्रायः दुनिया में अपने कर्मों की सफाई पेश करते हुए लोग 'कर्तव्य' की ओर सेते हैं। अमुक-अमुक कार्य मेरा कर्तव्य था या है ऐसा कहा जाता है। परन्तु नहीं कर्मयोगी कर्म को कर्तव्य समझकर नहीं करता। उसका विश्वास है कि ईश्वरेच्छा से यह कराया गया है इसलिये उसने किया। उसका अपना स्वार्थ परायण या परमार्थ उसमें कुछ भी नहीं होता। वह तो पीठा के 'कर्मभ्येवापिचारस्ते मा फलेषु कदाचिन्' का सच्चा पालक बन जाता है। दुनिया में तो वह क्या चाहेगा भयबोधोपासना से भी उमरी ईश्वर से कोई कामना नहीं होती। वह करता है क्योंकि उसके द्वारा होता है—और करवाने वाला उसका सर्वोत्कर्ष है। कर्मयोगी को किसी प्रकार का काम भ्रम लाभ मोह मईं भवि नहीं रह जाता। वह सर्वमहान् त्यागी हाता है जिसने भयवान् के लिए सर्वस्व त्याग

रिया होता है। उसके कर्मों का अच्छा बुरा होना ईश्वर से सम्बन्धित है कर्म फल के भोग की अपेक्षा वह नहीं रखता इसीलिए प्रभु का प्रिय जीव बन जाता है। गीता में लिखा है—

अनपेक्षं शुचिर्बल उदासीनो यतध्मप ।
सत्कारम्भपरित्यामी यो मङ्गल समेप्रियः १

स्वयं अर्जुन को भी श्रीकृष्ण ने समस्त कर्मों के गुण-बलों का ध्यान त्याग कर प्रभु शरथ ब्रह्म बनने का उपदेश दिया है—

सर्वं धर्माग्निपरित्यज्य मामेकं शरणां व्रज १

श्रीमद्भगवद्गीता में इस महिम निवृत्त-कर्म को अग्य पाँचों प्रकार^३ के प्रवृत्तियुक्त कर्मों से उच्छ्रय बताया गया है। इसी को मुक्ति का आचार भी स्वीकार किया है। गीता के उपदेश इस प्रकार हैं—

क— जैसे पतिव्रता स्त्री पति को ही सर्वस्व समझ कर पति का चिन्तन करती हुई पति की आज्ञानुसार पति के ही लिए मन बाणी शरीर से कर्म करती है वैसे ही परमेश्वर को ही सर्वस्व समझकर, परमेश्वर का चिन्तन करते हुए परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार मन बाणी शरीर से परमेश्वर के ही लिए स्वामात्रिक कर्तव्य-कर्म का आचरण करो^४। इस रूप में कर्म ही उपासना है।

ख— क्योंकि कर्म कारण-कार्य-भाव की आर भी संकेत करता है इसलिए कर्म का फल तो होना ही। परन्तु प्रत्येक कर्म के दो प्रकार के परिणाम होते हैं— एक तो स्वर्णित परिणाम होता है जिससे हर्ष और विषाद का अनुभव होगा है। यह फल अनिर्धार्य है अत बिना दुःखी हुए हँसमुख रह इसे स्वीकार कर लेना चाहिए। दूसरा परिणाम सूक्ष्म-संस्कार (Subtle Impression) रूप में एकत्रित होते हुए मस्तिष्क में कोई स्थूल स्थिति उत्पन्न करने वाला होता है। इस स्थिति का अवरोध सम्भव है और यह हड़ आत्म विश्वास द्वारा हो सकता है।

ग— गीता के अनुसार मनुष्य कबम शारीरिक और मानसिक निमित्तों का संघर्ष ही नहीं। (ऐसा होने से वह कम सिद्धान्त से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता) उसमें एक उन्नतआत्मा भी है जो सर्वत्र मुक्त है। निम्नात्मा (Lower Self) कर्मों में संलग्न होना और उसके फल की दृष्टि में बध्न जाता है। अज्ञानी व्यक्ति अपने को

१ गीता अ० १२ श्लोक १६।

२ गीता अ० १५ श्लोक ६६।

३ अग्य पाँच प्रकार के कर्म हैं—(क) नित्य (ख) नैमित्तिक (ग) सह्य (घ) शरीर-रक्षा के प्रति किये कर्म (ङ) अग्य।

४ गीता (छोटा संस्करण) गोरखपुर पाद-टिप्पण पृ० ११३ १४।

इसी से सम्बन्ध करता है परन्तु जब नियन्त्रित-कर्मों द्वारा भ्रष्टानाशरण उठ जाता है तो वह अपने को उन्नतारमा के रूप में पहचानता है। और उन्नतारमा के लिये तो कर्म भी निकर्म होता है।

प— निष्काम-कर्म ही उचित कर्म है, क्योंकि यह जीव को भव-बन्धनों से मुक्त करता है। सब तो यह है कि नैष्कर्म्य की स्थिति कर्म के माध्यम से ही प्राप्य है—स्थान रहे नैष्कर्म्य का अर्थ यीता में कर्म-हीनता नहीं बल्कि ऐसे कर्म हैं, जिनके फल का अन्त हो जाता है।^१

ये चारों तत्व गीता के स्पष्ट कर्मयोग का उन्नत स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

कर्मयोग और कर्मकाण्ड

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी अनुचित न होया कि यीता का कर्मयोग तथा पूर्व-मीमांसा का कर्मकाण्ड दोनों को एक ही स्तर पर मानने के प्रयत्न ता हूय, परन्तु फिर भी दोनों में एक गम्भीर अन्तर रह गया है। निस्तान्देह कर्मकाण्ड के यज्ञ बान तथादि अंगों को गीता में सहज-कर्म के नाम से स्वीकृति दी गई है और कर्मयोगी के लिए उन कर्मों के करने में निष्काम-वृत्ति का प्रतिपादन करना ही सिफरिष भी हुई है, परन्तु मोटा अन्तर इन में ज्ञान और यज्ञ का है। कर्मयोगी के निष्काम कर्म एक विशेष ज्ञान-स्तर के मानवव्यक्त पर जाने परचे रहते हैं। वह कर्म को समझता और पहचानता है तथा प्रभु में भीनता के कारण उसी को समर्पित कर देता है। परन्तु कर्म-काण्डी का कर्म बन्ध-बन्धा या विश्वास पर आश्रित रहता है। अर्म-विशेष में आस्था इष्ट निष्क तथा उसकी प्रसन्नता के लिए यज्ञ-हवन से देव-पूजन आदि भाव उसके कर्मों का आधार बनते हैं। इन कर्मों में ज्ञान या तर्क को कोई स्थान नहीं। ऐसे ज्ञान-बिहीन कर्म प्रायः या प्रकार के होते हैं—जब में जाइम्बर और बम्म अधिक होता है घूठ भूमि कम एवं घूसरे में श्रद्धा और विश्वास की घूठभूमि होती है लेकिन चिन्तन-मनन की कमी। मन के संयम के बगर माता केरला सम्भे-सम्भे तिरुक् सनागा सिद्धि-बिहीन संन्यास का प्रदर्शन करना भयभा पहनना तथा अर्म के ठेकेदार बनकर दुष्ट स्वार्थ के लिए घूसरी के घने कटवाना प्रथम प्रकार के कर्म हैं जिसकी माय्यता पूर्व-मीमांसा में भी नहीं दी गई। घूसरी प्रकार के कर्म धार्मिक बद्धरता एवं मठावसम्भन पर निर्भर हैं। इनमें प्रेम और शक्ति का गम्भीर आधार नहीं तिया जाता बल्कि अन्ध-श्रद्धा का सहारा लेकर अपरिपक्व-अनुकरम किया जाता है। मीमांसाकार का विश्वास है कि जीव की उस स्थिति पर जगदान की हृदा-दृष्टि होती है और स्वयं प्रभु उसका सम्बन्ध बनकर भव सागर के विकट घपेड़ों से उसकी रक्षा करता है। इसी स्थिति का चरम-रूप मीमांसा

में श्री इच्छा-बिहीन कर्मों का अपनाना है परन्तु वही इसकी प्राप्ति त्याग और आत्म संयम से नहीं बल्कि ईश्वर-कृपा से है।

कर्मयोग अपने में महत्तम और जीव के लिए सङ्कलन-व्यवस्था है। इसके माध्यम से हम सरलतापूर्वक अपने उद्धार की योजना बना सकते हैं। निष्काम-वृत्ति उत्पन्न करने के लिए कर्म फल-समर्पणार्थ प्रभु भक्ति का बीजारोपण अपने भाप हो जाता है। इस तथ्य को अपनाकर जब कर्मयोगी मुक्ति का सामन जुटा लेता है तो 'कर्म रहस्य' की जानकारी उसे ज्ञानियों की पंक्ति में ला चका करती है। भवतः इस प्रकार कर्मयोगी में भक्त और ज्ञानी के सङ्ग भी स्वयम्भव हो जाते हैं और वह मुक्तारमा बन परमानन्द तथा शान्ति का उपभोग करता है। इसके विपरीत कर्मकाण्ठी बाह्यी रूप संकलित तो बहुत कुछ है परन्तु अन्त-मज्जा होने के कारण रहस्य या तत्त्व की जानकारी उसे नहीं मिलती—क्योंकि वह उसकी साध ही नहीं करता। और भवबन्धीता में अधिक मूर्खान्त उसी का है जो उसे 'तत्त्व से पहचानकर' कर्मों को उसके प्रति समर्पित करे। लिखा है—

एवं बहुविधा यथा वितता बह्वेषो मुचे । कर्मजान्बिद्धिं तास्तर्जनिबं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ४ ३२ ।

(ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ वेद की बाकी में विस्तार किए गए हैं इन सबको सरल मन एवं इन्द्रियों की किन्मा द्वारा ही उत्पन्न होने वाले जान इस प्रकार तत्त्व से जानकर निष्काम कर्मयोग द्वारा संसार बन्धन से मुक्त हो जायगा।)

ज्ञान, भक्ति और कर्म

जैसे एक संतम्य पर पहुँचने के लिए भिन्न राही कुछ कुछ मार्गों को अपनाकर भी भवतः में एक ही स्थल पर जा मिलते हैं वैसे ही ज्ञान भक्ति और कर्म प्रभु-मिलन के तीन साधन हैं। साधक कोई या साधन अपनाए, सत्य वही परमपर की प्राप्ति ही है। साधना-शेष में प्रत्येक मार्ग की निजी सुविधाएँ हैं अपनी कठिनाइयाँ हैं और अपेक्षाएँ हैं परन्तु साध्य वही पूरा-रूप है जिसका आनर्पण ज्ञानी को एहसोद्धान्त के लिए प्रेरित करता है भक्त का आत्म-समर्पण हेतु उपायता है और कर्मयोगी को आत्मत्याग-युक्त परोपकार-श्रेयसा देता है। प्रभु-रूप ही प्रकार के विज्ञान पर होती है लेकिन अपने को अधिक और उचित रीति से आध्यात्मिकता के मार्ग पर बढ़ाने वाला साधक परम-सत्य का अधिकारी बन जाता है विमल जाने वाला भीति-बन्धनों से ही मुक्त नहीं हो पाता।^१

१ परिवार में जैसे माता-पिता का स्नेह सब बच्चों पर होता है परन्तु जो बच्चा अपने सहाचार, सेवाभाव एवं आशापानन से माता-पिता का अधिक रिश्ता से वह उनकी दृष्टि में विशेष स्थिति का अधिकारी हो ही जाता है।

उक्त तीनों मार्ग यद्यपि अपना पृथक् अस्तित्व रखते और एक दूसरे से भेद कहसाने का दम भरते हैं तो भी एक दूसरे से पूर्व-व्येग कोई जुदा नहीं। श्रीमद्भक्तवार्ता के मतानुसार विज्ञानसु चाहे अपनी सुविधानुसार कोई भी मार्ग पहले चुने और उसका अभ्यास करने लगे—समय जाने पर उसे ज्ञेय दो का स्वरूप भी जानना होगा और उनकी सहायता से जीवन की संश्लिष्टता प्राप्त कर अपने ज्ञेय की मोर बड़ना होगा। सामान्यतः रहस्य ज्ञान सेते के बाद ज्ञानी का सक्रिय ब्रह्म में धीन होता होता है। इसकी उपलब्धि समर्पण और आत्मनिवेदन (भक्ति) तथा ज्ञानी कर्म-विद्यास्त से बचाव के लिए नैष्कर्म्यता (अनासक्त-कर्म) के माध्यम से ही सम्भव है। भक्त को (गीता के अनुसार) ज्ञानी मक्त बनकर ही भक्ति की शोभ करनी होती है। कर्मयोग के बिना वह अपने को आत्म-श्यागी नहीं बना सकता। कर्मपत्र का शाब्क भी बिना ज्ञान और भक्ति का आश्रय लिए कर्म-कर्म के मोह का त्याग नहीं कर सकता और ना ही प्रभु के हेतु कर्म-समर्पण से उसे सफलता मिल सकती है। अस्तु यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि तीनों मार्ग एक-दूसरे के शाब्क हैं। शाब्क नहीं और तीनों का विशिष्ट-भाषा में संयोग ईश्वर-मिसन के महत् लक्ष्य को शाब्क करता है। तथापि नीचे हम महात्मा तुलसीदास के रामचरितमानस पर आश्रित मिस मार्गों की कठिनाइयों और सुविधाओं का विश्लेषण करना अनुचित नहीं समझते।

म० तुलसीदास स्वीकार करते हैं कि ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं।^१ दोनों मुक्ति के शाब्क हैं। लेकिन महात्मा शाब्कारों महात्मजों आदि ने जन-साधारण को समझाने के लिए कुछेक श्रेणियों का स्पष्टीकरण किया है जो कि इस प्रकार हैं।^२ तुलसीदास लिखते हैं कि ज्ञान योग वैराग्य आदि सब जग्य पुस्तिसप हैं।^३ और प्रायः पुरुष सक्त होता है और श्री अबला और जड़ स्वभाव की होती है।^४ ऐसे में चाहिए तो यह कि पुरुष क्षियों के मोह-जाल से बच रहें। परन्तु यह विचार सकाम-अस्पता मान ही है वास्तविक-जीवन में ऐसा नहीं होता। केवल इन्द्रियजित विरक्त और विवेकशील व्यक्ति ही क्षियों (माया) का त्याग करने योग्य हैं। अन्य ससारी ऐसा नहीं कर सकते। प्रयत्न करने पर भी उन्हें इसमें सफलता नहीं मिलती।^५ जिन वैरागियों ने प्रयत्न किया जंगलों में जाकर उप-स्वान में दिन

१ ज्ञानहि भक्तिहि नहि कछ भेदा। उमर हरहि सब संभव सेवा।

१९ उत्तरकाण्ड-रामचरितमानस

२ नाप मुनीन कहहि कछु अन्तर। सावधान सोइ सुमु बिहोंगवर। १४ बही।

३ ज्ञान विरग योग विज्ञाना। ए सब पुरुष मुनहु हरि याता। १५ बही।

४ पुरुष प्रताप प्रबल सब जाति। अबला अबल सहज जड़ जाती। १६ बही।

५ पुरुष त्यागि सक नाहिहैं जो विरक्त मतिबीर।

ननु कामी भी विषय बल विमुख वै पर रघुबीर ॥ १७८, बही।

तथापि और नारी की मोहिनी से सदा बचते रहे, वे भी स्त्री जोकि प्रथम माया है का सामना होने पर फिसल पड़े। बड़े-बड़े ज्ञानी और तपस्वी औरत के चन्द्रमुल को देखकर विकल हो उठ। स्वयं नयम-रूप शिवजी भगवान् क मोहिनी रूप को देखकर कामानुर हो उठे थे। पापघार और विषबाधित सरीभे भागियों का तो कहना ही क्या ?^१ अर्थात् ज्ञान पुरुषबाधक होने के कारण प्रायः स्त्रीबाधक माया की ओर आकृष्ट ही ही जाता है परन्तु भक्ति स्वयं स्त्रीबाधक है और क्योंकि नारी नारी की ओर आकृष्ट नहीं होती^२ इसलिये भक्ति भी माया के फँसे में नहीं फँस सकती। पुनः माया तो प्रभु के दरबार की द्यूत गर्तकी मातृ है और भक्ति प्रभु की प्रेमिका।^३ इसीलिये जिसके हृदय में प्रभु की भक्ति का निवास है वही स्वयं भगवान् निबधित है। वही अम्य कोई उपाधी नहीं जा सकती क्योंकि उस हृदय में भक्ति का आसन बेलकर माया संकुचित हो जाती है और शान्त रह जाती है। तुमसी बताते हैं कि भक्ति प्रभु को प्रिय हान के कारण अधिक सक्त है और माया अपनी दुर्बलता के कारण उससे टकराने में भय लाली है। यही सब विचार कर महात्माजन प्रभु से उसकी भक्ति की मांग करते हैं, ज्ञान की नहीं। भक्ति सब प्रकार के गुणों का अपरिमित कोष है जबकि ज्ञान थोड़ा भी मटक जाने पर पथम के गत में मिरा देता है।^४

ज्ञान और भक्ति का एक अम्य भेद म० तुमसोदास बड़े ही भागिन गणों में प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि वास्तव में उक्त भेद गणों में समझाया नहीं जा सकता यह व्यावहारिक-चिन्तन है। जो जीव अन्तर्प्राप्त करे, वही सुगमतापूर्वक इसे समझ सकता है। यह जीवात्मा मानिक का अंग है। यह जेतम है अमल है और सर्वोच्च है। यह प्रभु के सागर की बूँद है महत् शक्तिशाली है। परन्तु दुर्भाग्यवश माया के फँसे में फँस गया है। जैसे हम तोते को पिंजर में बन्द कर लेते हैं या बन्दर को रस्ती से बाँध कर मचाते हैं, वैसे ही माया ने जीव का तोते या बन्दर की तरह बाँध रखा है और क्योंकि जीव अपनी वास्तविक शक्ति भूल चुका है इसलिये माया

१ सोढ मुनि ज्ञान निधान मृगनयनी विष्णुपुर निररधि । सोरठा ॥१६॥
विष्णु होदि हरिपान नारि विष्णु माया प्रमट ।

२ मोह न नारि नारिके कृपा । पन्नगारि यह भीति अनूपा । २ ।
माया भक्ति सुनहु प्रभु दोऊ । नारि बनें जानै सब कीऊ । ३ ।

३ बुनि रघुवीरहि भक्ति निवारी । माया सन गर्तकी विचारी । ४ ।

४ अर्थात् मानुष्य रघुराय । ताते तेहि दरपति जनि माया । ५ ।

रामभक्ति निगम निरुपाधी । बनें जानु डर सदा बचापी । ६ ।

तेहि विमोहि माया सकुचार्थ । करि न मई करु नित्र प्रसुतार्थ । ७ ।

अथ विचारि के मुनि विजानी । जाचहि भक्ति सकल पुनपानी । ८ । रामचरित मानस

उक्त तीना मार्ग यद्यपि अपना पृथक् अस्तित्व रखते और एक दूसरे से अलग-अलग का सम भरते हैं तो भी एक दूसरे से पूरा-अपेक्ष कोई पुरा नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता के मतानुसार विज्ञानासु चाहे अपनी सुविधानुसार कोई भी मार्ग पहले चुने और उसका अभ्यास करने लगें—समय जाने पर उसे खोए हो या स्वरूप भी जानना होमा और उनकी सहायता से जीवन की संतुष्टि प्राप्त कर अपने ध्येय की ओर बढ़ना होमा। सामान्यतः रहस्य ज्ञान सेने के बाव ज्ञानी का लक्ष्य ब्रह्म में सीम होता होता है। इसकी उपसम्बि समर्पण और आत्मनिवेदन (भक्ति) तथा आयामी कर्म-सिद्धान्त से बचाव के लिए नैष्कर्म्यता (अनासक्त-कर्म) के माध्यम से ही सम्भव है। भक्त को (गीता के अनुसार) ज्ञानी भक्त बनकर ही भक्ति की शोच करनी होती है। कर्मयोग के बिना वह अपने को आत्म-रमागी नहीं बना सकता। कर्मपथ का साधक भी बिना ज्ञान और भक्ति का आशय लिए कर्म-फल के मोह का त्याग नहीं कर सकता और ना ही प्रभु के हेतु कर्म-समर्पण में उसे सफलता मिल सकती है। अन्तु यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि तीनों मार्ग एक-दूसरे के साधक हैं साधक नहीं और तीनों का विशिष्ट-मात्रा में संयोग ईश्वर मिलन के महत् लक्ष्य को साध्य करता है। तथापि नीचे हम महात्मा तुलसीदास के रामचरितमानस पर आभित भिन्न मार्गों की कठिनाइयों और सुविधाओं का चित्रण करना अनुचित नहीं समझते।

१. तुलसीदास स्वीकार करते हैं कि ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं।^१ दोनों मुक्ति के साधन हैं। लेकिन महान शास्त्रकारों महात्माओं आदि ने जन साधारण को समझाने के लिए कुछेक भेदों का स्पष्टीकरण किया है या कि इस प्रकार है।^२ तुलसीदास लिखते हैं कि ज्ञान योग वैराग्य आदि सब शब्द पुस्तिक हैं^३ और प्रायः पुरुष सशक्त होता है और स्त्री जवला और जड़ स्वभाव की होती है।^४ ऐसे में चाहिए तो यह कि पुरुष क्षियों के मोह-जान से बच रहे। परन्तु यह विचार सकाम-कल्पना भाव ही है वास्तविक-जीवन में ऐसा नहीं होता। केवल इन्द्रियजित बिरक्त और विवेकशील व्यक्ति ही क्षियों (माया) का त्याग करने योग्य हैं। अल्प संसारी ऐसा नहीं कर सकते। प्रयत्न करने पर भी उन्हें इसमें सफलता नहीं मिलती।^५ जिन वैरागियों ने प्रयत्न किया जगत्सों में आकर तप-स्थान में दिन

१. ज्ञानहि भक्तिहि नहि बछ भेदा। उभय हरहि सब संभव भेदा।

१३ उत्तरकाण्ड-रामचरितमानस

२. माय मुनीग बहहि बछ अन्तर। सावधान सोउ मुनु विहंगवर। १४ बही।

३. ज्ञान विराग जोग भिज्ञाना। ए सब पुरुष मुनहु हरि पाता। १३, बही।

४. पुरुष प्रसाय प्रबल सब पांति। अजला अजल सहज नड़ जाती। १६ बही।

५. पुरुष त्यागि सक नातिवई जो बिरक्त मतिधीर।

ननु कामी जो विषय बग विमुग्र जे पर रजुवीर ॥ १७६, बही।

माया और नारी की मोहिनी से सदा बचते रहे, वे भी स्त्री जोकि प्रबल माया है का सामना होने पर किसस पड़े। बड़े-बड़े ज्ञानी और उपम्बी औरत के पम्त्रमुस को देखकर बिकस हो उठे। स्वयं संयम-रूप तिवजी भगवान् के मोहिनी रूप को देखकर कामलुर हो उठे थे। पापशर और विश्वामित्र सरीखे ज्ञानियों का तो कहना ही क्या? जबकि ज्ञान पुत्रयवाचक होने के कारण प्रायः स्त्रीवाचक माया की ओर आकृष्ट हो ही जाता है परन्तु भक्ति स्वयं स्त्रीवाचक है और क्योंकि नारी नारी की ओर आकृष्ट नहीं होती? इसलिए भक्ति भी माया के फँदे में नहीं फँस सकती। पुनः माया तो प्रभु के बरकार की छुद्र गर्तकी मातृ है और भक्ति प्रभु की प्रेमिका।^१ इसीलिए जिसमें हृदय में प्रभु की भक्ति का निवास है वहाँ स्वयं भगवान् निवसित है। वहाँ अन्म कोई उपाधी नहीं आ सकती क्योंकि उस हृदय में भक्ति का वासन देखकर माया संकुचित हो जाती है और जालत रह जाती है। तुमसी बताते हैं कि भक्ति प्रभु को प्रिय होने के कारण अधिक सद्यत है और माया अपनी पुत्रमता के कारण उससे टकराने में मय खानी है। यही सब विचार कर महात्माजन प्रभु से उसकी भक्ति की माँग करते हैं ज्ञान की नहीं। भक्ति सब प्रकार के गुणों का अपरिमित कोष है जबकि ज्ञान थोड़ा भी सटक जाने पर पतन के गर्त में गिरा देता है।^२

ज्ञान और भक्ति का एक अग्य भेद म० तुमसीवाच बड़े ही मार्मिक शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि वास्तव में उक्त भेद शब्दों में समझाया नहीं जा सकता यह व्यावहारिक-चिन्तन है। जो जीव अन्तर्प्राज्ञा करे, वही सुगमतापूर्वक इसे समझ सकता है। यह जीवात्मा मार्मिक का वंश है। यह चेतन है अमल है और नर्षोन्म है। यह प्रभु के सामर की बूँद है महान् शक्तिवासी है। परन्तु दुर्भाग्यवत माया के फँदे में फँस गया है। जैसे हम लोते को पित्ररे में बन्द कर मत हैं या बन्दर को रस्सी से बाँध कर मचाते हैं वैसे ही माया ने जीव को लोते या बन्दर की तरह बाँध रखा है और क्योंकि जीव अपनी वास्तविक शक्ति भूत बुझा है इसलिए माया

सोड मुनि ज्ञान विद्यान मृगमयिनी विभुमुल निरलि। सोरटा ॥१६॥

विक्रम होहि हरियाग नारि विष्णु माया प्रपत्।

मोह न नारि नारिके रूपा। पन्नगारि यह भीति अनूपा। २।

माया भक्ति शुनह प्रभु सोऊ। नारि बर्य जानै सब कोऊ। ३।

पुनि रघुबीरहि भक्ति विमारी। माया लज गर्तकी विचारी। ४।

भक्तिह मानुपूत रपुगया। ताने तेहि बरपति अनि माया। ५।

रामभक्ति निराम निरनाबी। बसे जामु उर नरा बबापी। ६।

तेहि विपोकि माया मनुष्यार्थ। करि न मके कपू नित्र प्रभुगार्थ। ७।

अस विचारि के मुनि विज्ञानी। आबहि भक्ति सफल सुख्यानी। ८। रामचरित्म मन्त्र

के संकेतों पर नाचता मर रह जाता है। इस पर 'बड़ बेतन की ऐसी माँठ' सप गई है कि जन्म प्रयास करने पर भी जीव उसके खोसने में सफल नहीं हो सकता। अतः बेपारा सधारी बना है। सुख की बाँछा रसता हुआ भी उससे बंथित है। वेद-शास्त्रों के अध्ययन तथा ज्ञानोत्पत्ति के बहुत उपाय किए गए परन्तु इच्छा पूर्ण नहीं हुई। उक्त इच्छा की पूर्ति तो केवल परमेश्वर की असीम कृपा से ही सम्भव है। वही पाड़े ताँ गाँठ खोस बीबात्मा को मुक्त कर सकता है। व्यर्थवा सब अयमर्ष है। ज्ञानयोगी ज्ञान-ज्योति के प्रकाश में इस गाँठ को खोसना चाहते हैं परन्तु उस ज्योति की प्राप्ति ही पहले कठिनाई है^१ और यदि मिल भी जाए तो गाँठ खोसना सीमाम्य पर आधारित है क्योंकि भाषा वही जन्मेक विष्णु रचती है। श्रुतिपौं सिद्धिपौं का लोभ देती है। जीव यदि बोझा भी उस लोभ की खोर काट्टुष्ट हुआ कि जन्मेक मुसीबतों से प्रवृत्त ज्ञान-वीथ बचानक भुस जाता है। मान भीविए ज्ञान कुछ प्रबल

१ पाँच तत्त्व तीन गुण पञ्चीस प्रकृति मन और माया के परें जीव पर बड़े हैं मही बड़ बेतन की गाँठ है।

२ प्रस्तुत ज्ञान-ज्योति खलाने के लिए जिस बली और नेह की आवश्यकता पड़ती है तुलसी उसका स्वरूप यों प्रकट करते हैं—

छात्रिकि अद्या वेनु सुहार् । जो हरिकृपा हृदय बस आई । १ ।
 तपब्रत संयम नियम अपारा । के मुक्ति कह मुमर्षम अचारा । १० ।
 छोड़ तूज हरित चरँ बस गई । भावबलस विदु पात्र पम्हारी । ११ ।
 गई निहति पाप विस्वासा । निर्मल मन अहीर निज बाठा । १२ ।
 परम धर्ममय पय दुहि भाई । भबटँ बनस अकाम बनारी । १३ ।
 तोय मरुत तब धमा पुकारै । श्रुतिधम जीवन बेह बनारी । १४ ।
 मुदिता मही बिचार मजानी । हम बभार रजु सत्य सुबानी । १५ ।
 तब यदि काहि सेह मजनीता । दिमल बिराय सुभग सुपुनीता । १६ ।

बोझा—योग बगिन करि प्रगट तब कर्म मुमानुम लारी ।

बुद्धि बिराई ज्ञान भूत ममतामल करि जाई ॥१८२॥
 तब विज्ञान निदपिची बुद्धि बिषय भूत पाई ।
 बिजत बिषा मरि बरह हड़ समता दिजटी बनारी ॥१८३॥
 तीन बबस्था तीन बुध, तिहि कपासते काहि ।
 तूज दुरीम सेवारि पुनी जाती करै मुगाहि ॥१८४॥

सौरठा—यहि विधि से सो वीथ तैत्र राहि विज्ञानमय ।

जातहि जासु समीप जरहि महादिक जलम धब ॥१७॥

बौ०—मोहमरिम इतिहासि अर्षडा । बीपगिखा साइ परम प्रबंडा । १ ।

अतम अजुमब मुग स्वप्रकाशा । तब मबभूस भूद भ्रम नाका । २ ।

प्रबल बनिघाबर परिबारा । मोह जादि तम मिटै अपारा । ३ ।

तब सोइ बुद्धि पाइ उजिआरा । उरपुह बैठि पंथि निरुआरा । ४ ।

उत्तरकांड—राजबलिमानस

है और श्रद्धा-सिद्धि शक्तियों की ओर नहीं झुकता तो इन्द्रियों के देवता^१ उत्पात करते हैं। जोष जिनकी पूजा करता है वही उसका माण-रोषक बनते हैं। जब कभी विषय-वासना का पवन चलता है, ता वे हठपूर्ण उसके अन्तर्प्रवेश क द्वार^२ जोस दते हैं। विषय-अभ्रंजन के वेग से ज्ञान का शीपक बुझ जाता है। जो श्रद्धा अन्तः मुसीबतों और कठिनाइयों सहन कर प्राप्त की थी अण मर में जीव उससे हाथ धो बैठता है। जब प्रकाश ही नहीं रहता गौठ कैस खुले? इन्द्रियों के देवताओं को ज्ञान मुहता नहीं वे तो विषय-विकारों के प्रेमी हैं—'इन्द्रो मुरल न ज्ञान मुहार्ह। बिले भोग पर प्रति सबाई।' अतः दोबारा शीपक जमान की प्ररणा उसे वहाँ से मिसे? सब ही भवमान की माया अतीव दुस्तर है उससे पार पाना बचारे ज्ञान मार्ग के बूते की बाग नहीं। कहते हैं कि पहले तो ज्ञान मार्ग का बर्नन ही बड़ा कठिन है फिर इसे समझना और भी कठिन। उदाहरण देकर समझाते हैं कि सक्की का बुन खाता है तो कमी-कमी जैसे कोई अस्तर बन जाता है (यद्यपि वह बुन सागर नहीं हाथा) जैसे ही हजारों सागों में से कोई एकाग्र अकस्मात् सफल प्राणी बन सकता है। ज्ञान उतवार की बार है इस पर अपना सहज में सम्भव नहीं।

कहत कठिन समुद्रत कठिन साधन कठिन बियेक।

कोई पुणालर न्याय जो पुनि प्रसूह अनेक ॥१८६॥

ज्ञानक पंच हृषाणकै घटा। परत सगेस न तार्य बारा। १। चौपाई

मुससीदास का तो मन है कि जिस प्रकार मिट्टी के (बरतन के) बिना पानी नहीं रह सकता उसी प्रकार भक्ति के बिना ज्ञान नहीं रह सकता। कारण स्पष्ट है कि यदि कोई मानी निर्बिघ्न ज्ञान-शीप प्रकाशित कर भी ल तो क्या पाएगा? कैबस्य मुक्ति? यह कैबस्य मुक्ति यद्यपि वेद शास्त्रों और ज्ञानियों के मतानुसार परमोच्च-पर है

श्री निर्बिघ्न पंच निर्बहई। तो कैबस्य परम पर लहई। २।

अति दुर्लभ कैबस्यपरमपर। संत पुराण निगम भाषय बर। ३।

परन्तु भक्त का गंतव्य इसमें बहूत ज्ञान है।^३ उसकी भक्ति में अपनी स्वाभाविक

१ साक्षात्कार के इस प्रकार हैं—दाहिनी आँख का देवता सूर्य बाईं आँख का चन्द्र अथवा वा वायु आदि।

२ विषय-वासना के प्रवेश-द्वार वे इन्द्रियाँ ही हैं। एका आँखें सौन्दर्य-रूप की विषय हैं—और वही मनुष्य भ्रोकण्डा का अन्त होता है।

३ कैबस्य परम की परम लक्ष्य होगा है। भक्त इसमें जाने की इच्छा रखता है। वह निर्बहारी ज्योति में सीन होना अपना ध्येय बनाना है और किसी मनुष्य की हृदय में इसमें द्वार में ज्योति-दान पाकर सद्भावस्था का अधिकारी होगा है। गुरु गानक का पवन लक्ष्य भक्त का लक्ष्य लक्ष्य कहा जा सकता है।

शक्ति है कि बिना इच्छा किए ही ज्ञानानु को मुक्ति का अधिकार मिलना है।^१ किसी सद्गुरु का मार्ग प्रशस्तन बीज पर प्रभु-रूपा का उज्ज्वल कारण बनता है, और सम्पूर्ण विषय-आत्मार्थ स्वयमेव गल हो जाती है। सदा सम्मुख पड़ा दिव्यता है—शक्ति का अपना प्रकाश ज्ञान-दीपक की तरह बुझने योग्य नहीं वह तो चिर-प्रदीप्त चिन्तामणि के समान निरय-वेणीप्यमान है। इसके बसाने के लिए ज्ञान-ज्योति की तरह दिया घुल या बसी किसी बस्तु की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इस सम्प्रदाय के सम्मुख मोह-रूपी दरिद्रता का क्या ठिकाना ! सोमादि पवन भी इसकी बुझाने में असमर्थ है।

राम भक्ति चिन्तामणि सुन्दर। बसे गरुड़ जाके पर अस्तर।

परम प्रकाशरूप दिन राती। नहीं कुछ बहिय बिना पूत जाती।

मौह बरिछ निरुद्ध महि जाबा। सोम बात महि ताहि बुझाबा।

स्पष्ट ही ऐसे चिर-ज्योतिष्ठ प्रकाश में अज्ञानान्धकार को कोई स्थान नहीं। अतः तुमसी मतानुसार ज्ञान की अपेक्षा भक्ति-यत्न उच्च ठहरता है।

पीछे यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कर्ममार्ग वास्तव में भक्तियोग का ही एक अंग है। कर्मयोग के मुख्य स्वस्व 'कर्म रहस्य को पहचानना 'कर्म-विद्यान्त का अन्त 'प्रभुदिनार्थ कर्म प्रवृत्ति और 'कर्म में अनासक्ति' से सब उल्लेख भक्ति के ही अंग हैं। योगाभ्यासी का त्याग कर्मपथ से हुए जाने में है परन्तु भक्त का त्याग अपने प्रभु की इच्छा में सूत्रधार के हाथ में कठपुतली की तरह कर्मरत रहने में है। यही त्याग कर्म का नहीं कर्मफल का किया जाता है। पुनः कर्मयोग हो या भक्ति योग दोनों की मुख्य बुरी है भगवान के प्रति उल्लेख प्रेम। प्रेमोन्मत्त ज्ञानानु 'हुकम बिना न झूसे पाता' का हृदय समर्पक बन आरम-निबन्धन करता है आरमत्याप भी और कर्म-समर्पण भी—अतः भक्ति और कर्म तो इतना अधिक परस्पर आश्रित हो गए हैं कि एक की अनुपस्थिति में दूसरा अधूरा दिखता है। ज्ञान का त्याग तो कर्मयोग में पहले से ही स्वीकार कर लिया गया है। अस्तु परिचाम यह निकलता है कि ज्ञान भक्ति और कर्म दोनों अपने में अकेले तक तक अपूर्ण हैं जब तक कि दूसरे का आश्रय नहीं मिल जाता। यह बात पूबक है कि आश्रय सेते समय 'विशिष्ट अंग' के नामकरण में कुछ मौनिकता आजाय।

गुरु नामक का विचार—गुरु नामक पद (संतगत) जिसमें नाम-भाव हुकम स्वीकृति औरत-मुक्त हो परदेरदार तथा आरम-अपार्ण द्वारा निरंकारी-ज्योति में विनीतता का परम-राज्य मुख्य विषय है निश्चय ही भक्तिमार्ग का उच्च आदर्श अपनाए हुए कहा जा सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गुरु नामक ज्ञानमार्ग

या कर्ममार्ग के विरोधी है। वे तो समन्वयात्मक-प्रवृत्ति के महानात्मा के माया के कर्णों में पड़े भोले जीवों को मुक्ति का मार्ग दिखाने भाए थे। अतः स्वाभाविक ही था कि वे किसी ऐसे मार्ग का निर्देशन करते जिसे जन-साधारण सुममता-पूर्वक समझ कर पावते तथा सहज-उपसन्न करत। वही कारण है कि आध्यात्मिकता के मुक्तिपथ पर चलने के लिए वैराग्य और योग-साधना जो ज्ञानिया का मुख्य विषय है उन्हें ही गुरु की महत्ता-स्वीकृति में ही पूर्ण कर लिया। बर-बार धीरे दुनियावी आकर्षणों को छोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ी। गुरु नामक का मुख्यतः गुरु-सांकेतिक पथ पर चलने मात्र से ही निर्यत बुद्धि का अधिकारी हो जाता है वह जानी बन जाता है—क्योंकि गुरु सहीकी विभूति की अपार कृपा से उसके सम्मुख रहस्योद्घाटन ही नहीं होता प्रत्युत गुरु दयावत् उनके सम्मुख अहं और पूर्व-संस्कारों का अन्त कर देता है जिससे वह कुछ मग हो माय में चित्त सपाठा है और वही इतनी तीव्र भक्ति का उदय होता है कि नाम अपने बाधा स्वयं उसके समवर्ती 'नामी' में ही लीन हो जाता है। गुरु नामक दृष्टिकोण में वही 'जीवन मुक्ति' है। इसकी प्राप्ति गुरुमुख में कर्मयोग के आदर्शों का बीजारोपण करती है। वह अज्ञानपन गँवाने के बाद दुनिया का प्रत्येक काम हुकूम की परिधी में करने लगता है। वह प्राणी-मात्र का सेवक बन जाता है। योगी की भाँति कैवल्य तक पहुँच संसार से निवृत्त नहीं हो बैठता। स्पष्ट है कि गुरु नामक ने गुरुमुख के सदर्थों में भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनों की ब्रह्म-मात्रा का समन्वय प्रस्तुत किया है जिसमें प्रमुखता भक्ति की है। अतः गुरु नामक पथ को निष्काम प्रवृत्तिमय-ज्ञानपूर्व-भक्तिमार्ग कहा जाय तो अनुचित न होगा।

अन्य साधन अन्तर्भूत होना

भारतीय-मन्त्र-महाराष्ट्राधी ने मनाभावों के बाह्य पैसाब का नियंत्रित कर अन्तर्भूत होने की प्रवृत्ति लक्ष्य की है। गुरु नामक जो इन विचार-दोष में अपवाद नहीं है। प्रस्तुत मित्रास्त्रानुसार स्वीकार किया जाता है कि साक्षात् ब्रह्म की धर्म-धारणा-बाहरी कार्य-व्यापार में तस्मीन मन्त्रियों के आकर्षण से पूर्व अपने को शरीर के समकक्ष समझने लगी है। परिणाम यह होता है कि मन्त्र संगार उनके लिए दुःखमय बन जाता है। शरीर-भारण करने से परम ज्ञान अपने असाध्य-मन्त्र में पड़ित हो शरीर के दुर्गो-भुगों जीव-ज्ञान के साथ अपना मूल गुरु या योग-ज्ञान अन्तर्भूत करने लगता है—वास्तव में दुःख का कारण यह लोटी अनुभूति ही है। तभी तो कबीर साहिब ने किया था—

तब बर बुधिया कोई न देखा, जो देवा तो बुधिया हो।

'यदि तब-वारण कर उनके चलाने बाने बनते धोर अन्तर में 'नाम' के साथ जुड़ जाते तो भक्ति होनी नहीं शरीर हरि-मन्त्र बन जाता। चरन्तु उतरी हातु बन रई

है। हम इन्द्रियों के भोगों-रसों में सिपटे हैं, बिगम-बिसमामियत का रूप बने बैठे हैं। अपने आप को मूल बुके हैं प्रभु को मूल बुके हैं इसी लिए हम दुखी हैं।^१ उक्त दुःख से मुक्ति पाने का मार्ग है अस्तमूर्खी होना। चित्त की वृत्तियाँ हमने बाहर फँसा रखी हैं। नीतिक-उपकरणों के पुटाने और उनके आत्म-साध करने की क्रिया में हम व्यस्त हैं। अस्तु यदि उन ऐन्द्रिक-आकर्षणों से मन को हटाकर हम अपनी भीतरी शक्तियों की ओर प्रवृत्त करें, अपनी तन्मयता का पहचान और बाह्य-कार्य बन्ध का त्याग कर भीतरी आत्मा के केन्द्र पर ध्यान जमाएँ तो लक्ष्य सिद्धि की निकटता प्राप्त हो सकती है। हर समय लौकिक बातें सोचने अपने काम-कार्यों से पूरन वृद्धि की अपेक्षा मन-मस्तिष्क में उत्पन्न (परम) चेतना का अंश—आत्मा को प्रतिमा प्रतिष्ठित कर अस्तमूर्खी होने से परम-सुख का उपकरण को अलौकिक-दृष्टिकोण मिलेगा वह अपेक्षित साधना (अस्तमूर्खी होना) का प्रथम पुरस्कार होना। मन संयत हो जाने से चित्त-वृत्ति विरोध से बाधना की वैसे बन जाएगी और हरि भजन में सीतता का संयोग सम्भव होगा। अस्तमूर्खी होने के अभ्यास में आत्म-उत्थ का बोध हो सकेगा—या परम-तत्त्व से मिलने के लिए एक मात्र माध्यम कहा जा सकता है।

मुख्य-सक्य मन की वृत्तियों को आत्मा के स्वरूप पर केन्द्रित करना है। यह वा सर्वमाग्य ही है कि शक्ति से फँसाव की अपेक्षा उसका केन्द्रीयकरण अधिक महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए सूर्य को सीजिए। उसकी कोटि-कोटि किरणें बहुदिग फँसी हैं। उनमें काफ़ी ताप है परन्तु कोई उनसे जलता नहीं क्योंकि उसका ताप फँसा हुआ है। अब यदि इनी किरण-ताप को आतमी सीत द्वारा किसी स्थान पर केन्द्रित किया जाए, तो निश्चय ही कुछ समय बाद वह स्थान जल उठता है। ठीक इसी प्रकार मानवार्थ का ताप मनामाओं तथा ऐन्द्रिक-आकर्षणों की आरंभ कर वन्हीं के फँसाव में फँस रहा है। इसी फँसाव में आत्मा का सच्चा रूप समय-समय मल्ट प्राप्त हो गया है। इसे केन्द्रित करने की आवश्यकता है सक्रमता मिलने पर अपने आप आत्मोपमन्थि हो सकेगी और वह परम ज्योति जो मनुष्य के अन्तर छिदैव प्रतीय है स्वप्रकट हो जायगी। यह जानक भी उक्त ज्योति तक पहुँचना तथा आत्म-ज्ञान के परचात परम में विलीन होने को अपना महब मानते हैं। इसी लिए उनका दृष्टि कोत्र अस्तमूर्खी होने को लक्ष्योपमन्थि का मानन स्वीकार करता है और इसके लिए उन्होंने नाम-स्मरण का सहज रूप अपनाने का आदेश दिया है। यह जानक मतानुसार नाम-स्मरण द्वारा ही मनुष्य चित्त-वृत्तियों को आत्मरूप पर केन्द्रित कर सकता है।^२

१ सद्-सन्देश देवकी नवम्बर १९५६ पृ० २०।

२ इसके आगे का स्वरूप पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है।

श्रुति-मार्ग तथा ज्योति-मार्ग

भारतीय परम्परा के अनुसार अन्तर्मुखी होने की दो मुख्य विधियाँ हैं—श्रुति-मार्ग और ज्योति-मार्ग। धर्म-ग्रन्थों के अर्थ उनमें विश्वास एवं उनके आदेशानुसार चित्त-वृत्ति निरोध द्वारा अन्तर्मुखी होने की साधना का श्रुति-मार्ग कहते हैं। यह गुरु-विहीन बौद्धिक सम्बल का मार्ग है। साधारण-मनुष्य के लिए इसके किसी भी स्तर तक पहुँच कर फिस्स जाना सम्भव हो सकता है। तर्क-शक्ति अथवा किसी प्रकार का विपरीत अनुभव उसके धार्मिक विश्वास का विना सजता है। गुरु के अभाव में प्रस्तुत मार्ग की एक बड़ी बाधा यह है कि बोझी सी गहनता भी मानव को उस समय के मारक-अव्यय में डालकर पथ भ्रष्ट कर सकती है। मार्ग से भटक सकती है।

गुरु के बचनानुसार नाम-जाप करते हुए अन्तर में चिर-ज्योतिरत बौद्ध पर ध्यान जमाना उसके चिरंतन-सत्य को समझन का सर्वप्रयास करना और अन्ततः उसे साक्षात् करना आदि ज्योति-मार्ग द्वारा अन्तर्मुखी होना और आत्म-बोध की साधना कहलाता है। अधिकारी सत्य-महात्माओं ने इसी पथ को श्रेष्ठ माना है। प्रस्तुत-पथ का राही सीमा ही अन्तर के पथार्थ रूप को समझ उस परम-ज्योति में विनीत होने के उच्चतम लक्ष्य को पा जाता है। गुरु नामक ने इस प्रकार अन्तर्मुखी होने का सीधा उद्देश्य नहीं किया परन्तु फिर भी उनकी सम्पूर्ण वाणी नाम-जाप द्वारा आन्तरिक ज्योति प्रकट करने और परम में विनीत हो जाने का चिरन्तन संकेत दे रही है। अतः गुरु नामक का भी यदि ज्योति-मार्ग का माध्यम आन्तरिक-सत्ता को पहचानने का इच्छक परम पथ माना जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी।

सार यह कि मनुष्य का परम-लक्ष्य है ज्ञान-रूप। उसकी प्राप्ति का साधन को भी यथोक्त न हो सब बराबर है। बही श्रेष्ठतम होगा जो लक्ष्य तक पहुँचा देगा। अतः साधन व्यक्तिगत भी है और लक्ष्य परम-गत। जिस महात्मा ने जिस साधन द्वारा पाया—बह ज्ञान-पथ हा या मक्ति-योग कर्म-सिद्धान्त हा या श्रुति-ज्योति-मार्ग—वही उसके लिए श्रेष्ठ हो गया। उतने उसी का गुण गाया। यही कारण है कि हजार सम्पूर्ण प्रत्येक साधन के मुक्त-बोध मौजूद हैं—परन्तु कोई कारण नहीं कि हम आम पान की अपेक्षा कुछ दिनने में अधिक रुचि दिखाएँ। अस्तु, प्रस्तुत एवं हमक पृथक क अध्याय में यद्यपि हमने प्रभु-प्राप्ति के अनेक प्रकार के परम्परित साधनों का वर्णन किया है तथापि गुरु नामक ने साधन और लक्ष्य दोनों अलग अलग उल्लेख और प्राप्ति है। अतः 'नाम-जाप' और 'हृदय-रक्षा' जमाने में परम विनीतता का जो अत्यावश्यक सिद्धान्त गुरु नामक ने प्रस्तुत किया वह निश्चय ही अत्य महान-साधनों की तरह मनुष्य का

है। हम इन्द्रियों के भोगों-रसों में लिपटे हैं, अविम-विसमानियत का रूप बने बैठे हैं अपने आप को भूल चुके हैं प्रभु को भूल चुके हैं इसी लिए हम दुखी हैं।^१ उ दुःख से मुक्ति पाने का मार्ग है अन्तर्मुखी होना। चित्त की वृत्तियाँ हमने बाहर फँस रानी हैं। भौतिक-उपकरणों के जुटाने और उनसे आनन्द-साम करने की क्रिया में ह व्यस्त हैं। मस्तु यदि उन ऐश्वर्य-आकर्षणों से मन को हटाकर हम अपनी-भौतिक-वृत्तियों की मार प्रहृत करें, अपनी लम्पटा को पहचानें और बाह्य-काय-रूप स्थापन कर भीतरी आत्मा के केन्द्र पर ध्यान जमाएँ तो लक्ष्य सिद्धि की निकट प्राप्य हो सकती है। हर समय मौकिक बातें सोचने अपने काम-हानियों से घुसने कुड़ने की अपेक्षा मन-मन्दिर में सत्य (परम चेतना का अंश—आत्मा) की प्रतिम प्रतिष्ठित कर अन्तर्ध्यान होने से परम-भुक्त का उपकरण को अमीशिक-दृष्टिको मिलेगा वह अपेक्षित साधना (अन्तर्मुखी होना) का प्रथम पुरस्कार होगा। मन संय हो जाने से चित्त-वृत्ति निराप से बासना की मूल बर जाएगी और हरि मजन सीतता का मयाग लम्बन होगा। अन्तर्मुखी होने के अभाव में आत्म-लक्ष्य ब बोन हो सकेगा—जो परम-लक्ष्य से मिसने के लिए एक माप माध्यम कहा सकता है।

मुख्य-लक्ष्य मन की वृत्तियों को आत्मा के स्वरूप पर केन्द्रित करना है यह ता सर्वमाय ही है कि शक्ति के फँसाव की अपेक्षा उसका केन्द्रीयकरण अधिक महत्वपूर्ण है। उशाहरण के लिए सूर्य को मीशिए। उसकी कोटि-कोटि किरण बतुदिक फैली हैं। उसमें काशी ताप है परन्तु कोई उनसे बलता नहीं क्योंकि उसका ताप फँसा हुआ है। अब यदि इसी किरण-ताप को बाठली-मौन द्वारा ठिठी स्पष्ट पर केन्द्रित किया जाए, तो निरवय ही कुछ समय बाद वह स्पष्ट बन उठता है। ठीक इसी प्रकार मानव-आत्मा का ताप मनोमाको लबा ऐश्वर्य-आकर्षण की ओर निच का उन्हीं के फँसाव में फँस रहा है। इसी फँसाव में आत्मा का सच्चा रूप समयम मष्ट प्राप्य हो गया है। इसे केन्द्रित करने की आवश्यकता है। सकलता मिसने पर अपने आप आत्मोपनिधि हो सकेगी और वह परम ज्योति जो मनुष्य के अन्तर सदैव प्रदीप है स्वप्रकट हो जायगी। गुह मानक भी उक्त ज्योति लक्ष पहुँचना तथा आत्म-आत् के परबाध परम में विमोच होने को अपना मध्य मानते हैं। इसी लिए उनका दृष्टिको अन्तर्मुखी होने को सद्योपनिधि का साधन स्वीकार करता है। और इसके लिए उन्होंने नाम-नमरण का सहज ढंग अपनाते का आदेश दिया है। गुह मानक मठानुसार नाम-नमरण द्वारा ही मनुष्य चित्त-वृत्तियों को आत्मरूप पर केन्द्रित कर सकता है।^२

१ सत्-संगेन वैहती लक्ष्म्यर, १६३६ पृ० २०।

२ इसके आगे का स्वरूप विद्यते पृष्ठों में लिखा जा चुका है।

भुक्ति-मार्ग तथा ज्योति-मार्ग

भारतीय परम्परा के अनुसार अन्तर्मुखी होने की दो मुख्य विधियाँ हैं—भुक्ति मार्ग और ज्योति-मार्ग। धर्म-ग्रन्थों के अन्तर्गत जर्मों विश्वास एवं उनके आवेगानुसार भक्ति-वृत्ति निरोध द्वारा अन्तर्मुखी होने की साधना को भुक्ति-मार्ग कहते हैं। यह गुण-विहीन बौद्धिक सम्बल का मार्ग है। साधारण-मनुष्य के लिए इसके किसी भी स्तर तक पहुँच कर फ़िसल जाना सम्भव हो सकता है। तक-वृत्ति अथवा किसी प्रकार का विपरीत अनुभव उसके धार्मिक विश्वास को बिगाड़ सकता है। गुरु के अभाव में प्रस्तुत मार्ग की एक बड़ी बाधा यह है कि बोझी सी महमता भी मानव को उन्नतता के घोर-अन्धे में डालकर एक भ्रष्ट कर सकती है। मार्ग से भटक सकती है।

गुरु के बचनानुसार नाम-आप करते हुए अन्तर में चिर-ज्योतिष दीप्ति पर ध्यान ब्रामाणा उसके चिरंतन-सत्त्व को समझने का सर्वप्रवास करना और अन्ततः उसे साक्षात् करना यदि ज्योति-मार्ग द्वारा अन्तर्मुखी होना और आत्म-बोध की साधना कहा जाता है। अधिकारी सन्त-महाराजों में इसी पथ को श्रेष्ठ माना है। प्रस्तुत-पथ का राही भीष्म ही अन्तर के यथार्थ रूप को समझ उस परम-ज्योति में विसीम होने के उच्चतम लक्ष्य का पता बताता है। गुरु नानक ने इस प्रकार अन्तर्मुखी होने का सीधा उपदेश कहीं नहीं दिया परन्तु फिर भी उनकी सम्पूर्ण धार्मिक नाम-आप द्वारा आन्तरिक ज्योति प्रकट करने और परम में विलीन हो जाने का चिरन्तन संकेत दे रही है। अतः गुरु नानक को भी यदि ज्योति-मार्ग के अन्तर्गत आन्तरिक-वृत्ता को पहचानने के दृष्टिकोण परम अंत माना जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी।

छार यह कि मनुष्य का परम-लक्ष्य है ब्रह्मचर्य। उसकी प्राप्ति का साधन कोई भी नहीं न हो सब ब्रह्मचर्य है। वही श्रेष्ठतम होना जो लक्ष्य तक पहुँचा देना। अतः साधन व्यक्तित्व ही है और लक्ष्य परम-मत्। जिस महाराज ने जिस साधन द्वारा पाया—वह ज्ञान-पथ हो या भक्ति-मार्ग धर्म-सिद्धांत हो या भुक्ति-ज्योति-मार्ग—वही उसके लिए श्रेष्ठ हो गया। उसने उसी का गुण गाया। यही कारण है कि हमारे सम्पूर्ण प्रत्येक साधन के गुण-बोध मौजूद हैं—परन्तु कोई कारण नहीं कि हम ज्ञान-साधन की अपेक्षा इस गिनने में अधिक रुचि दिखाएँ। अस्तु प्रस्तुत एवं इसके पूर्व के अध्यायों में वद्यपि हमने अनु-प्राप्ति के अनेक प्रकार के परम्परागत साधनों का वर्णन किया है तथापि गुरु नानक के साधन और लक्ष्य दोनों अपनी जगह उच्च और श्रेष्ठ हैं। कबल 'नाम-आप और हुकम-रजाई' चलने से परम-विसीमता का जो अस्वाभाविक सिद्धांत गुरु नानक ने प्रस्तुत किया वह निश्चय ही अन्य महान-साधनों की तरह अनुपम का।

उपसहार

गृह्य विवरि प्रेम सं बोरें बोलप्यहा ।
 लभु ब्रह्म संयुक्तु पीरै, जई त एहा बाव ।
 गुरु पितीरै छननु पादापीए बहु भावक मोख बुभाव ।
 (२ ८ माह जटपरी)

गुरु नामक एक समन्वयवादी विचारक

पिछले पाठों में हम गुरु नामक-शास्त्र के दार्शनिक-उत्सवों पर बिलकुद हृष्टिपाठ कर आए हैं। वहाँ स्पान-स्पान पर हमने अनुभव किया है कि गुरु नामक अपने समकालीन एक पूरवर्ती विचारकों के हृष्टिदोषों से प्रभावित तो हैं परन्तु निजी अपूर्वता उग्होंने कमी नहीं छोड़ी। उनकी वाणी जनता के लिए बतारनी भी थी और प्रस्था भी थी। वे सच्चे लोक मायक थे। जब भारतीय-समाज माना सम्प्रदायों बनों और जाति-उपजातियों में बट चुड़ा था सततत बग भक्त पर जनबिकार अस्थाचार कर रहा था जनेक प्रकार की विचार-आपत्तों और जीवन श्रमियाँ पनप रही थीं भिन्न सिद्धान्तों पर गम्भीर विचारों का बाजार गर्म था हिन्दू जनता के सम्मुख धार्मिक और धार्मिक समस्याओं के अनिश्चित राजनैतिक स्थिति का प्रायः ज्यादा बातकपारी या धर्म के नाम पर परस्पर ईर्ष्या बंद और संपर्क मजग हो रहे थे—तब किसो ऐसे महापुरुष की आवश्यक्ता थी जो समाज की उक्त बिगुलपता क माना विचारों का समन्वयवादी योग-सूत्र में बाँध सता। गुरु नामक उस आवश्यक्ता की पुत्रि थे।

उनके सम्मुख बेशों उपनिषदों और पुराणों की प्रबलित गाथाएँ भी मपरगीता का समर्पित (निष्काम) कर्म या संकराचार्य का ब्रह्मवाद या रामानुज द्वारा प्रस्तुत मृष्टि का अस्तित्व मिडान्त या बन्धन की माधुप भक्ति और बबीर की दाम्पभावना थी योधियों-ताम्रियों के बाहम्बर भी थे और ये महात्माओं के मन्त्रे बाध्यार्थिक अनुभव। वे स्वयं उध कोटि के अनुमती महापुरुष य पूर-पर कर हुनियाँ की आपार-मदनियाँ देवने के अनिश्चित उग्होंने भीतरी-बपत की बिभूतियाँ या भी थी और उम ब्रह्म ज्योति के स्तुतिग बन चुक थे त्रिमयी गोप का उद्रेग उग्होंने प्रपेक प्राची को दिया है। अब उनके सम्मुख समस्या थी सत्कामीन जनता के नाम गदेग को रूप देने की। प्रश्न था कि प्रबलित रूप ज्यों का त्यों अगता मिया जाय उमके परिवर्तन में क्या बदल उठाया जाय या पुराने को ही नप मिडाम में पैग दिया जाय ? यह मानक के पूर पूर कर मोट-माड़ी को पहचाना था। वे समझते थे कि पुनों में क्या अगता प्रबलित ब्रह्मवादी हृष्टिदोष मामाग्य जनता की विचार शक्ति में बाहर की बन्नु है। यों भी प्रस्तुत हृष्टिदोष को बनी सर्व-मापारण के लिए हाया

ही न गया था—केवल शास्त्रीय-रूप का पाण्डित्यपूर्ण चित्रण किया जाता था जिसे जन-साधारण समझ न पाते थे और समाज के तरकामीन पठित स्तर के पण्डित-विद्वान अपने बुधित स्वार्थों से बिदे, उससे निरखर साम उठाते रहते थे। जनता उस पाण्डित्य से पीड़ित थी और ब्रह्मबाह उसके लिए गोरख-बन्धा बन गया था। बल्कि यों कहना चाहिए कि प्रताड़ित जनता बीरे-बीरे ज्ञान के उक्त स्वरूप से घृणा करने लगी थी और मुफ्त ब्रह्मबाह के नाम से चिढ़ती थी। यही कारण था कि गुरु मानक ने अपने सन्देश को ऐसे भद्राह्य छिपे में ढासना अनुचित समझा। दूसरी ओर किसी परिपाटी को पूर्णतः हटा कर एकदम नवीन प्रवाह प्रस्तुत करना भी अवरोध से ज्ञासी न था। मुझे से बिस बिचारबारा ही छाप जनता के अन्तर्मन पर लग चुकी थी उसे अस्वभाव्य मिटा सकना सुगम न था। जनता को ब्रह्मबाह की शुष्कता से घृणा अवश्य थी परन्तु मोग मानने लगे थे कि इसके प्रतिरिक्त कोई अन्य पद्धति है ही नहीं। उक्त शुष्कता को दूर करने का एक मधुर प्रयत्न बल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग द्वारा पहले भी हो चुका था। इससे जनता को कुछ प्रविलत संतुष्टि भी मिली थी। अतः गुरु मानक ने इस प्रवाह को रोक कर नया मोड़ देने की अपेक्षा मध्यम-मार्ग का अनुसरण करना ही अधिक उचित समझा। पूर्व दृष्टिकोणों के छिपे में ही उन्होंने अपनी सुधारक-प्रजासी और ब्रह्म तथा विश्व सम्बन्धी नूतन विचारों को ढकाया। ऐसा करने का सबसे बड़ा साम यह हुआ कि नवीन-विचारों की कटुता भी प्राचीन छिपे की मिठास में सिपटी रहने से जनता के मन सुगमता से उतर सगी। यह गुरु मानक का एक महान प्रयोग था। बयमगाती जनता ने सम्बन्ध को अपनी ओर बढ़ते देखा तो धर्म ही स्वयं दामन बाम लिया।

अतः गुरु मानक ने जो मार्ग अपनाया उस पर अनेक पूर्वजामी-दृष्टिकोणों का प्रभाव था तथापि उसका अपनात्म परिस्थितियों और नवीन विचारबारा से परामुक्त था। यह गंतव्य भी ब्रह्मवादी ही था परन्तु मार्ग सहज का था। ज्ञान भक्ति और धर्म तीनों का समन्वय किया गया था तथा ब्रह्म के अर्हंतवादी रूप के पीछे लक्ष्य बिभ्रह होने की अपेक्षा गुरु के आशय परम-सत्य की जालकारी प्राप्त कर अद्यपद होने का सन्देश गुरु मानक ने दिया था। माया गुरु मानक के लिए शक्ति की भाँति केवल भ्रम नहीं वह यथार्थ है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या के अनुकूप विश्व-रचना अज्ञान का बोध न मानकर गुरु मानक उसे प्रभु की कर्तृ-शक्ति की मनारंजक और आदर्शक निमित्त स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि गुरु-सिख ब्रह्मवादी की तरह मायावी रचनाओं का त्याग कर इधर-उधर भ्रम ही ठिपाता नहीं फिरता बल्कि प्रभु के हुक्म से अस्तित्व में आने वाली इस विरल प्रकृति का मोक्षार्थ पात्र करता हुआ अपने ईश्वर का गुणमान करता है जिसने ऐसा सम्बन्ध-निर्माण प्रस्तुत किया। पुनः गुरु मानक प्रकृति का आनन्द सेते हुए भी प्रकृति न निष्ठ होने का आदेश नहीं देते बल्कि तो पणार्थ है आध्यात्मिक सत्य की खोज करने वाला इसमें सँसने को क्योंकर कहना ?

इसकी समुपमता से तो ईश्वरीय-अद्वितीयता के कण-मात्र का अनुमान होता है। यस्तु, गुरु नानक का महान सामयिक-सन्देश न अर्द्धतथावी ठहरता है ना ही प्रकृतिवादी। यही अर्द्धत और प्रकृतिवाद का समन्वय व्यावहारिक रूप में किया गया है। कारण है जनता की उत्कामीन माँग। सामाय-जनता विश्व की प्रत्येक वस्तु को वैकली उससे हानि-नाम उठाती और अपने अनेक खोज पूर्व अनुभवों से पदार्थ की सत्य-सृष्टि का उत्पन्न समझ रही थी। ऐसे में इस सम्पूर्ण प्रसार को रहस्यारमक रूप में सरगोस के पीग और निपुनी का पून कहा जाता तो जन-साधारण बच्कर में जा जाते। उनके ऐनिक-अनुभवों और उन्हें बताए जाने वाले सिद्धान्तों में आकाश-मानास का अन्तर बीच पड़ता—ये क्या मानें और क्या न मानें ? बूसरी और पदार्थवादी ने जो बुनिया के अस्तित्व के पीछे किसी परम-वस्तु का हाथ मारने की बरोसा केवल वैज्ञानिक-प्रविधि से उसकी व्याख्या करना चाहते थे। परन्तु समय-समय पर बनहोनी होते थे लोक-समाज बबरा उलठा और उसे किसी परामीतिक शक्ति की स्वीकृति अनिवार्य-सी जान पड़ती। ऐसे में गुरु नानक न चिन्तन-विमूढ़ जनता को सम्भव किया। परामीतिक और भौतिक दोनों की उत्पत्ता स्वीकार की परामीतिक को अतन्त्र और भौतिक को पय बनाया। उनके लिए भौतिक परामीतिक की रचना है, इसलिये कोई रहस्या भ्रम न होकर निर्माता की तरह ही सत्य है। हाँ प्राणी का मुख्य रचना नहीं रचयिता है और उस तक पहुँचने के लिए कला वा स्वल्प-सौम्य कलाकार के प्रति आर्त्यभ को उद्दीप्त करता है। इसी दृष्टिकोण के अन्तर गुरु-सिख विश्व की किसी वस्तु से जुड़ा नहीं करता वह लोच प्रमी हो जाता है और महति के कण-कण में पुरुष को विद्यमान देखता है। प्रस्तुत समन्वयवादी विचारभारा गुरु नानक की महत्त्वपूर्ण देन है जो उत्कामीन जनता के लिए 'बूढ़े का सहाय' बन गई।

धीमद्गुणवर्णीता हिन्दू-धर्म का प्रतिष्ठित और मान्यता-प्राप्त धर्म-संघ है। गुरु नानक के उदय काम में जनता में सुदृढ़ भर पण्डितों के अतिरिक्त, संस्कृत का प्रचार न के समान था। लोच पीना के अनुपम-सन्देश को सभी प्रकार समझ न पाते थे। पण्डित-जन शकों की ध्यात्या में निजी-स्वार्थ को अधिक महत्त्व देते थे। परिणाम यह था कि पीना में मुममाई गई निष्काम और सवाम कर्म तथा जीवन के निवृत्ति और प्रवृत्तिमय धर्मों की समस्याएँ जन-साधारण के लिये यों ही गहन और चिन्तित बनी थी। उन्हें समझाए रखने में ही पण्डितों का धर्म-साधन था। मकाम क्या वा अन्न क्या सभी सम्भव है ? निष्काम का सम्बन्ध निवृत्ति से है या प्रवृत्ति से ? यदि प्रवृत्ति है तो निष्काम क्योंकर हुआ ? और यदि निवृत्ति है तो धर्म का अस्तित्व कैसे सम्भव है ? आदि प्रश्न जन-साधारण के स्थायी प्रश्न-विषय बने हुए थे। कोई महत्त्व धर्म से जाने में इन शक-निदानों को समझाने के लिए लानी न था। उत्कामीन जनता को प्रस्तुत आध्यात्मिकता पूर्व गुरु नानक ने की। टीक है कि धर्म सर्वत्र सवाम ही

होया परन्तु उसका निष्काम-स्वरूप है स्वार्थ-रत्याग और समर्पण में । प्रायिक कर्म की अन्तर्निहित-कामना कबल इतनी ही होनी चाहिए कि वह प्रभु के समर्पण-हेतु है । ऐसा करने से जीवन में प्रकृत प्राणी भी आस्थीय दृष्टिकोण से निवृत्त कहसाएगा । उसकी निवृत्ति प्रकृति के आवय वलपेयी और उसका निष्काम कर्म सकाम-भावना से विप्या । श्रीमद्भक्तगीता के इस मूलश्लो-सार को गुरु नामक ने सरलतम-रंग से जनता के सम्मुख रखा । गुरु के आध्यम बहई का अन्त कटा नाम में चित्त लगाओ और हुकम में अहिम विरवास बनाकर जीवन-राज्य लीजते रहो) यही वा दुःखी-जनता के नाम गुरु नामक का उपदेश । इसमें जीवन-सकट लीजना प्रकृति है तो हुकमानुसार करना निवृत्ति गुरु के आध्यम हठमै वा अन्त निष्काम-कर्म का बीजापोषण है तो नाम में चित्त रमाने से प्रभु-विनीतता की इच्छा सकाम-भावना । पाश्चात्ती-पण्डितों के बनावटी बटाटोप में ठोकरें खाता जन-मानस लीज ही इस ज्ञान-ज्योति के अपूर्व प्रकाश से परिचित हो गया और गुरु नामक विचार-वाण के महत्व को पहचानने लगा ।

युगों पूर्व से जसे जाते भक्ति और ज्ञान में प्रतिष्ठा के झगड़े को भी गुरु नामक दृष्टिकोण में समाधान मिला । उनका विरवास वा कि ज्ञान और भक्ति दोनों एक दूसरे के यवेर अपूर्व हैं । आध्यात्म-पथ की पुनर्ता दोनों के साथ-साथ चलने में है । मनो-बैज्ञानिक-कोण से देखा जाए तो ज्ञान मस्तिष्क की तथा भक्ति (प्र म और भडा) मन की वस्तुएं हैं । और चित्त प्रकार मन-मस्तिष्क के सम्बन्ध के बिना प्राणी अपने में शारीरिक अस्तुत्तन नहीं बनाए रन सकता बीसे ही ज्ञान और भक्ति के एक दूसरे से पुरा होने पर आध्यात्मिक-अस्तुत्तन की कोई सम्भावना नहीं रहनी । इष्ट वा स्वरूप परिचय ज्ञान से तथा उसके प्रति भडा-समर्पण भक्ति से होता है । यही कारण है कि गुरु-नामक सिंठान्त ज्ञान के प्रतीक रूप में गुरु की अपेक्षा करना है और नाम-जाप में भक्ति की पराकाष्ठा देखता है । भक्ति के क्षेत्र न नाम की महत्ता सभी महात्माओं ने स्वीकार की है । निर्गुन का तो कहना ही क्या भक्ति-पथ के नेता स्वयं मुनशीवास में भी 'बहु राम से नाम बड़ कहकर नाम की महिमा का मान किया है । अतः गुरु हया द्वारा परम-सत्य की पहचान (ज्ञान) नाम-स्मरण द्वारा पामी में विनीतता की साधना (भक्ति) दोनों मिलकर ही परम-सहयोगत्मिक की सम्भव बनाते हैं । मायन विहीन जानकारी विनीतता का लक्षण नहीं हो सकती और ना ही बिना वास्तविकता को पहचान उसकी साधना मफत हो पावनी । इमीलित गुरु नामक-मठ में दोनों को समस्तर प्रदान किया गया ।

गुरु गुरु नामक का उदय-काल मुख्यतः दो बड़े धर्मों के संघर्ष का युग था । मुसलमानों के सततन राज्यों को भी एक सूत्र में बाँधने वाली मुयस-अनित भारत में प्रवेश कर चुकी थी । भारत के पुराने हिन्दू-धर्म पर वर्जित अत्याचार बिना गया वा और हो रहा था । धर्मिय और शान्तिवय बंधों से हिन्दुओं की मुसलमान बनाया

जाता था। हिन्दू-धर्म में अनेक पाखण्ड उचित हो चुके थे जिसका उपहास दूसरे धर्म वाले करण थे और उन्हें के माध्यम से अपनी प्रतिष्ठा-स्थापना करना चाहते थे। हिन्दुओं का बड़ ईश्वरनाथ मुसलमानों के एकेश्वरवाद के सम्मुख हतप्रभ हो रहा था। जातीय भेद-भाष से युक्ती हिन्दुओं को मुसलमानों की सम-भाषना कुसा निमग्न कर रही थी। भिन्न देवी-देवताओं के पूजकों का परस्पर बैर-विरोध मुस्लिम-समाज के संन्यत रूप की प्रतिष्ठा स्थापित करने में अतीव सहायक था। ऐसे में एक ऐसे नर मुसलमान की अपेक्षा थी जो दोनों पक्षों को समुष्ट करके हुए नवीन दृष्टिकोण से प्राचीन का सुधार करता। जो हिन्दू-धर्म की धूम-मिट्टी को झाड़-पोंछ कर उसके महत्त्व को पुनर्जीवन दे सकता और गुरु नानक ऐसे ही सुधारक-महापुरुष के रूप में अवतरित हुए। उन्होंने समाज के लौकिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों का भरपूर सुधार कर परिस्थिति अनुकूल एकेश्वरवाद की स्थापना की और जाति-पाति के भेद भाव का विरस्तार भी किया। एसा करने का सबसे बड़ा काम यह हुआ कि मुस्लिम-धर्म की ओर धाकड़ होती हुई हिन्दू-जनता गुरु नानक के सुधारकारी आश्रम में अपने परसे हुए जाक्यक रूप को देख कर रीझ उठी। धर्म की हिलती हुई नींव स्थिर हो गई।

उपरोक्त अनुच्छेदों से स्पष्ट है कि गुरु नानक ने अपनी पूर्व-अज्ञित विचार धारणों का केवल समन्वय ही नहीं किया बल्कि उसमें निजी नवीनता और स्वतन्त्रता को फिर-सजीव बनाए रखा। यदि यह कहा जाए कि उन्होंने गुरुमत के 'नाम-स्मरण' तथा 'हुकम में विश्वास' के जो सिद्धान्त प्रस्तुत किए, वे समय की माँगों के अनुसार आज में पूर्वज-मूल्य से उनमें गुरु नानक का निम्न स्तरकता था और आज भी उनसे सिद्ध होता है कि गुरु नानक कोई साधारण महापुरुष न थे वे तो साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप थे जो ब्रह्म विश्व का सम्बन्ध बनने स्वयं सतलोक से अवतरित हुए थे। जन-साधारण को गुपार्य बनाने के लिए उन्हें अपने को सामयिक-स्तर तक लाना पड़ा बत-उमरी बानी में तन्त्रात्मक दृष्टिकोणों का समन्वयारमक-रूप प्रकट हो जाना स्वाभाविक ही था। आवश्यकतानुसार उन्होंने ने कुपय पर जाने वालों का संरक्षण भी किया उन्हें नही मार्ग भी दिखाया और ज्ञान-बीजक से वास्तविकता के दर्शन भी करा दिए। कुपय-अवग्रहण करते हुए वे अपवित्रता की दुहाई देने वालों से स्पष्ट कहते हैं—

जे करि घृतकु (अपवित्रता) जंनीये, सम तै घृतकु होइ ।
 गोड़े जति लट्ठी जररि कीड़ा होइ, जैसे राये जल ने बीजा बासु न कोई ।
 बहुला पापी बीर है जितु हरिमा समु कोई, घृतकु किउ करि रविरे,
 घृतकु नई रसोई ।

नामक सुतकु एव न उतरै, विमान घौई ।^१

इसी प्रकार उन्नत मार्ग पर चलने वाले वैपश्चाटी नाथों का एक-प्रदर्शन करते हुए फरमाते हैं—

मुखा सतोकु, सरम पनु, सोली विमान की करही विभूति ।
 बिपा कासु कुजारी काइमा, कुपति उडा परतीति ।
 भाई पंथो सगत जमाती मनु जीती जगु जीतु ।
 भादेनु तिते भादेनु । भादि जनीनु भ्नादि मनहृति कुगु कुगु
 एकीबेनु ।^२

और स्वतंत्र-विचारधारा द्वारा यमार्चवा की ओर भी संकेत करते हैं—

सीरख नावग जाउ तीरख नामु है । सीरख सबह बीचार अन्तरि गिमान है ।
 पुब विमान साखा पानु-सीरख हत पुख सबा हताहुरा ।
 हज नामु हरि का सबा जाचउ बेहु प्रम करबी धारा ।
 संसाह रोगी नामु बाक, मनु जानी सख बिना ।
 गुरबाकु गिरमनु सबा जाननु मित साखु तीरख मजना । १ ।
 साखि न नार्य मनु किना मनु बोईये, गुगहि हाव परोह कि कउरोइये ।^३

इस प्रकार पुब नामक-नाथी से स्पष्ट प्रकट है कि वे महानात्मा विश्व की बुझती मीका की भव-सागर से पार लगाने वाली महत्-विभूति थे । अपने दुखी जीवों की पुकार सुन कर स्वयं गठगुरुप को गुरु नामक-रूप में लोक में माना पड़ा था । इसीलिए उन्होंने लोक-प्रचलित भ्रमवादी पद्धतियों के विरुद्ध 'मुक्ति-पथ' का देखा महत् रूप प्रस्तुत किया था जिसकी प्राप्ति में किसी बौद्धिक-कर्त की पुष्टि अपेक्षित न थी केवल श्रद्धा-भाव के धीरे के भवसागर तिरने का प्रथम-आयोजन था । यही गुरु नामक की स्वतंत्र विचारधारा थी । परम भक्त मुर-सिल भाई गुरदास ने अपनी प्रथम बार में गुरु नामक-आपमन का निम्न बिन्दु प्रस्तुत किया है जिसमें स्पष्ट है कि गुरु नामक संसार तक में पित्त अपने धीको के रसार्थ अक्षतरित होने वाले स्वयं परम-गुरुप से और उनकी नाथी बुद्धियों की पथ-प्रदर्शिका ।

“आई दितानि जगत बिब चार चरन भाचरन उषाए ।
 हत नाम संम्यासिया, ओपी बाहू बंध बनाए ।

१ लोको भासा म० १ पृ० ४०२ ।

२ जपुजी पउड़ी २५ पृ० १ ।

३ बनासठी संत म० १ पृ० १८७ ।

जगम करते सरेबड़े, हों^१ दिगम्बर धार कराए ।
 बहुमन बहु परकार कर शासतर बेह पुरान लड़ाए ।
 पद बरधान बहु बेर कर, नास क्षतीस पासगु रलाए ।
 तंत मंत रासाइमा, करामात कालक सपटाए ।
 एकस ते बहु जप कर जप कल्पी धने दिखाए ।
 कलियुग अम्बर भरम मुसाए ।

× × ×

चार बरन चार मजहया^२ जग बिच हिन्दू मुसलमाने ।
 बुबी, बचीनी^३ तबकबरी^४ सिबोतान^५ करने बिमान^६ ।
 मंग बनारस हिन्दूना, मक्का काबा मुसलमाने ।
 मुनत मुसलमान बी, तिसरु जंमू हिन्दू सोमाने ।
 राम रहीम कहाइबे इक नाम बुद राह मुलाने ।
 बेह कलेब धुलाइबे, मोहे कालक हुनी गताने ।
 सज्ज किनारे रहि गया, कहि मरदे बाह्यन मजलाने ।
 तिरों म मिटे माबन जागे ।

× × ×

मुनी पुकार बासार प्रमू बुद नामक जग माहि पठाया ।
 बरन बोई रहिरास^७ कर बरभामुत सिक्ता पीसाया ।
 चार बहुम पुरख बहुम कलियुग अम्बर इक दिखाया ।

प्रस्तुत विचार-धारा धर्म अथवा इशान को अपेक्षा जीवन-धर्या का सुख

गुरु नामक पद की मरमता तथा असंकीर्णता उसे किसी भी परिभाषा में सीमित होने से बचाती है । प्रस्तुत विचार धारा में वही यह प्रमाणित नहीं होता कि गुरु नामक किसी नये धर्म या सम्प्रदाय की स्थापना के इच्छुक थे । सच तो यह है कि गुरु नामक तथा मार्ग जाने वाली आठ अल्प पाठशाहियों ने किसी पृथक् धर्म की नींव नहीं रखी । केवल इनकी पाठशाही की गुरु मोदिन्द्रसिंह ने परिस्थितियों के

- १ अनादिन संप्रदाय ।
- २ हनुमी नाफरि मासकी हुंभसी ।
- ३ बिषा या पन की रूपगठा ।
- ४ अपने आपकी सर्वोच्च समझता ।
- ५ अपनी बान के प्रति हठ ।
- ६ भीनाजोरी ।
- ७ सीबा पाप ।

अनुसार कुछ भूमि में अपनी ही अधिक प्रशंसा देने और परस्पर सहज-सहजान की आवश्यकता अनुभव करते हुए आत्मता-यम की नींव रखी इसे ही अब सिद्ध-यम कहा जाता है। अन्यथा कुछ सेम बहादुर तक इस प्रकार की पूजाता की अपेक्षा ही न की सम्प्रदाय स्थापना का प्रश्न ही नहीं उठता। पुनः कुछ मानक तो समन्वयवादी थे। वे 'हिन्दू या मुसलमान न के वे महात्मा थे जो सब के साथे होते हैं। उन्हें किसी से घृणा न थी वे सब को ब्रह्म की अंश' कहने और सबसे बराबर प्रेम रखते थे। वे तो घृणा की वृत्ति का अर्थ करने आए थे फिर पल विपदा की ओर क्योंकर मुकते? वे सुधारक थे उन्होंने जनता को सामाजिक और आध्यात्मिक उत्थति का पथ दिखाया। वे लोक नामक वे उन्होंने जनता में प्रचलित भावों को पहचाना तथा उसकी वास्तव भूमि में कार्यरत मनोवैज्ञानिकता को समझा था। इसीलिए उन्हें सब विचारों की मनीनता के साथे में हास कर स्वतन्त्र रूप से पुनः जनता के सम्मुख पेश किया। उनमें से अतीव बन्धीरता के गर्व-सुधार को छाफ कर सरलता और सहज की धमक पहा की। कुछ मानक ने लोगों को अपने धर्म समाज या सम्प्रदाय छोड़कर किसी नये धर्म, समाज या सम्प्रदाय प्रवेश की प्रेरणा नहीं दी। उनका उपदेश समाज था। हिन्दू या मुसलमान कोई भी गुप्तत के पथ पर चलता हुआ मध्य को पा सकता था। यही कारण था कि कुछ मानक के जीवन-नाम में भी गुप्तत का विरोध किसी सम्प्रदाय ने नहीं किया—अकेल-दुकेने कठोरों ने यदि कहीं विरोध किया भी तो वह विचार-भिन्नता का कारण नहीं बल्कि अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने या ईर्ष्या के कारण किया। इसी से निश्चि है कि गुरु मानक किसी नए धर्म के संस्थापक न थे का ही उन्हें ऐसी सम्प्रदाय-स्थापना में विवशता ही था। वे तो लोक के परे के और थे उन्हें सांसारिक धर्मों और पंथों से क्या लेना?

गुरु मानक वादी में प्रचलित-गणधर्मों का विरोध अबश्य कहीं-कहीं मिलता है, जोकि कुछ मानक सरीये महान सुधारक और सोचनायक की बाणी का अंतर्कार है। कुछ ही ओर उन्होंने किसी धर्म-सम्प्रदाय के विरुद्ध कुछ नहीं कहा यद्यपि मनीन धर्म-स्थापना का लिए यह आवश्यक अंग माना जा सकता है। बल्कि उन्होंने अन्य धर्म-सम्प्रदायों की यज्ञायुक्त पापाओं का आत्मक से स्थान-स्थान पर अपन उपदेश को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने का सुबकसर भी नहीं छोड़ा। इससे स्पष्ट है कि उनमें धर्म-संस्थापक बनने की चाह न थी। यदि ऐसा होता तो वे अबश्य हिन्दू मुसलमान धर्मों या किसी अन्य मान्यता-आप्त सम्प्रदाय का विरोध करते तथा उनकी उमि-जापाओं का उपहास कर उन्हें गपत प्रमाणित करने का उपक्रम करते—यथा कि पीछे भारत में ईसाई धर्म प्रचारकों ने किया।

पुनः जब धर्म या सम्प्रदाय के प्रचलन के लिए जित प्रकार के मनीन विवशत हथिफोगो और विचार-व्यवहारों की आवश्यकता रहनी है, वे गुरु मानक बाणी में उपलब्ध नहीं। पीछे जिन महापुरुष को हम समन्वयवादी प्रमाणित कर चुके हैं वह

निश्चय ही किसी नये ढंग के विश्वास को जन्म देकर अपनी ममत्वपारम्य प्रकृति पर कूटापात नहीं चाहता था। गुरुकृपा से मन को संयत कर यह का नाश करो हुकम (ईश्वरैश्या) के सम्मुख नगमस्तक हाजी नाम-स्मरण द्वारा प्रमु-सीतता प्राप्त करो वस इतना ही तो हूँ पुरुमत। यही गुरु नानक का विश्वास है। ये सब प्राचीन शास्त्रों की अनेकभूत वारें हैं। गुरु नानक की महानता तो इन्हें इस प्रकार सरल महज रूप में प्रस्तुत करने और इसी महज भाव में मानव जीवन के परम-सत्य की खोज निकालने में है। इन बातों को मास्त्र-कारों ने सहज-गम्भीर रस्य बना-बनाकर प्रकट किया था अपना महत्व बनाए रखने के लिए वास्तविकता रूप और आहम्बर व्यभिच दिलाए थे। ब्रह्म ज्ञान को गुप्त बनाए रखने के लिए आध्यात्मिक-वय पर अक्षर्य होने में अनेक अङ्गुली की योजना की गई थी। गुरु सत्ये बल-मायक थे। उन्होंने जनता को इन आहम्बरों और पाखण्डों से पीड़ित देख दुःखीपूष स्वार्थ से नियत किए गए रस्यों और अल्पकत-भेदों से सहज में ही परां हटा दिया। कंटक-बीभिका आध्यात्मिक-वय को गुरु नानक की जन-महानुभूति ने अज्ञानक प्रमत्त-मार्ग के रूप में बदल दिया। कुक्षेक पंक्तियों में ही महानतम बात कह दी। संन्यास पृथ्व्य उदासीनता हठ-योग शारीरिक-पीड़ा द्वारा मनोभारण वत यह होम दान आदि आहम्बरों की आबदयकता समुची-असंगठ ठहरा दी गई। इस प्रकार गुरु नानक ने प्राचीन विचारों की मूलवृत्तिनी आत्मा को समन्वित कर गुदमत की नींव डाली। गुरुमत की प्रकृति प्रमत्त साधन मरम और उद्दय कोई भी जिसो गए धर्म की स्थापना का चोतक नहीं। प्रस्तुत पुकार तो सब-जनों के पाखण्ड-पीड़ित लोक मानस क लिए की और उससे अपेक्षित नाम प्राप्ति स्वाभाविक ही थी।^१

गुरु नानक किसी विनय वागमिक सिद्धान्त के प्रणता भी नहीं कहे जा

- १ आज भी कुछ लोग ऐसे हैं जो तथ्याकथित नानकसाही पंथ का नाम से-नेकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि गुरु नानक ने उक्त सम्प्रदाय की नींव रखी। परन्तु वे पथ भ्रष्ट हैं। यह नानकसाही-पंथ उदासी सम्प्रदाय का एक पंथ है जिसके प्रणेता गुरु नानक नहीं। गुरु नानक के पुत्र त्रिरीचन्द्र थे। पंथ की स्थापना ही गुरु नानक की इच्छा क बिन्दु थी—क्योंकि गुरु नानक का उपदेश गुरुस्वाधम में रहते हुए इतिनाम-स्मरण की प्रेरणा देता है जबकि उदासी सम्प्रदाय के माधु और भक्त जब बार-बार स्थायी होने हैं। गुरु नानक एकेश्वरवाद के समया व और प्रभु के अनिरिक्त किसी अन्य की मक्ति को निगट अज्ञान मानने थे जबकि उदासी-सम्प्रदाय क मन्दिरों या मूर्तियों में हरि भजन क अनिरिक्त अन्य जनक देवी-देवताओं की पूजा का भी विश्वास है। पुत्र त्रिरीचन्द्र ने जाने रिना गुरु नानक से रण होकर उक्त सम्प्रदाय स्थापना था। अतः इनक नाम में नानकसाही पंथ जसे ही जुरा हो गुरु नानक का इस से दूर का भी वास्ता न था।

सकते। दर्शन मुख्यतः पराभौतिक विषयों के सम्पूर्ण तर्कशील और क्रमबद्ध अध्ययन को कहते हैं। गुरु मानक के सम्पूर्ण काव्य में कहीं इन तीनों गुणों का समान प्रतिपादन उपलब्ध नहीं। विश्वास और भ्रष्टा पर आधारित प्रस्तुत उपासना पद्धति में तर्क की सम्भावना रखी ही नहीं जा सकती। प्रभु की उपस्थिति के सम्बन्ध में तर्क पेश करना दार्शनिकों का काम है, गुरु मानक सटीक उपदेशक-महापुरुष की भागी का तो आरम्भ ही है^१ सतिनाम करता पुछल भादि से होता है अर्थात् उनकी विचारधारा का विकास प्रभु की सत्ता में नतमस्तक विश्वास स्थापित कर लेने के उपरान्त होता है। क्रमबद्धता का गुण भी किसी सुधारक और उपदेशक की भाषा में सम्भव नहीं होता। घुमठे-फिरते वहाँ भी उन्हें कोई पालन्य दिखाई दिया उन्होंने वहाँ उभे टोका वहाँ किमी को सम्येह हुआ वही भ्रम-विनाशिनी भागी गुरु उठी तथा जैसी परिस्थिति प्रस्तुत हुई वैसा उपदेश प्रदान किया गया। ऐसे में विचार मरनी का क्रमपुन रहना ही एक अर्थसा होता। अतः उनकी आध्यात्मिक विचारधारा को किसी विशिष्ट दार्शनिक-पद्धति के रूप में स्वीकार करने में हमें सकोच है। तथापि हम स्वीकार करते हैं कि गुरु मानक पर परम्परागत संस्कारों का निरन्तर प्रभाव रहने के कारण सदाचारी जीवन बिठाने एक प्रभु में अमित विश्वास रखने नाम का आप करते हुए नामी में बिलीन होने आदिके महत् उपदेशों के अतिरिक्त, वे अपने काव्य में उपनिषदों में प्रयुक्त दार्शनिक-अर्थवाची का लुसा प्रयोग करते हैं। ब्रह्म जीव और माया सटीक अतीव महत्त्वपूर्ण तर्कों का उल्लेख प्रायः हुआ ही है। जगत् बंध से इन तर्कों की व्याख्या और परस्पर-सम्बन्ध भी गुरु मानक काव्य में उपलब्ध हैं।^२ परन्तु इन महान-पराभौतिक-आधारों का जैसा तर्कशील विवेचन एक संकराचार्य सा प्रतिमाताजी विद्वान् अपनी विवेक-शक्ति से कर सका है वैसा गुरु मानक सटीक परम भक्त और 'हुक्म के बन्धे मे अपेक्षित ही न था। गुरु मानक का पय समझने का नहीं करने का या भक्त के जो भी कहने व अनुभव से कहने से विवेक या तर्क से नहीं। अस्तु, गुरु मानक की आध्यात्मिक-विचारधारा को बतलाना उनके प्रति अनभिज्ञता का परिचय देने व कुछ भी अर्थ नहीं।

वास्तव में गुरु मानक-विचारधारा कोई नैदानिक-विषय नहीं बल्कि भारतीय परम्परा में दर्शन ६६ प्रति नैदानिक ही रहा है। उक्त विचार व्यावहारिक है गुरु तिर्य से केवल इनकी ही अपेक्षा रखी जाती है कि वह प्रस्तुत साधना को जीवनचर्या बनाले। गुरु मानक-काव्य की प्रत्येक उक्ति जीवन का मर्मज्ञ मुतावी है जीवन की उन्नति का साधन बता रही है या जीवनानुभवों की ओर संकेत करती हुई आध्यात्मिक-उत्थान को लक्ष बनाती है। गुरुमठ में प्रथम आक्रमण ही मन पर किया है^३ जिसके संघर्ष

१ ऐसे ही दार्शनिक-तर्कों की व्याख्या प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है।

२ गुरुमठ निर्णय—मार्च चौबसिह ५० १२०।

हो जाने से मनुष्य का बड़ा लक्ष्य अर्हमात्र नष्ट होगा है। मन के संयम के सिधे 'सवाचारी' जीवन और युद्ध की लोभ की विचारित की गई है। यहीं से युद्ध मानक-यप का व्यापक हरिक-स्व क्षमकने समता है और यहीं से युद्ध जीवनयापन का मीगणना होता है। सब अर्ह के नष्ट हो जाने पर विश्वासपूर्वक नाम में चित्त सयाना अपभित है। इसमें भी प्राचीन उपासना और कर्म-काण्डों के बन्धन गुरु साहिब को मान्य नहीं। यह भी कहीं स्वीकार नहीं किया गया कि नाम अपने के लिए सुद्ध-नाठावरण सुद्ध स्थिति बनना स्नानादि की कोई जरूरत है। नाम तो स्वयं सुद्धीकरण मात्र है वह करोड़ों तीर्थों का तीर्थ है जिसमें मज्जन और पात करन वासा इस भवसागर से पार हो जाता है। नाम स्मरण के सिद्ध पुण्यतन-अंग की किसी रुढ़-रिष्या की भी आवश्यकता नहीं। केवल मुक्त-मिशन की अपेक्षा है। किसी समय या स्थान पर सोने-जापत उठने-बैठने सोचते या करते हुए चित्त को नाम में रमाए रखा जा सकता है। कितना सहज अंग है शान्त और सरस जीवन विज्ञान के साथ साथ प्राणी आपही मुक्ति का भाजन बन जाता है।

नामक सतिगुरु भेदिये पूरी होई क्षुमति ।

हृदयिया अलदिया, पैतदिया आबदिया बिबे होब मुक्ति ।

२ १६ बार गुरारी म० ५ ।

नाम में चित्त समाने के साथ किसी प्रकार के त्याग तपस्या योग या कर्म (कर्म काण्ड) की भी आवश्यकता नहीं। जीवन में हरि भजन करा साधारित कर्तव्यों का भी पालन करो और प्रभु की इच्छा अनुसार प्राप्य सुख-दुख को मह्य स्वीकार करो। यही गुरुमिष्ट का मुनी जीवन है। गुरु मानक मतानुसार प्राणी का मुक्ति के पीछे भागने की कोई आवश्यकता नहीं। नाम में चित्त रमाने का स्वामादिक परिधाम है जीवन-मुक्ति अर्थात् जीव का शारीरिक बन्धनों के ध्यान-स्तर से ऊपर उठ जाना। प्रस्तुत सबस्था आध्यात्मिक परचक्राण्ड है तो भी इसकी लोभ हेतु कोई गहन कर्त गुरु मानक की ओर से नहीं सपाई गई। हुकम में बँबी इस विचार संगुति का आनन्द उदयना और प्रभु स्मरण करना बस गुरु मानक किसी प्राणी से इतनी ही अनेका रतने है। उनी में अन्धिय मरय प्रभु में विनीतता का स्वोदय होता है तप और साधारण गृहस्थाधम में रहना हुआ आनन्द और मंग्याम के लक्ष्यों से भी मध्य उद्देश्यों का प्राण जाना है। एम में यदि यह बड़ा ज्ञान कि गुरु मानक विचारधारा कोई विनय धम नहीं और न कोई गहन दर्शन ही उद्देश्य है बल्कि उपन और आध्यात्मिक जीवनयापन का एक मुद्रण है तो कोई अस्मृति न होगी।

गुरु मानक और मानकवाद

साधारणतः पादिक पत्रों से इनर गुरु सात्विकता से प्रसून हो लेह,

सहानुभूति और प्रेरणा के सहारे विश्व भ्रातृत्व का जो प्रासाद स्रष्टा किया जाता है उसी को मानववाद कहा जाना चाहिए। विश्व-मानवता को प्राचीन सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सीमाओं से परे मानुषिक-सम्बन्धों के चरमे से बेलत के सिद्धान्त का नाम होना चाहिए मानववाद परन्तु शास्त्रीय परिभाषाएँ इसे तर्क की सीमाओं में इतना आबद्ध करती रही हैं कि परासीतिक विश्वासों और 'वासुदेव कुटुम्बकम्' की सनातन भावना को इसमें कोई स्थान ही नहीं रह गया। पश्चिमी दृष्टिकोण से मानववाद योक्ष की मध्यकालीन धार्मिक दुर्भ्यवस्था और प्राचीन जासत्रों के गलत अर्थ समझकर पण्डितों द्वारा होने वाली स्वार्थ-मूर्ति के विरुद्ध १३वीं शताब्दी में उदित एक क्रान्ति थी। इतिहास ने इसे रैनासास (पुनर्जागरण) का युग कहा है। उस समय भारत की परिस्थिति भी योक्ष से किसी दशा में अशुद्धी न थी। सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक-पातकों का सामना भारतियों को भी उसी वेम से करना पड़ रहा था जिस वेम से योरोपियों को। ऐसी अवस्था में दमित मानव-हृदय का कहीं भी विद्रोह कर उठना स्वाभाविक ही था। एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटॉनिका में स्पष्ट लिखा गया है कि यह आन्दोलन पण्डितउपनि और धार्मिक शक्त के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण क्रान्ति थी।¹ इस क्रान्ति में मनुष्य की आवाज की जो अपने जीवन के अधिकारों की माँग कर रही थी। पण्डितों की अत्याचारी के तीसरे चरण में यही आवाज बुद मानक का कण्ठ स्वर बनी। मध्यकाल में इस आवाज को बहुतें से उठाया था अन्ध कर्मों ने सोहराया भी। उस समय का सम्पूर्ण संस्थ-परिचार तथा मानसचार तुमसीदाय इसी अर्थ के विद्रोही थे। अभिप्राय यह कि उक्त क्रान्ति तत्कालीन सावर्भौतिक परिस्थितियों पर आधित थी अथ उसका उदय शास्त्रीय दृष्टि से योक्ष में स्वीकार किया जाए, या भारत में हमारे कथन पर कोई आघात नहीं मगता।

पुन मानववाद का स्वल्प मनुष्यता की पहचान में निहित है। यही कारण है कि नीति-शास्त्र समाज शास्त्र और दर्शन-शास्त्र ने एक साथ इस सिद्धान्त को अपनाया है। मुख्यतः मनुष्यता की भौतिक, मानसिक, धार्मिक और सामाजिक उन्नति इसका लक्ष्य है। समाज के छल बण्ट और दम्भ का अन्त कर क्रान्ति और सुरक्षा का राज्य स्थापित करना मानवता है अथ मानववाद का पोषण मानव के सांस्कृतिक और आर्थिक मूल्यों का विकास, कुुरिवाजों से अन्त समाज क कर्तों का अन्त बेईमानी और लठना के हाकों पीड़ित मनुष्यता की मुक्ति और जीवन में व्यवहार और मानव का सही और तर्कमूलक मूल्यांकन मानववाद की विशेषताएँ हैं। सिद्धान्त में तर्क की प्रधानता अनिवाय है परन्तु प्राचीन विश्वासों को आमूल नष्ट करने की

1 This movement was essentially a revolt against intellectual and especially ecclesiastical authority Encyclopedia Britannica Humanism Vol. VI

अपेक्षा उन शास्त्रीय समीक्षाओं को परखने हेतु मया दृष्टिकोण बनाया गया है। पाखंडी और आडम्बरयुक्त प्रवृत्तियों का खण्डन करते हुए प्राचीन ऋषियों-मुनियों की रचनाओं के मूल-अवलोकन की प्रेरणा दी गई है। पश्चिमी मानववादी एरॉस्मस अपनी रचना जेरॉम (Jerome) की भूमिका में लिखते हैं^१ 'हम पुराने महात्माओं के पन्थे कमाओं और चूतों का खुम्बन कर अपने को बन्धु मानते हैं, परन्तु उनकी अधिक मूल्यवान् और महत्वपूर्ण पावन-स्मृतियों के रूप में पड़ी उनकी कृतियों के प्रति उदासीन हैं। हम उनकी पोछाको नो रत्न-जटिल किबाड़ों में सम्मिलित हैं परन्तु उनके द्वारा पर्याप्त कष्ट उठाकर जो ज्ञान भण्डार हमारे लिए छोड़ा गया है और अब भी विद्यमान है दिखावा या मुमाइश के रूप में उसकी अवहेलना करते हैं।' समाज में तर्क को इतनी प्रधानता दी जाने लगी है कि व्यवहारवाद एवं फयदावाद क बीज अंकुरित हो उठे हैं। चीने-बीरे युगानी बायानिक प्रोटागोरस का सिद्धान्त मनुष्य ही सबका मानदण्ड है (Man is the measure of all things) पुनः बलकने लगा है। समाज से परासीतिक-मूल्यों का अन्त होने लगा है। तर्क का अतिव्यमन मानव की सद्भावनाओं तथा सौस्क्रुष्टिक-उद्भावनाओं पर कुठार बसाण लगा है। परिणाम यह हुआ है कि आज पश्चिमी-मानववाद समयमग नास्तिकता के पंक में समा चुका है।

पुरे मानक का सम्बन्ध इससे जोड़ने से पूर्व मैं भारतीय-मूठ भूमि पर इतना अरथ कहना चाहूँगा कि यद्यकानीन परिस्थितियाँ समान होते हुए भी सुधारों और बिद्योह में पूर्व पश्चिम का अन्तर बराबर बना रहा। जहाँ पश्चिम में मानववाद का विकास नास्तिकता की ओर हुआ और अन्त में तर्कनीसता के माध्यम मनुष्य को ही मनुष्य का सत्य मानकर केवल फयदावाद (Utilitarianism) में मया जाने की चेष्टा करने लगा वहाँ भारत में उक्त सुधार आन्दोलन (उसे कुछ भी नाम दिया जाय—मानववाद) आडम्बर और पातक्य से बाहर सच्ची नास्तिकता की ओर बढ़ा। यहाँ मनुष्य को सबन्ध का मानदण्ड न मानकर 'मनुष्य मनुष्य के लिए है' का सिद्धान्त अपनाया गया। तर्क की अपेक्षा सात्त्विकता में विश्वास तथा 'बुराई में बपाव मानव वाद की भूमवर्तिनी चारणा बना। अतः स्पष्ट ही हम मानववाद को दो भिन्न स्तुतियों—नास्तिक और नास्तिक—में देखने हैं। पुरे मानक का सम्बन्ध गुड पूर्वी नास्तिक मानववाद में ही जोड़ा जा सकता है।

1 We kiss the old shoes and dirty handkerchiefs of the Saints and we neglect their books which are the more holy and valuable relics. We lock up their shirts and clothes in jewelled cabinets but as to their writings, on which they spent so much pains and which are still extant for our benefits we abandon them to mouldiness and vermin.

Quoted in Ency: of Religion & Ethics, Vol. VI Humanism

गुरु नानक परम-आध्यात्मिकता के अध्यापक थे बुनियादातौर से उनका कोई विशेष सम्बन्ध न था। उनके आध्यात्मिक-संशोधनों में परिस्थितिकरण को सामाजिक सुधार का मूल है। वे ही उनके व्यक्तित्व के केवल एक अंश को मानववादी प्रमाणित करते हैं। उन्होंने जाति-पाति और आश्रमपर्युक्त कर्मकाण्डों का विश्व प्रकार से खण्डन किया। मानवीय-बुक्तियों के विरुद्ध बलपूर्ण-स्वांग शारीरिक-यातना आदि की अपेक्षा सहज जीवन के जो आदर्श समाज के सम्मुख रहे वे ही मानववाद का रूप हैं। गुरु गुरु नानक ने किसी धर्म या सम्प्रदाय का प्रचार नहीं किया। वे एक परम-गुरुत्व को मानते और एकको उसी में विश्वास करने को कहते थे—यही आस्तिक मनुष्य-धर्म था। मानव-मानव में भेद डालने वाले जाति सिद्धान्त के वे विरोधी थे। स्वयं जाति सिद्धान्त के वे विरोधी थे। स्वयं उच्च जाति के शमीय हाते हुए भी वे निम्न जाति के बाला और मर्दाना के साथ रहते थे। अपनी पहली यात्रा में ऐमनाबाद पहुँचकर उन्होंने अपने सहायीय-नाई भावों के बहाने रहन की अपेक्षा एक गुरु बड़ई लालो के घर निवास किया और इस प्रकार जाति भेद का अन्त कर उन्होंने मानववाद के विकास में सहायता दी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनके सभी सिद्धान्त मानवीय-बुक्तियों के समवर्ती हैं। पर-परिवार के त्याग शारीरिक यातना आदि को उनको विचार धारा में नहीं स्थान नहीं। किसी धर्म या सम्प्रदाय के प्रति उन्होंने घृणा का प्रचार नहीं किया। सभी महापुरुषों महारमाओं तथा उनकी शक्तियों के लिए उनके हृदय में भयना भी जग किसी भी धर्म या सिद्धान्त को मानने वाला व्यक्ति उनके महान विचारों से जाह्न नहीं हो सकता। गुरु वे समन्वय के आध्य परम-पथ का प्रचार कर रहे थे इसीलिए उन्हें किसी विशेष विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। और ये ही सब सद्य गुरु नानक के भारतीय मानववाद के अंशकार हैं। उनको ऐसी ही धारणाओं से प्रेरित हो हिन्दू मुसलमान तथा अन्य सम्प्रदायों वाले सब उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते रहे। सार यह कि जहाँ तक गुरु नानक के समाज-सुधारक दृष्टि कोम का सम्बन्ध है वे मानववाद के बहुत निकट थे।

अपसंहार

गुरु नानक साहिब की चिन्तन-सरणी को जो व्याख्या अब तक की जा चुकी

१. गुरु विचारकों ने गुरु नानक की पाँच महान यात्राओं को परिवार का त्याग कर उदासी की यात्रा माना है परन्तु यह केवल उनके अज्ञान का परिणाम है। गुरु नानक ने आध्यात्मिक क्षेत्र में परम-पथ को पाया था। उनकी यात्राएँ दूसरों को उसी सत्य का रूप ज्ञान देने के लिए ध्यायार्थिनी की गई थीं यही कारण था कि वे यात्रा समाप्त कर घर लौट आने लगे। उदासी की यात्रा में लौट आने की आवश्यकता नहीं रहती।

उससे प्रकट है कि ये केवल विचारक ही नहीं सतपुरुष का रूप से और विश्व मानवता को आध्यात्मिक-क्षेत्र में पच भ्रष्ट और ब्रह्म देखकर स्वयं मार्ग प्रदर्शनार्थे सार में अवतरित हुए थे । यों तो सभी सन्त-महात्माओं का आगमन इसी पृष्ठ-भूमि पर होता है, तथापि गुरु मानक उस आभार-मिति के महात्मा न थे । उन्हें (य पीड़ित मानवता को मुर्गे-मुर्गे तक रास्ता दिखाता था । इतना महनीय कार्य एक ही रूप में सम्भव न था । कदाचित् इसीलिए गुरु मानक ने बस भिन्न शरीरों में सजग एकर परिस्थिति अनुकूल पीड़ित सांसारिकता का पच प्रवहन किया, और समय २४० वर्षों (सन् १४६६ से सन् १७०५ तक) की लम्बी अवधि तक सशरीर सहायक एते के परत्वात् भी गुन्गानी की अद्वितीय तरणी का उपहार पीड़ित मानवता को दते गए, ताकि पच बैठने वाला भव-सागर से पार उतर सके । इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्य दृष्टि से हमने गुरु नामक के मात्र प्रथम रूप के उपदेशों (बाणी) की विचार-म्प्राप्ति को ही मुख्यतः प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय बनाया है परन्तु इसमें और अन्य रूपों द्वारा प्रस्तुत काव्य (बाणी) के विचार-तरण में विस्तृत कोई भेद नहीं । भाषा का अन्तर (समय की) बाहरी परिस्थितियों के प्रभाव के कारण है । वरन् रूप में पच की स्थापना भी इसी प्रभाव के अन्तगत हुई है ।^१ अस्तु,

गुरु मानक शरीरके आध्यात्मिक पच प्रदर्शक का सच्य या पीड़ित-मानवता को उचित मार्ग का संकेत देता । इसके लिए जगत में अवतरित हो परिस्थिति का अध्ययन करना अनिवार्य या अर्थात् जन-जन की दुःखी स्थिति का कारण जानना अनिवार्य था । तत्परत्वात् कारण को दूर करना तथा उनके माय पर जिन विघ्नों का सामना होगा उनकी अवस्था को पहल से ही समझ सना बड़ी आवश्यक बातें थीं । गुरु मानक-विन्दन पहल इन्हीं सीमों बाधों का उत्तर प्रस्तुत करता है । फरमाते हैं—

बिनु बोहिवा नादिना बोधा समुह मझारि ।
 कंभी दिसि न भावई न उरबाव न पार ।
 कभी हाथि न देखदू, बस सागव बसरासु । १ ।
 बादा जगु फाया महा जासि ।

१ यहाँ ध्यान रहे कि हमारा सम्पूर्ण विषय प्रथम पाठमाही गुरु मानक तक ही सीमित है अतः इसी अध्याय के पूर्व-पृष्ठों पर हमारे द्वारा यह विड विद्या जगत् कि उन्होंने किसी नए पम या सम्प्रदाय की नींव नहीं रखी उचित ही है— यह पच की नींव रखी जाने से सम्भव हो सी रूप पहले की बात थी । बाद में दगमी पाठशास्त्रों के रूप में परिस्थितियों का सामना करने के लिए आध्यात्मिकता और योग्य दोनों को जुदा जुग देने की आवश्यकता पड़ी । उक्त समय प्रस्तुत विन्दन-पारा (जो कि गुरु आध्यात्मिक थी) पर होन वाले जय निरामयुक्त अन्वेषणों का मुवाबना करने के लिए बरबट बन्दना अनिवार्य ही था अतः स्वयं दगमी पाठमाही को अन्त-सिवाही बनना पड़ा ।

संसार-सागर में हम सब अपना अपना शरीर कभी जहाज लिए बस तरंगों के साथ हिमों से रहे हैं। पार हो जाना चाहते हैं परन्तु हो नहीं पाते नहीं मंजर में फँसे बगमवाते और पीत्कार करते हैं। हमारे इस जहाज के भ्रमसागर से पार न उतर सकने के कई कारण हैं—प्रथम हमने इसमें विषय-विकारों और क्लामनाओं का विष मार रखा है जिनसे बोझ इतना बढ़ गया है कि पार पहुँचने से पूर्व ही इसके डूबने के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। पुनः भ्रम-सागर का किनारा भी कहीं दिखाई नहीं देता अर्थात् प्राणी-मात्र इस क्लम-विहीन सागर में युगों-युगों से गोते खा रहे हैं। कोई नहीं जानता कि इसका कारण या अन्त कहां है। अनेक लोग इस अण्ड में लिए और मर गए, लेकिन कभी लक्ष्य न पाया। अधिबो-भुगिर्भों ने संशयितक दृष्टि से प्रसव-महाप्रसव के न जाने कितने हिसाब लगाए, परन्तु कोई आज तक दावे से यह नहीं कह सका कि संसार का भावि या अन्त कब है। गुरु नानक तो योंही ऐसी बातों में चुप रहना उचित समझते हैं—कहते हैं—सिय बार न जोषी जाने, सत माह न कोई। जा करता सरिप्यी को सात्र भाये जाने सोई। तीसरे सागर भी 'असरामु' है। इसकी बहुराई का कुछ पता नहीं चलता। दुनिया के समुद्रों की बहुराईयों का पता विज्ञान ने लगाया परन्तु स्वयं दुनिया कभी सागर को कोई साईस नहीं गाय सकी। हमारे लिए यह दुनिया ही सब कुछ बन चुकी है—जामी कि कीड़े की शक्ति हय नामी में जन्म से काय की गुमगि से परिचित हुए बिना नहीं मर रहे हैं। संसार-सागर की बहुराईयों को पहचानने या उनसे बाहर जान का हम प्रयत्न ही नहीं करते। हमारे लिए 'माह जा मिट्ठा से बगमा हिन बिट्ठा' (यह संसार मीठा सतता है दूसरा किसने देखा ?) आचार काय बन रहा है। जीवे हमारे जहाज के साथ न कैबट है और ना उनके पास कोई बणू ही है। सागर से नौका को पार लगाने या जहाज को मंजिल तक पहुँचाने के लिए प्रत्येक नौका या जहाज के साथ मस्साह होते हैं वे बणू बनात हुए नौका को ठीक मार्ग पर ले जाते हैं। परन्तु गुरु नानक के प्रकट करते हुए कहते हैं कि भ्रमसागर में पड़ी हमारी शरीर कभी नौका को पार लगाने वाला भी कोई नहीं। फिर मसा बह मंतध्य तक क्योंकर पहुँचे ? ऐसे में संसार की ओर पीड़ित बना का बिना उनके समाने जा जाता है जिससे बचने का कोई मार्ग नहीं मूतता और ब नह उठते हैं जब फाया महानामु' अर्थात् संसार विषय-विकारों के भयंकर जाल में कैसा सतत कण उगा रहा है।

सहानुभूति के प्रतीक गुरु नानक ने संसार के कष्टों के कारण का इस प्रकार अध्ययन किया। वे जान गए कि संसार-सागर में प्राणियों का डूब जाना और उससे बच सकने में असमर्थ होना ही सार्वभौमिक दुःख के कारण है। सहानुभूति उमड़ी। वे पच-बचने को तो आए ही थे इबिउ होकर फरनाया—

‘गुरु परवादी उबरे, सखा नापु सनासि । १ रहाउ ।

क इस संसार-भागर से बही पार उत्तर सकता है, जिस पर सद्गुरु की कृपा है। जीव को भवसागर से पार होने तथा अपने सौकिक कष्टों को पुर्बत अन्त करने के लिए सद्प्रथम किसी सच्चे गुरु की खोज करनी होगी। गुरु उसे नाम-रहस्य सिखाएगा और तब यदि जीव गुरु-निर्देशानुसार नाम में चित्त लगाता हुआ भगवद्भजन करे, तो भवसागर से उसकी मुक्ति निश्चित है। प्रश्न उठता है यह नाम क्या है और कहाँ से प्राप्य है? गुरु नामक का कथन है कि वह अन्तर में ही विद्यमान है।^१ उसका रहस्य केवल गुरु से जाना जा सकता है। वास्तव में यह जीव ही निम्नी उन्नति है परन्तु अज्ञानबध उसके साथ रहने पर भी वह इससे तब तक कोई नाम नहीं उठा सकता जब तक गुरु द्वारा उसे सच्चाई का ज्ञान न करवा दिया जाए। जीव ही क्या ऐसी है कि पाँठ में बन बसि कंमाल बना फिरता है। पाँठ के अन्तर की वास्तविकता का उसे पता नहीं कोई उसे बताने वाला नहीं—इसीलिए वह दुःखी है। जैसे भीखा ने कहा है—

भीखा मुखा कोई नहीं, सबकी गठरी माल।
पाँठ तोल बैस नहीं, योंही मये कपाल।

अतः भवसागर में गोते खाते हुए दुःखी जीव को गुरु नामक ने कष्ट-मुक्ति हेतु सच्चे गुरु की खोज करने तथा नाम प्राप्ति की महा-भक्त्या की। यह हमारे आरम्भिक तीन प्रश्नों में से दूसरे (बुद्ध क कारण का क्योंकर दूर किया जाय?) का उत्तर था।

यहाँ जीव यह प्रश्न कर सकता है कि संसार के दुःखों और कष्टों का उपचार करने की महोपधि नाम यदि उसकी जिन्नी उन्नति है जमी के भीतर है तो फिर उसे सुगमनापूर्वक निम्नी क्यों नहीं? उसकी प्राप्ति के मार्ग में क्या बाधाएँ आती हैं और क्यों? उत्तर स्पष्ट है। नाम की महान् उपोधि निरुन्नेह मनुष्य के अन्तर ही है परन्तु जन्म पर भी जो मनमुष्यता के कारण हठमें का पर्दा पड़ा हुआ है। अतः मन ही उसकी प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। वह जैसा थाहता है वैसा ही जीव का नचाता है। जीवन में हमारे गमस्त क्रियाएँ मन के संकेत पर ही हो रही हैं। हमारे भीतर मन इतना समस्त हो चुका है कि ज्योंही हमारा ध्यान माधु-मंगल या भगवद्भजन की ओर पनटने लगता है तभी वह नग-नग मरुद बाम दिखा-दिखाकर हमें पथ भ्रष्ट करता उरता है। हम अपनी नाममयी के कारण मन के पीछे मगन में जिन्नी शेष का अनुभव नहीं करते—तो भला गुरु नामक बहने हैं हमें अपने अन्तर की नाम की खोज कैसे विने! पहले तो हम मन के पीछे मगे उग और बढ़ने ही

१ मउ निपि अमन प्रभु का नाम।

देही महि इसका विग्राम। १ २१ पठकी मुष्यमनी न० ५, पृ० २६१।

नहीं और यदि बहुते समें तो यह मत मान-कोष के प्रहरी नाम की तरह हमें काटने कीजता है। अतः सच्ची बात तो यह है कि किस प्रकार किसी बड़े सभामें जो प्राप्त करने के लिए उस पर रहने वाले साँप को पकड़ना या मारना पड़ता है वैसे ही नाम की सम्पत्ति पाने के लिए मन कपी साँप को सपत्न करना अनिवार्य है इसके लिए और मोक्ष का मुकाबला करना आवश्यक है। गुप्त मानक करताते हैं—

समु पिड़ाई पाईए, बिबु अस्तरि मनि रोमु ।
 पुरकि निशिमा पाईए किसनो बीबी रोमु ।
 पुरमुक्ति पारु ७० मुभे मनि नाउ सस्तोमु । ५ ।

अर्थात् हमारे अंदर कपी पिढारी में मन का साँप बटा है, जो हर समय जीव को विषम विकारों का विष बहाए रखता है। इसी से विपाक हो हम अति अति के कर्म करते हैं। जिस प्रकार किसान पहेली फसल खाता है तो जाये के लिए बीजता भी है, उसी प्रकार हम इस सभार में बेह-भारण करते हैं तो किसी पूर्व कर्मनुसार ही और भागे के लिए कर्म सचिन भी करते जाते हैं। कहा गया है कि मृत्यु के परमाणु आजीवन कर्मों के उत्पन्न से बुद्धि और बुद्धि से सत्कर्म का उदय होता है। मया अगम उसी संकल्प के अनुसार मिलता है। अस्तु कर्मगत के अनुसार जीव का आवागमन चामू रहता है। इन नए-नए शरीरों में यदि जीव मन के शकारों पर नाचता रह जाता है तो वह उसका प्रारम्भ या पूर्वकर्मों का फल ही है। मन कपी सर्प के संकेत पर वह व्याघ्यातिभक्ता की लयभंग पूर्णता उभेगा कर देता है। इसीलिए जीव को कष्ट में डेकर बुद्ध मानक साहित्य कहते हैं 'पुरव निशिमा पाईए, किसनो बीबी रोमु। जो बुद्ध होने मिल रहा है जो बुद्ध हम कर रहे हैं वह सब हमारे पूर्व कर्मों का फल ही तो है। उनके लिए किसी को दोषी नहीं गह्यया जा सकता। 'जैसा बीजता वैसे काटना' परम्परा का नियम है। इसी प्रकार हमने पूर्व जन्म में जैसे कर्म किए, वैसे फल इस जन्म में भोग रहे हैं। मानसिक समय भी कर्म-फल ही है अथवा मन कपी सर्प के विष से केवल बड़ी बच सकता है जिस प्रभु की विशेष कृपा से गुह का जापय मिल जाय। और किसी को काट जाय तो डॉक्टर-बीज से इलाज करवाया जाता है वग ही मन कपी साँप के काटे का इलाज भी सम्भव है। परन्तु डॉक्टर कौन होगा? बुद्ध साहित्य कहते हैं 'पुरमुक्त'। वह महापुरुष जिसने इस संसार से जैसा उठकर परम-सत्य को प्रत्यक्ष कर लिया है वही 'मन के काटे' की औषधि कर सकता है। कोई सच्चा गुह ही इनका वास्तविक उपचारक होगा। वही जीव को सभसा सकेगा कि मन की विष केवल नाम जाप में सम्मूट रहने से ही दूर हो सकती है। उगी की (गुह की) महत्त्व द्वारा से ही मन सपत्न हो सकता है साँप पकड़ा जा सकता है। स्पष्ट ही साँप पकड़ा जाय

या मूक कृपा से उसके विष-रन्त (विषय-विकार की प्रवृत्तियाँ) टूट सकें तो फिर अन्दर में सुरक्षित नाम की सम्पत्ति पाने में कोई बाधा रह ही नहीं जाती ।

युव मानक उन्मुक्त तीसरी (कष्ट-निवारण के माग के विघ्नों को सबधना) स्थिति को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । सागर में बड़े-बड़े मगरमच्छ या मछलियाँ होती हैं—इतनी अक्तिमासी कि बहाव को टक्कर मारें तो बहाव टूट जाए । परन्तु धिकायी जोग उन्हें पकड़ने के लिए कुण्डी के साथ मौस का एक टुकड़ा लपकाकर पानी में फेंक देते हैं । सोम प्रस्थ मगर कुण्डी समेत मौस को निमल जाता है । कुण्डी कष्ट में फँस जाती है । बचारा बिबस हो जाता है और साव में मूर्ख की तरह लिबा बना जाता है । यही दसा जीव की है । वह आरमा है, सासात् सत्पुरुष का बंध । परन्तु उसे अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं, सोम में पड़ी मन की कुण्डी में लिबी जाती जा रही है—

मपरमपु फहाईए कुण्डी जालु बताइ ।

कुमति काया फहीए फिरि फिरि पछोताइ ।

बंमपु भरनु न मुमई किरनु न मेठिमा जाइ । १ ।

जैसे कर्म मन बरवाता है वैसे जीव किए जा रहा है । कुमति-जीव को यह ध्यात ही नहीं आता कि इन छोटे कर्मों के फलस्वरूप उसे भाँति-भाँति की मोनियों में आना पड़ेगा । युव साहित्य ने भी सिखा है—

सरब जियाँ तिर लेख पराबहुं ।

बिनु सेखे नहीं काहु जिय ।

अर्थात् जीव भौतिक सम्पत्तियों में इतना लो जाता है कि उसे अपने जन्म धरम की परवाह ही नहीं रहती । वह यह भी भूल जाता है कि कर्म-फल से पुत्रकारा सम्भव नहीं, उसे अपने लिए का फल भोगना ही पड़ेगा । मन का अनुपायी बना जीव 'मायावारी मग्हा बोसा गबद न मुने बहु रौस पचोता' । वह अग्ना होता है क्योंकि उसे अपने अन्दर की ज्योति दिखाई नहीं पड़ती वह बोसा है क्योंकि उसमें नाम की—शक्त की—इच्छा मुनने का सामर्थ्य नहीं ।

संसार की कष्टमय स्थिति कष्ट के कारणों का मूलोद्देश्य और इसकी सम्भावना में जाये जाने वाली बाधाओं का चित्रण करने के उदरान्त युव साहित्य जरा और स्पष्टबाही-भास से अपना संतप्य प्रकट करने को उद्यत होते हैं । उन्मुक्त हृष्टिकोम से उगहने मन को सबसे बड़ी बाधा बताया है । मन की मूल प्रवृत्ति (जगता हुआ विष) है—अहंभाव । बेघारा जीव मन के बहने में पड़कर सांसारिक या भौतिक दृष्टमूर्ति पर अपने अस्तित्व का महत्त्व दिवने लगता है । मैं और 'मेरी' के रीते मैं वह जाता है । हउरी के विष से समस्त संसार परेगान हो रहा है

लेकिन कोई इसे छोड़ नहीं पाता। कुछ मानक सिद्धते हैं 'हउमै बिबु पाइ जनतु
उपाइया अर्थात् संसार का उत्पादन ही अहं कपी बीब से हुमा है। माया ही बार' में
हउमै का एक सुन्दर चित्र खींचा गया है—

हौं बिब आया, हौं बिब पया। हौं बिब अमिया हौं बिब मुमा।
हौं बिब बिता हौं बिब सिपा। हौं बिब कटिया हौं बिब गिमा।
हौं बिब सचियार, कुड़िमार। हौं बिब पाप पुन बीषार।
हौं बिब नरक सरय औतार।

कमिप्राय यह कि संसार में आने वाले जीव मन के फरे में फरे अहं के बोझ से
इतना बन् बाधे हैं कि उनके लिए इसके अतिरिक्त कुछ व्यवस्था ही नहीं रह जाती।
लेकिन नहीं निराश होने की आवश्यकता नहीं वहाँ समस्या होती है वहाँ संसार
हम भी खूटा है। कुछ साहित्य स्वयं इसी के आगे भिद्यते हैं—

हउमै बीरव रोग है बाक भी इस पाहि।
किरपा करे जे आपनी ताँगु का शय्य कमाहि।

रोग तो हउमै का भयंकर है परन्तु यदि प्रभु की कृपा हो कोई सच्चा बुद्ध भिन्न
बाए और वह बीब को जम्ब-रहस्य समझा दे तो हउमै का बिप अपने आप निपटिक
हो जाए—

सबहु कसं बिबु बाइ।

हउमै का बिप गण्ट होने के साथ ही बीब परम-सत्य म चित्त सयाएबा।
सत्य की ओर उसका नैसर्गिक आकर्षण होगा। उस सत्य को जिसके सम्बन्ध में कुछ
मानक ने 'बादि सचु पुगारि सचु है भी सचु नागक होसी भी मचु कहा है पासेना
मान ही तो जीवन का उद्देश्य है। मन से हउमै का माग आरमा-परमात्मा की
निकटता का आसार है और फिर यदि बीब परम-सत्य को पहचानने में प्रवृत्त हो
जाय सच्चा बुद्ध पाकर उसके आदेशानुसार अन्तर्धाना आरम्भ करदे तबतो वह संसार
में रहते हुए भी मुक्त कहमाएबा। उसके समस्त कष्टों की बन्ा उसे प्राप्त हो
जायगी वह परमानन्द में चिर-मग्न हो उसके बुद्ध-मुष्ट का साथी बनेगा। कुछ मानक
साहित्य सिद्धते हैं—

बरा जोहि न सकई सचि रहै निब बाइ।
बीबन मुक्तु तो आकीऐ बिबु बिबहु हउमै बाइ। ६ २।

पीछे कहा जा चुका है कि बीवारमा भव-सागर के मैदर में पड़ा है इसका
दरौर कपी जहाज बर्जित है पार लगाने के लिए छाब में न आसक है न मस्ताह:

मीर चारों ओर से विषय-विकारों के बनें छपा मन कपो जलधरों की भयानक टकरों सहनी पड़ रही है। डूबना ही चाहता है। प्रायः इस प्रकार डूबते हुए जहाज को बचाने के लिए अल्प जहाज और उनके आसक्त सहायता को रोक पड़ते हैं। यहाँ सहायता कौन करे ? कौन पतित जीव का उद्धार करे ? गुह्र भानक कृपा कर सुभाव पेम करते हैं कि कोई मनुष्य ही स्वयं मम्माहू बन यदि नाम का जहाज लेकर सहायता करे, तो जीव की मुक्ति सम्भव है। अतः सिधते हैं—

‘गुरि राखे से उबरे सबा सबहु पीचार ।

या—सतिगुरु है बौद्धिया सबदि संपाबणहाव ।

सब कुछ कर्म-फल होते हुए भी गुह्र द्वारा संसार से उबाय जाना प्रभु-रूपा का विषय है। सगुरु का मिलना हउमे का नाग करना या नाम की ओर प्रवृत्त होना मुह्र भानक विचारबाध के अनुसार, जीव के निजी अधिकार नहीं है। जीव के घुम कर्मों उब-विचारों और सदाचाठी-वृत्तियों को बेचकर यदि सत्पुरुष दया करें केवल उमी जीव को इस विश्व में किसी सगुरु का साथ मिल सकता है। सतिगुरु नाम का जहाज लिए भव सागर से पार सपाने वाली उत्कृष्टतम विमूर्ति है। जिस पर उसकी कृपा-दृष्टि पड़ी वही संसार-नागर में डूबते-डूबते बचा लिया गया नाम के जहाज में बिठाकर उसे पार लपा देने का आश्वासन मिला। अब प्रश्न उठा दुनिया के जहाजों का कोई आकार होता है वे पवन या जप से सागर में चलते हैं—इस नाम के जहाज का क्या आकार होया ? कौसी पवन या भाव इसे लेने में प्रयुक्त होयी ? उत्तर देते हुए मुह्र भानक फरमाते हैं—

तिरये पबनु न पाबको ना जनु ना आकाव ।

तिरये सबा सबि नाइ मबजत तारवहाव । २ : २ ।

अर्थात् नाम के इन जहाज पर सांसारिक पदनों (विषय-विकारों की आंधियों) अंधियों (तुप्पा की) या प्रबाहों-भँवरों (काम जोबादि) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो मबनापर की विद्वृत्ता के विरुद्ध जीव का संरक्षण है। नाम के जहाज और सगुरु के संरक्षण में बँठा जीव भयानकतम तुप्पानों से भी बचता नहीं। वह सत्य नाम के आश्रय निर्भय होता है। गुह्र-रूपा में उसके भीतर का अहमाव मज हो चुकता है इसलिए वह नाम जप में भी मूह चित्त सपाना है। जैसा कि पीछे के अध्यायों में बताया जा चुका है नाम के साथ नामी का सम्बन्ध होने के कारण वह बाहिगुरु में समाहित हो जाता है। उठते बटने चलते सेठने गाते-पीते उसका प्यान निरन्तर परम-पुरर में लपा रहता है। ऐसा जीव जीते जी इस ससार से मुक्त होता है उसका जग-जरन-बक हूँ जाना है। उसका महेशवाणीनी आत्मा प्रियतम में ही

विभीन हो जाने के लक्ष्य की ओर बढ़े वेग से बढ़ता है। जीव आन्तरिक-ज्योति को परम-ज्योति में विभीन कर देना चाहता है। उस आध्यात्मिक कुमारी में मर्बाब जीवात्मा बाह्यगुण से पैदा पाने के लिए अब हृद्य-ध्वनि और नाम-स्मरण के आश्रय गुरियापद से भी ऊपर उठ जाता है—लेकिन कोई विरल गुरुमुख आत्मा ही वहाँ तक पहुँच सकता है। स्वयं गुरु नामक लिखते हैं—

तरी गुणा में सहज न रूपबै, तरी गुण परम भुभाए ।
 चौथे पर में सहज है गुरुमुख पत्मे पाए ।

त्रिभुक्ति-माया के देह का त्याग कर, बसनें द्वार के पार अब जीवात्मा पहुँचता है तो परम-ज्योति उस सत्यपुरुष को पा जाता है उसी में समा जाता है। उसका समस्त पुनिया का हिसाब-किताब बुझता हो जाता है कर्म बन्ध का बन्ध होता है और वह मुक्तआत्मा होकर चिर-समागम् (सहबावत्त्वा) का परमानन्द नाम कर लेता है। भिखा भी है—

गुरुमुखि लंघे से पारि पर सचै सिद्ध सिद्ध लाइ ।
 भावागन्धु निवारिजा जोती ज्योति भिखाइ ।

परन्तु कौन होगा वह माम्मशाली जो आध्यात्मिकता की इस ऊँचाई तक पहुँचेगा? गुरु साहित्य फरमाते हैं वही जो गुरु को प्राप्त कर लेगा उसके आदेशों के अनुसार नाम की कमाई करेगा और सबैक अपने अहंभाव-बिहीन चित्त को सत्य में स्थिर रखेगा—

गुरुमती सहजु जपबै सचै रहै समाइ । ३ २ ।

सार यह कि शरीर-विजर में बन्ध आत्मा स्वी और अब तक पुनिया की बोधियाँ बोलता है अन्तर में बरसने वाले सम्भामृत की कपेला मन के संकेतों पर विषय-विषय-याग करता है सब तक प्रभु-निमन या मोक्ष तक उड़ान भर सकता उसके लिए कदापि धम्मब नहीं। परन्तु यदि वही आत्मा-शरीर मन के सूर्य-ज्येष्ठ को पहचान और पुनिया के आस्वाहनों का त्याग कर सत्य-नाम का शान्त बुने और सम्भामृत का पाग करने लगे, तो उसकी उड़ान में वह शक्ति का सकती है कि वह सतबोक तक की ऊँचाई को पा जाय—

सहजु निजर प्रेम सँ जोसै जोसकहाए ।
 सचु ज्यै धंभुत पीए जईत एका बार ।

यहाँ गुरु नामक एक बार फिर धैर्यवती बिए बैठे हैं कि जीवन-यातना से घुटकाप पाने की स्थिति से लेकर प्रभु को पहचानने तथा जबसापर से पार हो

जाने या मोक्ष पा जाने तक एक ही व्यक्तित्व की कृपा और महत्ता का छाया रहना आवश्यक है—वह है गुरु। कोई सच्चा गुरु जीव का सहायक बने तो वही उसके बस्तर के बर्तु की मस काट सकता है। तब जीव यदि गुरु द्वारा बताए गए नाम-रहस्य को समझे तब वह ध्वनि और धाम-स्मरण में एकाग्र हो गुरु तथा ब्रह्म की कृपा प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करते तो निश्चय ही वह 'सर्वम' (सर्वरूप) में विभिन हो सकेगा। गुरु नामक इसी को वास्तविक मोक्ष का मार्ग स्वीकार करते हैं—

गुरि मितिये जतमु पछाभीये कहू नामक मोक्ष बुमार । ७ २ ।

परिशिष्ट-१

गुरु नानक साहिब की जीवन-यात्रा

भईं पत्तानि जपल बिच, चार बरस आधम जपल ।
बस नाम संख्यासियां जोगी ब्राह्म पंच जलाए ।

× × ×

मुनी पुकार बातार प्रभु, मुब नामक जय भाहि पठाया ।
बरस बोई रहिगत कर बरबाभुन सिबदां पीलाया ।

(बार—भाई गुरुवाल)

नम और माता-पिता

विश्व-यातना से पीड़ित लोगों पर कृपा कर, उनके उद्धार के लिए प्रायः समय पर ज्योति-सुत्रों का अवतरण इस नगर अगत को विसेप विभूति रहा है। ऐसी महान्-विभूतियों में एक ऐसीप्यमाण ज्वाला १२वीं शती में भारत के उत्कालीन स्थानिक संघमय राज्य, पंजाब में उचित हुई। वे गुरु मानक थे। गुरु मानक साहिब^१ का जन्म संवत् १२२६ (१२ मार्च १४६३) के वैशाख मास शुक्ल-पक्ष की तृतीया

१ (क) Encyclopaedia of Religion & Ethics Vol. IX में लेखक ने लगभग १०० वर्ष पूर्व अमृतसर में सिखी किरी जन्मसाथी का हवासा देते हुए गुरु मानक को राजा जनक का वलियुग में हुआ अवतार माना है। यह अशुद्ध धारणा है। उक्त जन्मसाथी में सम्भवतः ऐसा सिखा गया है कि जिस प्रकार महा युग में राजा जनक ने संसार की पीड़ित जनता के सामने गृहस्थी-योनी का मार्ग रखकर उन्हें समार्ग पर लयाया या देखा ही वलियुग में गुरु मानक ने किया। इसमें कोई शन्देह नहीं कि प्रभु अपने शीकों को रखारं श्रवा से ऐसे महानुष्यों को बुनिया में भेजने की परम्परा बनाए हुए है और राजा जनक या गुरु मानक उसी परम्परा के भिन्न पड़ाव थे।

(ख) गुरु मानक की शीकनी अनेक जन्मसाथियों में लिखी गई है। यहाँ से अति-भावकम इन साक्षियों में उनके शीकन का कुछ बढ़ा-चढ़ा कर विस्तृत वर्णन किया है। यहाँ तक कि वही-वही उनमें सम्मिश्रित घटमाएँ अति-मानवीय शक्तों तक भी पहुँची हैं। इन आज के वैज्ञानिक युग में गुरु मानक के प्रति अखण्ड यथा रखने हुए भी ऐसी बातों को यहाँ स्पष्ट न देकर संश्रय में उनका शीकन चरित ही लिखे।

२ गुरु मानक साहिब को प्रचलित जतमत गुरु मानकदेव के नाम से स्मरण करता है। परन्तु किम्बतन सटीके पश्चिमी सिखों ने उनका नाम मानक सिंह अथवा मानकसाहू मिला है जोकि अशुद्ध है। (Religious Sects of Hindus H Wilson P 367) सिख-गुरुओं की परम्परा में किसी भी महारामा के नाम के साथ सिंह का प्रयोग नहीं हुआ। केवल इतम पाठगाही गुरु पावित्र्य के अब वर्म रखारं परिस्थितिकत मुयलमानों के विरुद्ध अपने शिष्यों को शीर बनने की प्रेरणा देनी चाही और धाममा-नंद की तीव्र रती तभी जहाँदे शक शिष्यों के (यप अगत पृष्ठ पर)

की साहीर मयर के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ३० मील दूर एक पाँच तमबड़ी में हुआ था। उनके पिता का नाम कासू और माता का नाम तुप्ता था। यद्यपि कहींक से इन दोनों का नाम सेवाराम और बिनासी या बनारसी^१ स्वीकार किया है तथापि प्रचलित स्रोतों एवं स्वयं मैकॉलिफ^२ ने पूर्वोक्त नाम ही सुद्ध माने हैं। इनके पिता मेहता कासू लखियों की बेवी उपजाति से सम्बन्धित थे और तमबड़ी पाँच के जमींदार रावबुनर^३ की जमींदारी में ही पटवारी का काम करते थे।^४ गुरु नानक की माता तुप्ता के पीहर के सम्बन्ध में भिन्न मत उपलब्ध हैं। कनिंघम ने कान्हा-काछा के कस्बे में और श्री परशुराम बनुरेदी^५ ने बारी के बोमाब के प्रदेश में कहीं तुप्ता का पितृग्रह होता स्वीकार किया है और उनके पिता का नाम राम सिखा है। अस्तु, जिस पाँच में गुरु नानक का जन्म हुआ था कुछ समय तक उसका नाम रामपुर भी रहा और जन्मतः गुरु का जन्म स्वात होने के कारण उसका नाम 'ननकाना-साहिब' पड़ गया। बाद में जन्म-स्वात पर एक बड़ा गुच्छारा बनाया गया और उसकी गणना हिन्दुओं तथा सिक्खों के मुख्य-पवित्र स्थानों में होने लगी। यद्यपि आज वह स्थान पाकिस्तान

(शेष विस्तार पृष्ठ का)

एवं अपने लिए भी नाम के साथ 'गिह' (बीरछा का प्रतीक) शब्द का आयोगन किया। गुरु नानक के लिए 'साह' शब्द का प्रयोग मुसलमानों की रीत है। यह शब्द फारसी में राजा महाराजा या मुखिया के लिए ता प्रयुक्त होता ही है साबही मुफ्तियों ने इसे महान सूफी या मुफ्तियों में जन्म के लिए ही प्रयोग किया है। 'साहिब' अरबी शब्द है जिसका अर्थ है मासिक बचका उपपुत्र।

१ S. M. Latif History of the Punjab p 241 ये दोनों नाम गुरु नानक के दादा दादी के माने हैं—(The Gospel of Guru Granth Sahib-Duncan Greenleaf)

२ Macauliffe Sikh Religion Vol I p 1

३ रावबुनर तमबड़ी के प्रथम जमींदार राई भोई का वंशज था और रावबुनर मुसलमानों के भट्टी कबील से सम्बन्ध रखता था।

४ कनिंघम ने इन्हें पाँच के साधारण-व्यापारी लिखा है। Cunningham's History of Sikhs p 39

सहज-मुलायमीन में मेहता कासू को कानाक का व्यापारी कहा गया है। (Quoted by Cunningham.)

जबकि Encyclopedia of Religion and Ethics Vol IX में इन्हें एक ही समय साधारण-व्यापारी बुचक और पटवारी मान लिया गया है।

५ उत्तरी भारत की सप्त परगण पृ २२०।

के प्रदेश में था चुका है तो भी प्रतिवर्ष काठिन-पूर्णिमा को अनेक हिन्दू-सिक्ख बहो मुरझारे के बरानों को बाते हैं।

बचपन और शिला—गुरु नानक के अम्मावसर पर ही उनके कृम-पुरोहित ज्योतिषी हरदयाल ने इनकी महानता के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी। वे बचपन से ही बड़े शास्त्र स्वभावी और एकान्त-प्रिय जीव थे। अत्यन्त छोटी आयु में ही जब बच्चे बचन बचन और खेल प्रिय होते हैं, नानक को प्रायः एक मोर विचार-मग्न बैठे देखा जाता था। बचपन से ही साधु-महारामों के प्रति उन्हें सगाव-सा था। उनके घर से कभी कोई साधु बिना कुछ पाए न सौंटा। वे माता-पिता से बिड़ करके भी उसे कुछ न-कुछ दिना ही देते। पाँच या साठ^१ वर्ष की आयु में इन्हें पाँच के प्राइमरी स्कूल में भेजा गया जहाँ वे कुछ भी न सीख सके। पुस्तकों की ओर उन्हें रुचि न रही। एक बार उन्हें बम्भोर-बिठ बैठे देखकर जब अम्मावसर ने कारण पूछा तो 'मुझे केवल व्यापारिक-विषयों में ही रुचि है कुछ ऐसा उत्तर पाकर वह स्तम्भित हो गया। गुरु नानक को हिन्दी संस्कृत तथा फारसी तीनों भाषाओं का व्यापक हारिक ज्ञान दिया गया। अंकन घीनसेठ लिखते हैं 'ऐसा माना जाता है कि गुरु नानक का हिन्दी-मिलक कोई गोपाल-नामा नाम का व्यक्ति था। संस्कृत उन्होंने किन्हीं पंडित बुजुर्ग से सीखी और मौलवी सय्यद हुमान नामक व्यक्ति ने उन्हें फारसी और अरबी दोनों का ज्ञान कराया'^२ कनिष्ठ किसी फारसी हस्तलिखित जीवन-कथा का हवाला देते हुए गुरु नानक के प्रथम अम्मावसर का मुसलमान होना स्वीकार करते हैं।^३ इसी अम्मावसर से गुरु नानक ने फारसी सिपी के प्रथम अक्षर, जाकि सनभग सीपी सड़ी लकीर की भांति होता है (असिक) का अर्थ पूछकर उसे विस्मित कर दिया था। उनके जाने विचारानुसार यह बलिऊ 'दिवनीय इकाई का प्रतीक है।'^४ सय्यद हुमान का बर्नम 'सदल मुनाखरीन' (L, 110) में भी उपलब्ध है। वह इनके पिता का पहीमी-मित्र था। पनवान और निस्सन्धान था इसलिए शासक गुरु नानक से उसे प्यार था। इस व्यक्ति ने इन्हें कुरान एवं सुन्नी धर्म का पर्याप्त परिचय दिया।

१. गुरु नानक के अठारारम्भ के समय पर भी सर्वथा प्राप्य नहीं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी (उत्तरी भारत की संघ परम्परा पृ० २६०) पाँच वर्ष की आयु में तथा श्री इंकन घीनसेठ (The Gospel of Guru Granth Sahib p (XXXV) साठ वर्ष की वय में इनका मरने का स्वीकार करते हैं।

२. Gospel of the Guru Granth Dusan Gretaless Foot note p p. XXXV

३. Cunningham's History of Sikhs: Edited by Garret p 39

४. ईना-यमीहू के सम्बन्ध में भी ऐसा प्रतिज्ञ है कि जब वे १२ वर्ष के थे तो इन्होंने अपने अम्मावसरों को बचपना के बाराओं का अर्थ समझाया था।

मैल्कोम के अनुसार, मुसलमानों में यह भी प्रचलित है कि गुरु नानक ने सब प्रकार के शैतिक-विज्ञानों की शिक्षा खिज़र अर्थात् पयम्बर अलियास से प्राप्त की।^१ कुछ भी हो यह एक तथ्य है कि गुरु नानक के शिक्षक मौलवी और पंडित दोनों ने परन्तु कोई भी उनकी महान् विचारधारा का पोषण न कर सका और ना ही उन्हें किसी प्रकार के क्लिष्टाधीन ज्ञान से संतुष्टि ही हुई।

सन् १४१५ के आसपास इनका जन्म संस्कार सम्पन्न किया गया। सब प्रकार की क्षमार्थें हो बुढ़ने के पश्चात् जब पुरोहित जनेऊ पहुँचाने गया तो गुरु नानक ने स्पष्ट इन्कार कर दिया और कहा कि उन्हें तो क्या और संतोप का ऐसा पाया चाहिए, जो सब इनका मानसिक सम्बन्ध बना रह सके और कालान्तर में ईश्वरीय-निकटता का साधन बने।^२ इस प्रकार की अनेक बातें गुरु नानक के बचपन के सम्बन्ध में जन-मृति कथ में प्रचलित हैं। कहते हैं आठ-नौ वर्ष की आयु में ही वे पौध के बाहर बीहड़ जंगलों में चले जाते थे और पट्टी बहाँ बँटे आत्म-चिन्तन करते रहते थे। ऐसे ही जंगलों में उनका कुछ पढ़ेंगे हुए महात्मानों से मिलन होता स्वीकार किया जाता है। यद्यपि इस तथ्य का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं तो भी इसका शीघ्रत्व मान्य है, क्योंकि उत्तरोत्तर उनका आध्यात्मिक-चिन्तन परिपक्व ही होता गया।

कुमारबस्पा तथा जोबन काल—गुरु नानक की साधुओं के पीछे आबासागरीं एकान्त-चिन्तन हर समय ईश्वर-सम्बन्धी बात चीत सरीली आरतों को बेकरार मोय इन्हें पावन समझने लगे थे। तथापि माता-पिता की यह हार्दिक-दृष्टि थी कि उनका इकतीठा-गुरु उनके चरण-चिन्हों पर चसता हुआ एक भना वृहस्वी गणरिक्त बने। परन्तु गुरु नानक ज्ञान किसी भी काय व्यवसाय अथवा व्यवसाय को ठीक ङग से निमाना न जानत थे। वे प्रभु के विशेष जीव थे उन्हें प्रभु के कार्यो बातियों और भजन-स्मरण में ही आनन्द मिलता था। पढ़ाई में उनकी रचि न देन पिता कानू ने उन्हें सेती-बाड़ी के कार्य में लगाना चाहा परन्तु अस्वकृत रहे। वे सतों में जाते और पलियों से सतों के बचाव का ध्यान करन के बजाय साधु-मण्डलियों में शामिल

1 According to Malcolm (Sketch p 14) Nanak is reported by the Mohammadans to have learnt all earthly Sciences from Khizar Le Prophet Elias.

—Foot Note p. 39 Cunningham's History of Sikhs,
Edited by Garret

२ नौव मनिए पठ उगर्जे नापाहि सब सुत।
बरो अम्बर पाइए, तय न तुटम् पूत।

—ग्रन्थ साहिब धासारीबार।

होकर हरि-मुग गाते फिरते ।^१ एक समय इनके पिता ने इन्हें भैंसें चराने का कार्य सौंप दिया । एकाच दिन ठीक काम किया भी परन्तु दूसरे ही दिन भैंसों की शोक से उशाहीन हो वे हरि-भजन में लग गए । भैंसों किसी की तय्यार फसल पर गईं । निकायत हुई तो मेहता कासू और गुरु नानक को जमीन्दार रामकुमार के सम्मुख पेश होना पड़ा । कहते हैं कि जब कुमार ने स्वयं खेतों को देखा तो वहीं कोई चरा हुआ चिह्न न पाकर उसे बड़ी हैरानी हुई । (कंठ साहिब) कभी से वह नानक के महत्व को समझन लगा और उसने कासू से भी कहा कि गुरु नानक के देव में कोई महान आत्मा उसके घर में उत्पन्न हुई है—वह उसे कुछ न कहा करे । परन्तु बेचार सामान्य पिता अपने पुत्र से न जाने क्या क्या दुनियावी आचार्य लगाए या विभागीय-गाली-गाली से बारबार उसे किसी बंधे में समाने के सपने देता परन्तु स्वयं ।

अन्ततः लोगों के कहने सुनने पर गुरु नानक को दुनियावारी में डकेलने में लिए, मेहता कासू ने अपने अमाई भाई जयराम के विमर्श से प्रथम अगस्त १५८३ की उनका विवाह बटाखा के एक सत्रिय बाबा मूसा की कन्या मुलबसती से सम्पन्न कर दिया । यह विवाह भी एक प्रकार से कमपूर्वक नानक के माय में विघ्न डालने का आयोजन था । इससे उनकी जीवनचर्या में कोई अन्तर न आया अतः पति-पत्नी के सम्बन्धों को किसी भी रूप में आशय नहीं कहा जा सकता । यहाँपरिष्कार के मतानुसार यदि गुरु नानक को उनकी इच्छा पर छोड़ दिया जाता या उनके माता पिता उन्हें बाध्य न करते तो बहुत सम्भव था कि वे मनुष्य के इस कर्तव्य (विवाह) की शोक प्यास ही न रहे ।^२ विवाहोपरांत भी वे अपनी पत्नी में आसक्त न होकर प्रभु धनुराय में ही निष्ठ रहे । पत्नी अपिचत्तर पीहर में ही रहने लगी । कभी घाटी लं इनकी ओर में उसे उधेधा-वैसा व्यवहार मिलता । इनकी माता तृप्ता इन्हें मूक टोली । कभी-कभी वह वा पग लहर इन्हें बुरा-भसा भी कह देती परन्तु ईश्वर के प्यारे शीशों पर दुनिया का क्या प्रभाव ! माता इन्हें रागी समाने लगी । बेट बुलाया गया परन्तु गाड़ी बगते हुए बँच को 'मुग केरन राम-नाम का ही राग है' कह कर गुरु नानक न चुन करा दिया । बार न इनकी आध्यात्मिक बातें सुनकर बँच बड़ा प्रभावित होकर बला पया । लविन पिता कासू को कुछ संतोष न हुआ ।

१ गीत बुये जाने से उनके गाने से से हर्ष ममन ।

बर पर पेट बुगो पी बिड़ियो हरि की बिड़ियो हरि के गन ॥

गुरुद्वय मैदिनीकरण पुत्र ।

2. If Nanak had been left to his own discretion, and if his marriage had not been made for him by his parents it is most probable that he would not have turned his attention to that part of man's duty —M. A. Macauliffe Sikh Religion Vol. I p. 29

आश्चर्यकार एक दिन समझा-बुझाकर नानक को उसने व्यापार करने हेतु ठीमार कर लिया और २०) रुपये देकर गुरुद्वारा (बिना गुरुवाला) में जाकर नमक और अन्य सामान खरीदने को कहा। नानक अपने धरतु गौकर बासा के साथ पर से चल पड़े। परन्तु माग में भाबुओं की एक घोषी से मिताप हो जान से गुरु नानक उसके साथ मिलकर हरि-गुरुद्वारा में लग गए और सारी रकम उन सामुओं की सहा में ही खर्च कर दी। यद्यपि बासा न इसका विरोध भी किया परन्तु उसकी कोई मुनवाई न हुई। अब गुरु नानक पानी हाम घर लौटे और 'अत्युत्तम व्यापार' करने की सूचना उन्होंने पिता को दी ता उसकी पिटाई के साथ ही मैहटा कासू ने अपना सिर भी पीट लिया। इस पर गुरु नानक चिढ़ कर घाम से बाहर जाकर एक पेड़ के नीचे बैठ गए। वह पेड़ अभी तक सुरक्षित है उसे चारों ओर से दीवार से घेर दिया गया है और उसे 'करीर साहिब' कहते हैं।

सन् १४९७ में गुरु नानक के यहाँ प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम श्रीचंद' रखा गया। तीन वर्ष बाद में सन् १५०० में दूसरे पुत्र सखामिचन्द का जन्म हुआ। अब इहस्मी का पर्याप्त बोझ नानक के कंधों पर आ चुका था और उनका दिनोदिन बढ़ता हुआ जामत्य परिवार का सिर बर्न बनता जा रहा था। आश्चर्य स्वयं रामपुर ने इन्हें समझाया कि पत्नी-बच्चों की पालना और पारिवारिक-बोझ उठाने में मैहटा कासू का हाथ बटाने के लिए ब बेटी का काम ही करें। परन्तु गुरु नानक ने उत्तर दिया कि उन्होंने अपने लीरकरी बेठ में हरि-नाम की ऐसी फलन जो दी है जिससे समस्त परिवार को लाभ होगा। इसी प्रकार इन्हें बुकान बचामे भोड़ों का व्यापार करन आदि के कई सुझाव समय-समय पर दिए गए परन्तु प्रकृत-समन गुरु नानक ने इनमें से किसी में बर्न न किया।

सन् १५०४ में गुरु नानक के बहनोई भाई जयराम जो कि मुजतानपुर में नबाब दोसत जी सोधी के समान्तरा रूप में काम करते थे अपने स्वगुरु मैहटा कासू का मिलने लसर्बडी गए। वे समझत थे कि गुरु नानक मरुत्मा हैं। घर में उनके साथ होने वाला दुर्घटनाएँ उन्हें सहा न था अतः उन्होंने गुरु नानक को अपने साथ मुजतानपुर में जाने की इच्छा प्रकट की। उपर गुरु नानक के माता-पिता ने भी सोचा कि सम्भवतः बहू जाकर उन्हें सरकारी नौकरी मिल जाय और उनका बिल को बचन जाय यह प्रस्ताव उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। इस प्रस्ताव का विरोध या बिध्न हुआ गुरु नानक की पत्नी मुलरतमी की ओर से। वह भी साथ जाता चाहती थी परन्तु गुरु नानक ने उन्हें समझा-बुझा कर बही रहने को राजी कर लिया और अपने बहनोई भाई जयराम के साथ मुजतानपुर चले गए।

मुजतानपुर में अयराम ने गुरु मानक का परिचय नवाब दीसत खाँ से कराया और उसने उन्हें मोदीखाने (स्टोर) का मुखिया नियुक्त कर लिया। यहाँ गुरु मानक ने शान्ति से कार्य करना शुरू कर दिया। काम-काज से जो समय बचता वह हरिमन्दि में लगाते। प्रति दिन प्रातः काल बर्ड नदी में स्नानकर घंटों के ईश्वर का ध्यान करते। जो बैठन उन्हें मिलता उसमें से अपने निर्वाह-योग्य रखकर शेष सब गरीबों और बिबियों में बाँट देते। इन्हीं दिनों इनके गाँव का एक मुसलमान मराठी मरवाना भी इनके पास चला आया। वह रबाब (पायसिन की प्रकार का एक मात्र) खूब अच्छा बनाता था। वह इनके पाम ही रहन लगा। निरप्य प्रति वह रबाब बनाता तथा गुरु मानक माबाबेग में हरि भजन गाते। इसी में जीवन का अन्यतम मुक्त उन्हें उपलब्ध था। यहाँ मोदीखाने में कार्य-रत होत हुए भी यदि कमी के भाबाबेस में आ जाने तो सब कुछ छोड़ कर हरि-नाम का गात करत थे। उनका कार्य सराहनीय और ईमानदारी पूरा था। अतः अल्प शीघ्र पाकर उनसे ईर्ष्या भी करने लगे थे। एतन्नि गुरु मानक आत्मा तोस रहे थे। वे बितनी बार तराजू में माटा भरते वह संख्या साब-साप बोले जा रहे थे। तेरह की संख्या तक पहुँचते-पहुँचत उन्हें माबाबस हो आया और वे आये गिनना भूलकर बार-बार तेरह तेरा तरा में तेरा ही बोहराते रहे और इस प्रकार आश्चर्यता से कही अधिक माटा उन्होंने चुका दिया। इस पर ईर्ष्यालु साबियों ने नवाब के पास शिकायत कर दी। यों भी वे साबु सन्यासी फकीरों को आटा बाँटते रहत थे। अतः परीक्षण आरम्भ हुआ तो किसी वस्तु में कोई कमी न मिली। परन्तु मन्त्रह क बातारण में मानक का मन एक रम उखाट हो गया। २० अगस्त सन् १५०७ को प्रातःकाल के जब नदी से नहाकर निकसे और हरि भजन में बैठे तो कहने लगे उन्हें अन्तर्भाव का स्पष्टीकरण हुआ और मठपुरव्य ने उन्हें आश्चर्य ही कि वे बुनिया को मलाई और मन्त्राई के माग पर लपारें। इसने कुछ दिन बाद उन्होंने नौकरी छोड़ दी। नवाब ने बहुतरा आहा कि वे न कार्य परन्तु वे न माने और मितम्बर क आरम्भ में ही अपना यात्रा वासा शेष बनाता आरम्भ कर दिया। 'न कोई हिन्दू ना कोई मुसलमान' कहकर उपदेश देना आरम्भ किया। मुजतानपुर के नवाब और काजी ने इनके इस विचार की परीक्षा

- १ इस शेष की यह बिगपना थी कि वह किसी बिभय बम या सत्रशाय से सम्बन्धित न था। फिर पर बालम्बरी बंग की टोपी या पन्नी पहाने से सलाह पर शिन्दुओं की भाँति बैंगर का तिमरु लगाते थे और गले में हडिहियों क मन्त्रों की एक मामा डाम लेत थे। शरीर पर नाम या नारंगी रंग की आबत रानी और उम पर एक कपड़े कापर डालते थे।

सेने के लिए इन्हें अपने साथ नमाज पढ़ने को आमन्त्रित किया। इन्होंने सहर्ष स्वीकार भी किया। परन्तु जब सब सोग सिद्धों में झुक तो वे शान्त भाव से योंही खड़े रहे। अन्त में पुछने पर हँस कर कहने लगे 'तुम सोग तो स्वर्ग नमाज नहीं पढ़ते थे मैं तुम्हारे साथ कैसे घामिल होता—क़ाबी साहब का ध्यान गढ़े के समीप बंधे बछेरे में था कि वह कहीं गिर न जाए और नमाज काबुल से बोड़े खरीदन के क्याम में अस्त थे—फिर भसा मैं जिसके साथ नमाज पढ़ता। इस कथन ने दोनों को स्तम्भित कर दिया। उन्हें अपनी यह भूल स्वीकार करनी पड़ी। तत्पश्चात् पुत्र गानक सुततानपुर के लोभो को उपदेशामुत्त पान कराते हुए अपने सामियों वाला (पुराना बरेलु लीकर) और मरदाना (मुगलमान रबाबी जो मानक के साथ रहता था) के साथ पुत्र की प्रथम यात्रा पर निकल पड़े।^१

यात्राएँ

(१) प्रथम यात्रा आरम्भ करने से पुत्र पुर मानक अपने माता-पिता को मिलन लसबेड़ी गए और वहीं से यात्रा का वास्तविक श्रीगणेश हुआ। लसबेड़ी से चलकर मुद्र मानक सैयदपुर (वर्तमान ऐमनाबाद) पहुँचे। वहाँ इनके एक खजातीम भाई भायो ने इन्हें अपने पास भोजन पर आमन्त्रित किया परन्तु मुद्र मानक एक परीच सूत्र बड़ई लालो की कुटिया में सेहमान बने। इस पर लोगों ने मुद्र मानक द्वारा जाति पाति त्याग का बड़ा विरोध किया परन्तु वे अविचलित रहे। भायो की शिकायत पर उन्होंने स्पष्ट कहा कि मासो की गाड़े-मछीने की कमाई रोगी बेईमानी और झूठ के व्यापार में कमाए वन से अनेक गुना अच्छी है। इसमें परीचों का रक्त और उसमें प्रेम एवं बया का अमृत विद्यमान है। लोगों ने मुद्र मानक का बर्ण-विरोधी प्रचार

१ मुद्र मानक ने परम-सत्य को ज्ञान का और उनकी यात्राओं का उद्देश्य उची सत्य की प्राप्ति हेतु लोगों को प्रेरित करता था। उन्होंने 'सत्य की खोज में यात्राएँ नहीं की। वनिपत्र ने लिखा है "In a moment of enthusiasm the ardent inquirer abandoned his home and strove to attain wisdom by penitent meditation by study and by an enlarged intercourse with mankind."

Cunningham's History of Sikhs Edited by Garrett. p. 40

परन्तु यह बात मानक के सम्बन्ध में उचित नहीं पकती। वे तो सृष्ट्य में रहने सदाचारी-संयमी जीवन और नाम-स्मरण द्वारा मुक्ति का आयोजन प्रस्तुत करने वाले महात्मा थे—फिर भसा वे बाहर जावने क्यों जायेंगे? हाँ उन्हें सत्संग अति प्रिय था पुनः उन्हें बुनिया की सम्मार्थ विद्याना था—और वे दोनों उद्देश्य भ्रमण से पूर्ण हो सकत थे अतः उनकी यात्राएँ।

स्वीकार किया। दो चार दिन वहीं मजदूर-संलग्न कर नानक आये बड़े। माग में एक यात्रारण गाँव में गुरु नामक की भेंट सुखन नामक एक व्यक्ति से हुई, जो लोगों को चिकनी बुपड़ी बातों से अपने यहाँ ठहरा लेता था और रात में सोने पर उनका बदन हलक कर लेता और उन्हें मार कर कुएँ में फेंक देता था। गुरु नामक के सम्बन्ध में भी उसका ऐसा ही विचार था परन्तु उनके उपदेशों और मन्त्रों का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने अपना मार्ग बदल लेने की प्रतिज्ञा की। बाद में गुरु नामक के कहने पर उसने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ती गरीबों में बाँट दी और स्वयं एक नये व्यक्ति की तरह परिश्रम का व्यवसाय करना तथा भजन-स्मरण में जीवन व्यतीत करना स्वीकार किया। यह घटना गुरु नामक की महानता की कतिपयी पुष्टता पर अतिथीय विद्यमान थी।

इसी प्रकार माग में सब को उपदेशामृत-वितरण करते हुए गुरु नामक सूर्य ग्रहण के अवसर पर कुरानेन पहुँचे। वहाँ अनेक प्रकार के साधु-मंतों से मत्स्य और प्रभु चर्चा करी। कुछ दिन बाद वे हरिद्वार आए। मेला लगा हुआ था और प्रातःकाल भोग रमा में स्नान कर पूर्व-दिशा की ओर मुह किए पित्रों को तर्पण दे रहे थे। वह देख कर गुरु नामक को उन पर दया हो आई, और उन्हें ठीक मार्ग भुलाने के लिए उन्होंने विभिन्न युक्ति सोच निकाली। वे स्वयं भी मदी में घुस गए और पश्चिम दिशा की ओर मुह किए पानी उमीचने लगे। लोगों ने इन्हें पागल समझा परन्तु पूछने पर उन्होंने वे मार्मिक उत्तर दिया। कहा मैं पश्चिम में दूर अपनी सूखी देखी को पानी दे रहा हूँ। "यहाँ से बेटी र्म पानी क्योंकर पहुँच सकता है। क्यों यदि तुम लोगों द्वारा पूर्व में फेंका पानी परमोक में तुम्हारे पूर्वजों को मिल सकता है तो मेरा पश्चिम में फेंका पानी इसी लोक में मेरी बेटी को नहीं मिल सकता" ? इन संवातों का प्रभाव कुछ लोगों पर बड़ा गम्भीर पड़ा। वहाँ भी प्रभु-साहिबा की बातों पर दुनिया को मुनाते हुए कुछ दिन बाद गुरु नामक आये जसे। रिस्ती की ओर बढ़ने का निश्चय किया गया था अतः हरिद्वार से वे पहले पानीपत पहुँचे। वहाँ एक प्रसिद्ध पीर की दरवाह पर पहुँचे तो वहाँ के लोग ने इन्हें 'असलाम-मिकम (प्रभु तुम्हें खान्ति दे) कह कर अभिवादन किया। गुरु नामक ने इनका उत्तर 'असलाम-आमेन' (अहम्य के नाम अठावली) से दिया। उत्तर सुनकर पीर को बड़ा विस्मय हुआ और वह गुरु नामक की प्रयोक्ति को पहचान कर उनका मुदीह बन गया। पानीपत की बगला की भी गुरु नामक ने उपदेश दिया हरिद्वार की एकटा नाम-स्मरण की महत्ता और नवाबारी जीवन का अन्ततम स्वरूप लोगों को समझाया—और अपने मार्ग पर आगे बढ़ गए।

गुरु नामक देहली पहुँचे। वहाँ के लोग इस विचित्र वेपथारी संयासी के देखकर हैरत में परन्तु शर्गांग के प्रेमी गुरु नामक भूमते-फिरने भयक-प्रजनन माते अपना गन्देश मुनाते लगे जा रहे थे। उन्हीं दिनों वहाँ के बादशाह निबखर सोर्ब

का हाथी मर गया। गुरु नागक फिरले हुए उस स्वयं पर पहुँच गए, वहाँ हाथी मरा पड़ा था। कहते हैं इन्होंने उस हाथी को पुनः जीवित कर दिया। यह वृक्ष कर सोमों को बड़ी हैरानी हुई और यह सूचना बादशाह तक पहुँचाई गई। वह स्वयं आया और उत्सुकतावश उसने हाथी को पुनः मारकर जिमाने की प्रार्थना की। इस पर गुरु नागक ने हाथी को मरा ही रहने दिया। मारना-जिमाना ब्रह्माह का काम है मैं उसके हुकम में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। कहकर बादशाह को विचार में डाल दिया। उत्सपचात् गुरु नागक ने सिक्न्दर सोभी को भी उपदेश दिया और वृत्तावन गोरक्षमठ होते हुए बनारस का मार्ग पकड़ा। बनारस पहुँच कर अनेक साम्प्रदायिक नेताओं से इनकी पर्चा हुई। आश्चर्यों और कर्मकाण्ड के विरुद्ध गुरु नागक ने वहाँ समकार प्रस्तुत की। बहुत से किताबी विद्वानों और पण्डितों को सत्यताम का मार्ग दिखाया सोमों को उपदेश दिया और महारत्ना की पृथ्वी की पुण्य धरती को छोड़ भाष्य के अतीव पूर्व की ओर प्रस्थान किया।

जलते जलते वे कामरूप (धरम) पहुँचे। उन दिनों कामरूप और बंगाल में जादू-टोने का बहुत रिवाज था। औरतें जादू द्वारा मरों को बन्दर की तरह लपटाती थीं। कामरूप की तत्कालीन महारानी ब्रह्माह ने गुरु नागक से ऐसा ही व्यवहार करना चाहा। उसने अनेक जादू-टोनों की सहायता से गुरु साहिब का अपनी ओर आकर्षण कर पकड़ करना चाहा परन्तु सब व्यर्थ। वे अनुमती महारत्ना प्रभु की विशेष कृपा के बरकत-हस्त की प्रतिष्ठाया में सुरक्षित थे उन पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव न पड़ा। अन्ततः संय आकर स्वयं रानी ब्रह्माह गुरु नागक के चरणों में पहुँची और आदेश माँगा। गुरु नागक ने उस जादू-टोने के व्यवहार का त्याग कर जगद्गुरु-स्मरण का उपदेश दिया। यहाँ से भी भागे जाने का विचार गुरु नागक का था परन्तु कुछ ही दूर जाकर वे पीछे की ओर जगन्नाथ पुरी को चल दिए। कहते हैं वहाँ कहीं एकान्त में 'कसियुग' से इनकी भेंट हुई। उसने इन्हें पकड़ करने के लिए अनेक सोम दिए, परन्तु नागक ने स्पष्ट कहा 'मेरे पास सब कुछ है कुछ और नहीं चाहिए—नाहिण भी हो तो प्रभु मेरे भय-संय है इच्छा करने मात्र से डेरों मिन सकता है। तुम्हारी महानुभूति की मुझे आश्चर्यचकित नहीं। इस पर 'कसियुग' को बड़ा शोक हुआ और वह गुरु नागक को पीड़ित करना चाह कर भी व्यफल रहा और समा माँग कर भाग गया।

गुरु नागक जगन्नाथ पुरी पहुँचे। वहाँ के प्रसिद्ध मन्दिर में भी गए। आरती के समय सब लोग उठ कर खड़े हुए, परन्तु गुरु नागक बैठे-बैठे ही अपने भजन गाते रहे। सोमों ने उन्हें पावस कहकर उपेक्षा की परन्तु बाद में भयवृत्तर्चा सुनकर वे मुग्ध हो गए। वही गुरु नागक का मिनाय एक ऐसे ब्राह्मण से हुआ जो सर्वत्र भाँसे बन्द रखता था और जिसका दावा था कि वह योष बस से संसार की सब बातों का पता बता सकता है। गुरु जी ने उसकी परीक्षा के लिए उसका मोटा दिना दिया

और उसके सम्बन्ध में पूछा कि वह कहीं है। बाह्यन मोटे का पता न बता सका। इन पर गुरु नानक ने उसे समझाया कि ध्येय के माहसूरों में कोई लक्ष्योन्मुख नहीं ईश्वर का ध्यान करो बही सत्य-सिद्धि का साधन और साम्य है। पुरी से गुरु नानक पंजाब की ओर सौट पड़े।

(२) पंजाब आकर व अल्पक समय कहीं टिक नहीं। कुछ दिन पाक-रहन में रहने का कार्य भ्रम बनाया गया। बहूँ प्रसिद्ध सूची-फरीर बाबा फरीर के बयान पाक फरीर द्वितीय क नाम गुरु मत्स्य हुआ। इन पाक फरीर का उससी नाम दोष इबाहिद था। गुरु नानक इनके साथ रात-रात मर भयवशुपर्वा करने हरि-गुरु-गान होता और शान्त वातावरण में भजन-स्मरण का अनुपम आनन्द पाने। शनों महारत्ना एक दूसरे को पाकर अतीव सन्तुष्ट और प्रसन्न थे। बहूँ से सौट कर गुरु नानक ने हिमालय की तलहटी में किसी किसियर राज्य की यात्रा की। मर्कॉसिठ ने इसे हिमासय की तराई में स्थित बुगहिर रियासत कहा है।^१ माना जाता है कि यहाँ से वे किसी भद्राज-दीर की यात्रा को गए। परन्तु यह बात कुछ जचती नहीं। हिमासय की तराई में किसी द्वीप की बसना भी नहीं की जा सकती। तथापि मर्कॉसिठ ने इस यात्रा का उल्लेख किया है।^२ यहाँ से फिरे, तो गुरु नानक तलबंदी की ओर चले। अत्यधिक यात्रा करने के कारण इनका साथी मरदाना पक गया था और घर की पाल भी उसे मगाने लगी थी—इसीलिए इन्हें वापिस तलबंदी की ओर बढ़ना पड़ा था। तलबंदी के समीप पहुँच कर गुरु नानक ने सोच म चुमना उचित नहीं समझा। सोच क बाहर ही रहे ३ मील दूर एक पेड़ के नीचे गुरु नानक ने आसन बना लिया और मरदाना को उसके घर जा कर सब का बुगय-अमाचार साने को भेज दिया। उस आन बर जाने का भी आदेश दिया परन्तु भ्रमन सम्बन्ध में बर बालों ने कुछ भी कहने का निर्णय कर दिया।

मरदाना को देख कर माता कृष्णा प्रसन्नता से झूम उठी उस विश्वास था कि गुरु नानक भी अबतक भाए होंगे। पुछने पर यद्यपि मरदाना न कुछ न बताया तो भी माता सन्नेहना नए करके और साध-स्पर्शन मेकर उसके पीछे-पीछे चल पड़ी। जब वे गुरु नानक के समीप पहुँचे तो नानक ने माता को प्रणाम किया और माता प्रसन्नता के आँसू बहाने लगे। माता ने उनसे बार-बार कहा कि वे यह सन्धासी-वेप छोड़ दें और आन परिवार के साथ रहें। नए करके और साध-स्पर्शन कारण करने को भी कहा। परन्तु गुरु नानक ने यह कहते हुए इत्कार कर दिया कि सत्य नाम को पावर सब उरेंगे और किसी बस्तु की जनेगा नहीं। माता को सम्मूत देख कर

1 Macauliffe : Sikh Religion Vol. I p. 93.

2 Ibid. p. 93

गुरु मानक को याबाबेस हो भाया और उन्हीं मरणात्मा को रबाब बजाने को कहा, और स्वयं एक मुखर भजन गाने लगे । पिता कामू भी वहीं आए । उन्हीं भी गुरु मानक को घर बसने को कहा किसी व्यवसाय में लगने का अनुरोध किया पहले विवाह से यदि बलवृत्ति हो तो गया विवाह भी करवा देने का बचन दिया परन्तु गुरु मानक ने घर जाने से साफ इन्कार कर दिया । वे वहीं पेड़ के नीचे कुछ दिन खड़े, गाँव के लोगों को उपदेश दिया और वहीं से अपनी तीसरी यात्रा के लिए निकल पड़े ।

(१) गुरु मानक की तीसरी यात्रा को दो भागों में बाँटा जा सकता है—१ पंजाब के विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण और २ बलिब-भारत तथा संका की यात्रा । लखनौ से चलकर वे पंजाब के विभिन्न कस्बों विधानपुर, कंभरपुर, कभूर पट्टी बिस्पुर, गोमदबास आदि में घूमते हुए अपने बहिष्कृत-बहनोई को, मिलन सुमदानपुर गए । सुमदानपुर के लोग गुरु मानक के महत्त्व से पहले ही परिचित थे अतः उन्हीं इनका नूतन स्वागत किया । कुछ समय तक वहाँ के लोगों को उपदेश-संस्मरण देकर वे सैम्पूर की ओर बढ़े । वहाँ जाकर गुरु मानक को बलि दुःख हुआ । बाबर की विजयी सेनाओं ने वहाँ के लोगों का निर्बन्धनापूर्वक बंध कर दिया या घरों को लूटा-जसाया या औरतों को अपमानित किया या शेष सबका वही बना लिया था । लालो भी पकड़ा गया था । स्वयं गुरु मानक और उनके छात्रियों को सिपाहियों ने बेमार के लिए पकड़ लिया । बीस साय कर बसने को कहा गया । गुरु मानक शान्तिपूर्वक चल पड़े । जनधृति है कि बीस मानक के घिर पर हवा में उँरता हुआ जा रहा था जिसे देखकर सिपाहियों को अचम्भा हुआ । समाचार बाबर को पहुँचाया गया जिस पर उगने मानक को 'बन्साह का बन्धा' समझकर मुक्त कर दिया । गुरु मानक से कुछ माँगने को कहा गया—तब उसने सैम्पूर के सभी कँठियों को मुक्त कर देने का अनुरोध किया । बाबर ने स्वीकार किया और सैम्पूर पुनः बच गया । गुरु मानक ने बाबर को प्रभु की एतदा और ध्यान का श्रेष्ठ नुमाया तथा उसके बंध को भारत पर राज्य करने का आशीर्वाद भी दिया । वे कुछ दिन सैम्पूर में ही रहे लालो की कूटिया में ही संसंग होता रहा । बदन-नमरण से लोगों के दुःखियों को कुछ शान्ति मिली तब गुरु मानक पसर होते हुए सियासकोट पहुँचे और वहाँ एक गाँव में एक सुधी महारत्ना मियाँ मिटा से नूतन भगवद्-बर्षा और संसंग हुआ ।

यहाँ से राबी के किनारे किनारे गुरु मानक साहौर पहुँचे । वहाँ बुकीबख नाम के एक करोड़गति का आधिपत्य इन्होंने स्वीकार किया । उसके पिता के भाउ के बचन पर इन्होंने ऐसे कर्मकाण्डों के विरुद्ध उपदेश दिया । 'यन न स्वयं परसोक तक धाय देता है न किसी को वहाँ पहुँचा सजना है । कर्म-कारण मनुष्य के बन्धन का कारण है अतः मानव-भूति में बाधक होता है । इससे बचना चाहिए । गुरु मानक

के ऐसे उपदेशों का बुनीक्षण पर बुरा प्रभाव पड़ा और उसने अपनी सम्पत्ति भसे बर्षों में खाल करदी और स्वयं गुरु नानक का सिष्य बनकर मादा जीवन बितान लगा। वहाँ से गुरु नानक राबी के किनारे बस करतारपुर में आ गए, और कुछ देर वहीं रहने का निश्चय किया। अब तक गुरु नानक क अनेक सिष्य बन चुके थे। अब उन्होंने करतारपुर में ही एक साधारण से आश्रम में अपना स्थिर-जीवन आरम्भ कर दिया। माता-पिता पत्नी बच्चों को भी वहीं बुसा लिया ताकि उन्हें भी कुछ संतोष मिल सके। आश्रम में प्रतिदिन प्रातःकाल 'अपुबी' और 'भासा की कार' का पाठ होता। बान में अनेक भजनों का गान होता। स्वयं गुरु नानक पावे मर्दाना खास बजाता। साय-साय उपदेश और प्रमु-ध्यान भी पसना। गुरु नानक अब मसन माते तो प्रतिदिन एक मास बर्षीस बासक उन्हें मुनन को भा लदा होता। एक दिन गुरु नानक ने उसस कारण पूछा। उसन बताया कि एक दिन उमने जलनी हुई मास मे देखा कि छोटी टहणियाँ पहले जलती हैं और मागी सफ़ाईयों की बाटी बाद में आती है। इसउ उचको यह भय हो गया है कि मम्मबत मौन भी छागों को पहले आती है और बहों को बाद में। इसीस बह मनन-कीर्तन मुनने आता है। गुरु नानक बासक के मुँह से यह गम्भीर उत्तर सुनकर उसे बुद्धा ही पुकारन ससे। निख इतिहास में इस बुद्धा ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। छठे गुं तक गुरु पही के पुढोहित का काम इमौ बाबा बुद्धा ने सम्नाला। स्वयं १०७ बर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई। इसी प्रकार करतारपुर में आश्रम-जीवन स्थीन करन हुए, गुरु नानक ने इन याबा के दूसरे भाग का पून करने का निश्चय लिया। इस बार वे सदा और निमो नामक भाटों को साथ लेकर भारत के दक्षिण (दक्षिण-अरेब) के परिभ्रमण को निकल पड़े।

करतारपुर से चलकर वे सीब दक्षिण-अरेब में पहुँचे। वहाँ पुमसे-करने उपदेश देते हुए वे मद्रास की बम्बलाह पर पहुँचे। वहाँ के लोगों को प्रबचन प्रमास बिचारण कर निहास किया और स्वयं वहाँ से लौका हाग निमो अज्ञान डीन को बस दिए, वहाँ से होते हुए वे लंका पहुँच। लंका के राजा शिवनाम को उपदेश दिया। कहते हैं उसका बीरान बाम गुरु नानक के पदापाठ-मात्र में ही पुन हरा मरा हो गया था।

(४) लंका से लौटने के साय ही गुरु नानक की चौथी-याबा आरम्भ हुई। लंका में वे सीबे पंजाब के कच्चे अजस-बटाजा में आए। वहाँ सिखरायी के मेने पर गुरु नानक ने अनेक योगियों से मन्त्रय किया। कुछ दिन वहीं रहन हुए वे बटाजा होकर बाग्मीर की ओर बस पड़े। धीनपर तक जाने की बाधायें उनकी जन्म-आगियों में उभरन्य हैं। बाग्मीर में राजा और प्रजा दातों को उनका सम्मग प्राण करन का सौभाग्य मिला। वहाँ से गुरु नानक योगियों क प्रसिद्ध कश्च मुमेर-बहन की ओर बढ़े। लोटी तक पहुँचे। वहाँ अनेक यागियों से उनकी मुलाकात हुई। योगियों ने गुरु नानक को

साबर आमंत्रित किया और कई दिन तक परस्पर तर्क भगवत् चर्चा और सत्संग होता रहा। वहीं गुरु नानक ने सिख-योगियों को सत्यनाम का रहस्य समझाया और उनसे भेष की अपेक्षा वास्तविकता प्राप्त करने का अनुरोध किया। योगियों द्वारा प्रारण किए जाने वाले प्रतीकों का दयाव और कुछ वर्ष भी उन्हें समझाया। इन सब उपदेशों और बातों को गुरु नानक ने बाद में करतारपुर में श्री गुताया और आज भी वे अनेक पर्वों में बैठे 'सिख-गोष्ठी' के नाम से गुरु ग्रंथ साहिब में संवृहीत हैं।

(३) सुमेरु पर्वत से गुरु नानक सीधे पंजाब सीटे और वहीं से भारत के पश्चिमोत्तर भाग की ओर से अपनी अन्तिम और प्रसिद्धतम यात्रा का शीपनेत्र किया। सबसे पहले वे पाकपट्टन गए और शेर फरीद से सत्संग करने के बाद इसल बख्शान पहुँचे। यह स्थान मुसलमानों का धार्मिक केन्द्र माना जाता था। वहीं गुरु नानक ने पंजाब भाषा वहीं पहाड़ी पर एक अभिमानी फकीर बन्नी कन्वारी (बाबा बन्नी) रहता था। गुरु नानक ने मर्दाना को उससे पानी देने को भेजा। उसके अधिकार में पानी का एक छोटा कूच था परन्तु क्योंकि मर्दाना ने गुरु नानक की प्रवृत्ति की थी तो उसके लिए अछूत हो गई, उसने पानी देने से साफ़ इन्कार कर दिया। यह भी कहा कि नानक यदि इतना ही बड़ा गृहस्था है तो पानी का प्रबन्ध स्वयं क्यों नहीं कर लेता? इस पर कहते हैं, गुरु नानक ने कूच के नीचे के भाग में छेद कर लिया जिससे पानी वेग से बहने लगा। बन्नी कन्वारी के क्रोध का पाठबार न था उसने रोप में जाकर पहाड़ी के ऊपरी भाग से एक बहुत बड़ा पत्थर वहीं गुरुका दिया वहीं नीचे गुरु नानक बैठे थे। जीवन-साक्षियों में यह कथा इस प्रकार माने बढ़ती है कि जब वह भयाङ्क पत्थर गुरु नानक को चोट करने ही वाला था तब गुरु साहिब ने अपने दाहिने हाथ के पंजे से उसे रोक लिया। पत्थर वहीं का वहीं रुक गया और उस पर पाँचों अंगुलियों और हथेली का बहुरा चिह्न लप गया। इस स्मारक-चिह्न के स्थान पर आज एक बहुत बड़ा गुफारा है जिसे 'पंजा साहिब' कहते हैं। भारत विभाजन के बाद यह स्थान पाकिस्तान में चला गया है।

इसल-अन्धकार में साम्प्रदायिकता और हिन्दू-मुस्लिम विरोधों के विपरीत में उपदेश देते हुए गुरु नानक पंजाब के मार्ग मुसलमानों के प्रसिद्धतम तीर्थ मक्का पहुँचे।

१ ऐतिहासिक विमर्श ने इस यात्रा को अतिशयोक्ति कहा है यद्यपि पुरानी जीवन घासी ने इसे ठीक ही माना है।

It is related that he (Nanak) travelled to Kashmere and even made a pilgrimage to Mucca like an Orthodox Musalman The latter account must have an exaggeration and merely shows how far his followers thought him capable of going in his leaning towards mohammadanism.

—Fraderic Pincott : Religions of the world p, 301

वहीं उन्होंने ईश्वर की सर्व-व्यापकता तथा एकता की आवाज उठाई। हज़र के लिए आए हुए अनेक सूफ़ियों फ़कीरों बनियों तथा महारथाओं का सत्संग भी इन्हें वहाँ प्राप्त हुआ। मक्का की एक बटना अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसमें इनके जीवन में मुसलमानों द्वारा भी इन्हें महत् आश्रय का पत्र बिसबा दिया। एक दिन मक्का-सरीफ की ओर पर किए गुरु नानक एक बहूतरे पर सेटे हुए थे कि एक (काजी गरीफ़ीन) हाजी न देखा। इसमें मक्का-सरीफ का अपमान ब्याप्त करके वह बड़े क्रोध से नानक को झंझोड़ कर पगाने लगा और बोला 'क्या अंधे हो जो खुदा के घर की तरफ पर किए सेते हा तुम्हें यह बेहुरमती करने का हीगमा करते तुम्हा ? गुरु नानक ने सान्तिपूर्वक सेटे सेटे ही कहा 'मई खुदा का घर कहीं नहीं ? वह तो सब जगह है यदि तुम समझते हो कि वह किसी बिरोध तरफ नहीं तो तुम मेरे पर बुमाकर कहीं भी कर दो।' यह उत्तर सुनकर वह क्रोधी हाजी स्तम्भित रह गया। इस बात की महान सरपदा उसकी समझ में आ गई, और वह चुपचाप वहाँ से चला गया।

मक्का से गुरु नानक सरीफ गए, और वहाँ से बमशद होकर लौट पड़े। मार्ग में कुछ दिनों के लिए मुसतान भी रके और सामु-संगत तथा भजन-स्मरण करते हुए, अन्ततः कापिस करतारपुर पहुँचे। रात्री के दिनारे यह रमणीक स्थान उन्हें जीवन के सेप दिन भजन-कीर्तन में काट देने को बड़ा उचित लखा। और अब उन्होंने यात्रियों का बेज उतार कर सादा घरेलू जीवन ब्यतीत करना आरम्भ कर दिया। १५२१ से सन् १५२६ तक का उला यह करतारपुर निवास आधम-जीवन या जिसमें वे बृहस्नी-सत की भाँति रहते और नित्य प्रति सत्संग भजन कीर्तन और हरिगुन-भाज करते रहे।

आधम-जीवन

गुरु नानक अपने जीवन काल के अन्तिम तपस्य १६१७ वर्ष रावी नदी के दिनारे गए बसाए इस करतारपुर गाँव में रहे। उनके एक अमीर शिष्य ने वहाँ एा बड़ा मुरझारा बनवा दिया था। नित्य प्रति वहाँ हजारों शिष्यगण इरदूठे होने थे। प्राण-काल मुह-संधरे में ही जपुजी का मधुर पाठ आरम्भ होता था बाद में आगा की बार पड़ी जाती, और फिर गुरु नानक स्वयं उपदेस करते थे। भजन-स्मरण-कीर्तन भी होता और संगत आनन्द में आकर झूम उठती। बाम्पन में जपुजी एवं आगा की बार भी रचना भी वहीं सन् १५२२ के बाद जब मरदाना की मृत्पु हो चुरी थी और उसका पुत्र अपन पिता का स्थान से चुका था की गई। मरदाना की उपरिपति से मुक्त पदों और भास की बार की रचना ही बिरोध उन्मेगनीय है। प्राण काल के सम्पुन कायं क्रम के पश्चात् सब शिष्यगण इरदूठे एक ही परिवार की तरह गुरु के सम्पुन बैठ खाना पाड। संध्या को श्री 'रहितराम का पाठ करने क बार सब इरदूठे खाना खाने। रात को सोने से पूर्व 'मोहिना' का पाठ होता।

सन् १९३१ में गुरु नानक ने बारह-मासा भिक्षा जिसमें आत्मा-परमात्मा के मिलने की व्यापारिक झांकी प्रस्तुत की गई है। सन् १९३२ में भाई सहजा नाम का एक व्यक्ति जो कि दुर्गा का परम भक्त या गुरु नानक का निप्य बन गया। उसकी गुरु-सेवा और प्रभु भक्ति इतनी जटिल और असुपय थी कि अन्तिय समय गुरु नानक ने उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाना उचित समझा। १९३९ के आरम्भ में ही गुरु नानक एक बार फिर शिबरात्री के मेले पर अचानक-बटाया गए। वहीं उन्होंने वह प्रसिद्ध 'सिद्ध-मोष्टी' सिद्धी जिसका बचन हम ऊपर चौबी-यात्रा में कर आए हैं।

अपने आध्यात्म-जीवन के दिनों में गुरु नानक ने अपने सभी निकट सम्बन्धियों को अपने पास रहने की अनुमति दे दी। उनके पुत्र मीचन्द और लखतमीचन्द भी वहीं रहने लगे। परन्तु उन्हें गुरु नानक की सहजा पर विशेष कृपा पमन्द न थी। वे नहीं चाहते थे कि उनके पिता के महान सम्मान का पात्र कोई और बने। परन्तु जो प्रभु को मंत्रु बा बही तो होने वाला था।

उत्तराधिकारी की नियुक्ति एवं ज्योति-स्रोत समाना

ज्यों-ज्यों गुरु नानक का अन्तिम समय समीप आ रहा था उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने की चिन्ता थी। वे जानते थे कि उनके दोनों पुत्र इस महान उत्तरादायित्व को संभालने के योग्य नहीं। सिप्य-मन्त्रही में अनेक अन्धे और व्यापारिक रवाई-माष्ट सिप्य थे परन्तु उनमें उनकी दृष्टि भाई सहजा पर थी जोकि अधिक बख्शदर और सत्युच्य को पहचानने वाला दिखाई देता था। तथापि लोगों का बचाने के लिए, अनशुद्धि है कि उन्होंने सब की परीक्षा की। गुरु-भक्ति की गहराई मापने के लिए उन्होंने एक दिन रात्री रात के समय अपने पुत्रों और सहजा की उपस्थिति में बड़ा देखा कसा प्रस्तर सूर्य चडा है। बाबो मरी पर मेरे बपड़े भी सामो। इस पर दोनों पुत्र बिचड़ देठे और समझन लगे कि उनका दिमाग जल गया है। परन्तु सच्चा गुरु भक्त सहजा उसी समय सत्य-जल बह कर जल पड़ा। बहते हैं उसके लिए सचमुच रात्री प्रस्तर दिन में बदल गई। एक ओर ऐसी ही घटना घटी। एक दिन गुरु नानक जंगल में गए। जंगल में एक साथ भिती मुठ भानक बोले इसे खाओ। इस पर बेटे तो रण हो गए, परन्तु सहजा गुरु-आत्मा का पासन करने की तैयार, फौल आगे बढ़कर गाने लगा। बहने हैं उसके बफन के बपड़े के नीचे हनुबा और मिठाईवाँ निबन्धी। ऐसी घटनाओं से गुरु नानक को निश्चय हो गया कि भाई सहजा ही उनका वास्तविक उत्तराधिकारी होने योग्य था। अतः असूच बरी १०/९, संवत् १९२९ तक मुझार २ सिठम्बर, १९३९ की एक प्राठ उन्होंने अपने सब सिप्यों को इकट्ठा किया, और बाबा बुहा की पुरोहिदाई में भाई सहजा को बिबिबन् उत्तराधिकारी-गुरु घोषित कर दिया। गुरु नानक ने पाँच पैस और नाण्यसक भाई सहजा की झोपी में डाल कर

स्वयं उन्हें प्रणाम किया और तब सब पिप्यों ने भी उन्हें प्रणाम कर उनकी गुरुमाई स्वीकार कर ली। गुरु नानक ने उसे अपना ही रूप कहा और अपने में से बना होने के कारण गुरु अमर नाम दिया। (इस अवसर पर यदि कोई नाराज या ठो नानक के दोनों पुत्र। बड़े ने ठो बाद में अपना जुदा सम्प्रदाय ही बना लिया) गुरु-गद्दी का यह उत्सव पाँच दिन तक मनाया गया। नूब हरि-नाम पान पाठ संकीर्तन और भजन-उपदेश होता रहा। अन्तिम दिन ७ सितम्बर को गुरु नानक नदी के पार बस पर और वहाँ एक पेड़ के नीचे बैठ कर उन्होंने 'घोहिला' का पाठ किया अजूबी का अन्तिम स्तोत्र पढ़ा और तब चुपचाप बाह्यगुरु का नाम सेठे हुए चारर ओड़सो। उनकी ज्योति बाह्यगुरु में समा चुकी थी। अगले दिन प्रातः गुरु नानक के शरीर का पाह संस्कार वहाँ कर लिया गया। स्मारक रूप में हिन्दुओं ने वहाँ उनकी समाधि और मुठलमानों ने बर बनाई। परन्तु कुछ ही समय बाद राबी नदी ने धीड़ा रुक बरस कर उन दोनों स्मारकों को सदा के लिए धो खाता। शायद इसलिये कि समाधि पूजा का रिवाज न फल सके।^१

रचनाएँ और उपदेश

गुरु नानक साहिब प्रायः भाषाबद्ध में पद्य बनाते और गान रहने थे। विशेषता यह थी कि वे सब पर निम्न प्रकार की राग रागिनियों के संवीक मिश्रान्तों की सीमाओं में बने होते थे अटनस रचना कोई न थी। ऐसे सभी पद्य गुरु ग्रंथ साहिब नामक संग्रहण में संगृहीत हैं। उनमें न भी विशेष अनुबद्ध है जिसका पाठ प्रातःकाल स्नानोपरांत किया जाता है। इनमें एक पठकोई है और अन्त में एक श्लोक। अपने ज्ञान में रहस्यवादी कविता का यह सुन्दर नमूना है। गुरु नानक की रचनाओं में कुछ बार्शों की विशेष महत्त्व दिया जाता है जिनमें आमा की बार, मास की बार बार्श। बारह माहा की रहस्यवादी शैली में आन्धा-परमात्मा के सम्बन्धों पर अद्भुत रचना है। सिद्ध योत्नी में पचाप-योग पर प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्णग्रंथ साहिब में यह पाग अपना प्रतिशब्दी नहीं रचना। नूर्याल के समय पढ़ने की रचना 'रहिराम तथा मोते समय पाठ करने का 'साहिबा गुरु नानक की विशेष रचनाएँ हैं। इन सब रचनाओं में ब्रह्म गुरु माया जीव भावनाजान ज्ञान और हृदय शरीरके विषयों पर प्रकाश डाला गया है। उन्हीं विषयों का स्वल्प हमने इस प्रकरण में स्पष्ट की दिया है।

गुरु नानक के उपदेशों में तत्कालीन परिस्थिति में साम्प्रदायिकता की शीघ्र दोषात्त की सीधात छोड़ कर एक प्रगतिगत धृतिना निरूपण एक आमा सत्ताती की। नार रूप में उनका उपदेश और मिश्रान्त इस प्रकार प—

१. यैर्वादिष्ट के लेना ही सिद्ध है और इनके पक्षधर न उन स्वीकार करन बने हा मध्य दिया है। विचार उपरुक्त और उचित है।

१ एक ईश्वर की सत्यता में विश्वास और उसके हुक्म के सम्युक्त नतम स्तक होगा ।

२ जहाँहि हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप में परम-सत्य परमात्मा की उपासना के लिए पुकारा और बताया कि उसमें विश्वास उसकी कृपा तथा सहायता सब आवश्यक हैं ।

३ गुरु नामक ने भारत की परम्परा-शास्त्रिकता को लोक-प्रिय बनाया और परिस्थिति के सन्धि में हासकर नवीन रूप प्रदान किया ।

४ गुरु नामक ने मुहम्मद साहिब और हिन्दू ब्रह्मचारों दोनों को पट्टा की दृष्टि से देखा ।

५ बाहु, टोमों कर्म-काण्ड एवं आडम्बर का विरोध किया और हिन्दुओं और मुसलमानों में समन्वय प्रस्तुत किया । जल-बार का ग्याम नियेष ठहूँपा ।

६ गुरु नामक ने अपने शिष्यों को सामाजिक दुराहियों से बचने का आदेश दिया तथापि उनके सुचारु मुक्यत सामाजिक न होकर आध्यात्मिक और नैतिक ही थे ।

७ गुरु नामक न अपने शिष्यों का कोई नया समाज या सम्प्रदाय बना नहीं किया ।

८ गुरु-कृपा से मन का संयम एवं मन के संयम से नाम-स्मरण में विल लयना की यथार्थता प्रस्तुत की गई ।

९ नाम-स्मरण तथा हुक्म-गानन ही गुरु नामक न मुक्ति का एक-मात्र साधन माना ।

सहायक पुस्तक-सूची हिन्दी-संस्कृत

क्रम	नाम	लेखक
१	श्री युव धंय छाहिष	प्रकाशक जि गु० प्र० कमेटी अगस्त १९५१ संस्करण
२	श्रुम्बेद-संहिताएँ	—
३	मुष्टकोपनिषद्	
४	बठोपनिषद्	
५	छाम्बोम्योपनिषद्	
६	योप-सूत्र	पाठबसि
७	श्रीमद्भगवद्गीता	प्र० गीता प्रैस
८	नापबद्रुपाना	"
९	महाभारत	
१०	शाण्डिल्य-सूत्र	
११	भक्ति और वैराग्य	स्वामी विवेकानन्द
१२	ज्ञान योप	
१३	कर्मयोग	
१४	भक्तियोग	
१५	भारतीय ईश्वरपान	पाण्डय रामावठार भार्ग
१६	गीता में भक्तियोग	बिपागी हरि
१७	उत्तरी भारत की मंत्र-परम्परा	श्री परगुराम अनुबेदी
१८	गूड़ी वाच्य मंत्र	"
१९	दिल्लुबों का जीवन-दर्शन	म० राधाकृष्णन
२०	भक्ति का विकास	डॉ० मु गीराम शर्मा

२१	बेबान्त-वर्त्म	प्र० गीता प्रैव
२२	वर्त्म-विद्यवर्त्म	राहुल सांकृत्यायन
२३	भारत की अन्तरात्मा	स० राधाकृष्णन
२४	सुदमन-वर्त्म	ठा० बेयराज
२५	भारत का धार्मिक इतिहास	श्री विश्व शंकर मिश्र
२६	सूफीमत धारणा और साहित्य	श्री रामपूजन तिवारी
२७	संत-काव्य संग्रह	श्री परमुराम बतुबेबी
२८	स्वामी रामकृष्ण बचनसमूह (प्रथम द्वितीय और तृतीय भाग)	अनुबावक निरामा
२९	गुरु प्रथम वर्त्म	डॉ० जयराम मिश्र
३०	संत-साहित्य	डॉ० सुदर्शनसिंह मन्नीठिया ।
३१	हिन्दी काव्य में रहस्यारमक-प्रकृतियाँ	डॉ० ज्ञानमोहन मुन्त
३२	हिन्दी साहित्य का इतिहास	श्री रामचन्द्र सुक्ल
३३	महाराष्ट्रीय संतों की हिन्दी को देन	डॉ० जितय मोहन नर्या
३४	कबीर का रहस्यवाद	डॉ० रामकुमार बर्मा
३५	मध्यकालीन धर्म-साधना	जा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
३६	रामचरितमाला	तुमसी
३७	तर्जुमा कुरान शरीफ	श्री मन्दकुमार जयस्वी
३८	तर्जुमा कुरान शरीफ	श्री महमद बशीर
३९	भारतीय-वर्त्म	बट्टोपाध्याय और इला
४०	भारतीय-वर्त्म	श्री बसन्त उपाध्याय
४१	भारतीय-वर्त्म	श्री जमेल मिश्र
४२	सच्ची धीरता (सिध)	छरदार पूर्वसिंह
४३	धडा भक्ति (सिख)	श्री रामचन्द्र सुक्ल
४४	परीबदास की वाणी	संत काव्य संग्रह
४५	पसदू साहित्य की वाणी	"
४६	भीखा साहित्य की वाणी	"
४७	सहभा बाई की वाणी	"
४८	कबीर की साधी और बीजक	
४९	कुतुब	श्री मैथिलीरत्न गुप्त
५०	पर	सुधी महादेवी बर्मा
५१	कल्याण (पत्रिका) साप्ताहिक	
५२	साहित्य-संवेदन (पत्रिका) संत-साहित्य विशेषांक	

- ११ उत्सवेषु (पत्रिका, बेहसी) १९५७
 १८ २९ की वार्षिक फाइलें ।
 —उपरोक्त विनकी फूटकस
 भावस्मयता पढ़ती रही ।

(पंजाबी)

- | | | |
|----|-----------------------------------|------------------------|
| १ | श्री गुरुवाणी प्रकाश (भाग १ और २) | मि० गु० प्र० कमेटी । |
| २ | गुरु नामक चमत्कार | भाई बीरसिंह |
| ३ | संत-वाचा | " |
| ४ | ठगरीख गुरु नामसा | शानी भासासिंह |
| ५ | गुरुमत फिलॉसफी | शानी प्रतापसिंह |
| ६ | गुरुमत अध्यात्म कम्प्यू फिलॉसफी | भाई रणवीरसिंह |
| ७ | परम ते मवाचार | प्रो० साहिबसिंह |
| ८ | पुराण मनुष्य | भाई गंगासिंह |
| ९ | गुरु ग्रंथ सिद्धांत संग्रह | शानी नामसिंह |
| १० | गुरुमत सिद्धांत | सं० बाबा मावर्वासिंहजी |
| ११ | भक्तान्त-उत्सव | गुरु गोबिन्दसिंह |
| १२ | गुरुपति वाणी रस्ता (भाग १ और २) | भाई बीरसिंह मजीठिया |
| १३ | गुरुमत सुभाकर | भाई काहलसिंह |
| १४ | गुरुमत प्रभाकर | |
| १५ | गुरुमत निरवय | भाई ज्योतसिंहजी |
| १६ | सहर्षी | बुस्तेहाह |
| १७ | वार्त | भाई गुरदास |

(अंग्रेजी)

- | | | |
|---|---|--|
| 1 | Encyclopedia Britanica Vol XI | |
| 2 | Encyclopedia of Religion & Ethics Vol VI & IX | |
| 3 | The Cultural Heritage of India Vol I II & III | Ed R. N. Centenary Committee |
| 4 | Religion and Society | Dr S. Radhakrishnan
(Kamala Lect. Series) |
| 5 | The Essential Unity of all Religions | Bhagwan Dass |

6	Philosophy of Religions	Prof Galloway
7	A Critical Examination of Philosophy of Religions (Vol I)	Sadhu Shantu Nath
8	Philosophy of Religion (Vol I)	Hegal
9	Recovery of Faith	Dr S Radhakrishnan
10	An Outline of the religious literature of India	J N Farquhar
11	Religious Sects of Hindus	H. H. Willson
12.	Sikh Religion Vol I	Macauliffe
13	Religious Systems of the World	Frederic Pincott
14	Hinduism	S Nikhilanand
15	Theism in Medieval India	Carpenter
16	Problems of Philosophy	S C Chatterjee
17	Advait Philosophy	K Shastri
18	Gita Rahasya	B G Tilak
19	An intelligent man's guide to Philosophy	M C. Pandey
20	Indian Philosophy Vol I & II	S Radhakrishnan
21	Indian Philosophy	C. D Sharma
22.	Philosophy of Sikhs	Dr Sher Singh
23	The Cult of Bhakti	Dr Jadunath Sinha
24	The Path of Masters	Julian Johnson
25	Essays on Gita	Aurbindo
26	Mysticism in Bhagvadgita	Mahendrnath Sirkar
27	Japji (Commentry by)	Sant Kirpal Singh
28	An Introduction to Yoga	Annie Besant
29	Raj Yoga	Swami Vivekanand
30	Evolution of Gita	Kumudranjan Ray
31	The Gospel of Guru Granth Sahib	Duncan Greenless
32	The Nirguna School of Hindi Poetry	P D Barathwal

38	Sikhism	Principal Teja Singh
34	History & Philosophy of Sikh Religion	Khazan Singh
35	Some Studies in Sikhism	Bhai Jodh Singh
36	Essays on Sikhism	Teja Singh
37	The Divine Name and its practice	Gita Press
38	Doctrine of Maya	Prabhu Dutt
39	Yoga of the Saints	V H. Datta,
40	Jivatma and the Brahmsutras	Abhay Kumar Guha
41	Idealistic thought of India	P T Raju
42	The Holy Bible	
43	The Emerson's Essays	
44	Cunningham's History of Sikhs	Ed. Garrett
45	History of the Panjab	S M. Latif
46	History of Muslim Rule in India	Ishwari Prasad

